ISSN- 2347-6648

# हिंदी विभाग
# पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

भारतीय साहित्य विशेषांक

# परिशोध

संस्थापक संपादक - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

अंक 64 वर्ष 2019-2020

मुख्य संपादक
नीरजा सूद

संपादक
गुरमीत सिंह

## परामर्श मंडल

- **प्रोफेसर चमन लाल गुप्त**
  उपाध्यक्ष, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
- **प्रोफेसर संतोष कुमारी शर्मा**
  पूर्व अध्यक्ष, पत्राचार विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
- **प्रोफेसर सुधा जितेन्द्र**
  अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

**मुख्य संपादक**

प्रोफेसर नीरजा सूद
हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

**संपादक**

डॉ. गुरमीत सिंह
अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

**संपादक मंडल**

प्रोफेसर सत्यपाल सहगल
हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

प्रोफेसर बैजनाथ प्रसाद
हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

प्रोफेसर अशोक कुमार
हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

पत्रिका के लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं।
उनसे संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है।



**कार्यालय**
हिंदी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
आर्ट्स ब्लॉक –2, सेक्टर–14, चंडीगढ़–160014
दूरभाष 0172–2534616
ईमेलः editor.parishodhpu@gmail.com
वेबसाइटः www.parishodhpu.in

# परिशोध

ISSN-2347-6648

अंक 64, वर्ष 2019–2020 (भारतीय साहित्य विशेषांक)

संस्थापक संपादक–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

यू.जी.सी. प्रमाणित पत्रिका सूची (केयर लिस्ट 2019) में शामिल

हिंदी विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय

चण्डीगढ़

मुख्य संपादक
नीरजा सूद

संपादक
गुरमीत सिंह

# मुख्य सम्पादक की ओर से

"यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के समग्र वाङ्मय का संचयन किया जाए तो किसी भी दृष्टि से यूरोपीय साहित्य से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य का समावेश करने पर इसका अनंत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर सकता है।"

(डॉ० नगेन्द्र / भारतीय साहित्य)

मानव जीवन एवं साहित्यिक विरासत का रिश्ता सचमुच अद्वितीय होता है। अपनी समझ, परख और विकास के लिए दोनों अन्योन्याश्रित है। साहित्यकार का यह दायित्व है कि वह अपने अन्तर्द्वन्द्व एवं अनुभव से समाज को एक नयी दृष्टि प्रदान करे। समय–समय पर प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएँ साहित्य लेखन के महायज्ञ में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

विश्व साहित्य परम्परा के बृहद मंच पर भारतीय साहित्य अपनी क्षेत्रीय विविधता के बहुरंगी एवम् बहुआयामी अन्तस का संस्पर्श करता हुआ एक ऐसी दीर्घकालीन साहित्यिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो विषय की दृष्टि से जितनी परिपूर्ण है अभिव्यक्ति की दृष्टि से उतनी ही संपुष्ट। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक भाषा में रचित साहित्य का वैशिष्ट्य प्रदेश विशेष की गंध एवं पहचान को धरोहर के रूप में संजोता हुआ भिन्न एवं स्वतंत्र होते हुए भी अभिन्न एवं अविभाज्य होता है।

मेरा यह सौभाग्य है कि पंजाब विश्वविद्यालय के हिंदी–विभाग की शोध पत्रिका 'परिशोध' में मुख्य संपादक की भूमिका का निर्वाह करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। परिशोध की यह गौरवमयी परम्परा शोध के निरंतर नए–नए गवाक्ष खोलती रही है। अपने विभाग की एकता, कर्मठता एवं दूरदर्शिता के प्रति मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ। विभागाध्यक्ष डॉ० गुरमीत सिंह एवं सम्पादक मंडल के प्रयास द्वारा 22 भाषाओं से समृद्ध भारतीय साहित्य को एक नवीन कलेवर में प्रस्तुत करने का यह प्रयास निश्चित रूप से स्तुत्य है। इनके सफल निर्देशन में शोध की मांगलिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए परिशोध का नवीन अंग प्रकाशित हो रहा है इसलिए मैं साधुवाद देती हूँ।

**नीरजा सूद**

# संपादकीय

'हरेक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा सम्पूर्ण रूप से आनी चाहिए और भारत की अन्य भारतीय भाषाओं के महान साहित्य को हिंदी के माध्यम से जानना चाहिए और अपने अनुभव से मैं आपको बता सकता हूँ कि दूसरी भारतीय भाषाओं को सीखना जरा भी मुश्किल काम नहीं है'। – महात्मा गांधी

महात्मा गांधी द्वारा कही गई इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने परिशोध का यह अंक भारतीय़ भाषाओं की कृतियों और लेखकों पर केंद्रित किया है और इस अंक में एक को छोड़कर अन्य सभी आलेख विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित कृतियों पर आधारित हैं। महात्मा गांधी की 150 वीं जयंती के अवसर पर हमने परिशोध का यह अंक उन्हें ही समर्पित किया है। अंक के अंतिम आलेख में महात्मा गांधी को श्रद्धांजलि के रूप में उनके मातृभाषा विषयक विचारों का विश्लेषण किया गया है।

हमने अपने विभाग में भी पिछले कुछ वर्षों में भारतीय़ भाषाओं से हिंदी में अनूदित साहित्य़ पर शोध कार्य को बढ़ावा देने की कोशिश की है। हमारे कई शोधार्थी भारतीय साहित्य़ पर केंद्रित अपने शोध कार्य को सम्पन्न करके सफलता से पी.एचडी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं और कई अन्य वर्तमान में इस तरह के विषयों पर शोध कर भी रहे हैं। एम.ए. चतुर्थ सेमेस्टर में भी भारतीय साहित्य को अनिवार्य प्रश्नपत्र के पाठ्यक्रम के माध्यम से विद्यार्थियों का परिचय सात अलग अलग भाषाओं के साहित्य से होता है। मेरा यह मानना है कि हम हिंदी भाषी और हिंदी प्रेमी लोगों का यह दायित्व है कि वे एक कदम आगे बढ़कर अन्य भारतीय भाषाओं से दोस्ती करें, उन्हें सम्मान दे। इसके लिए सबसे सुगम रास्ता विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य को अनुवाद के माध्यम से पढ़ना–पढ़ाना ही है। उन भाषाओं को सीखने की कोशिश इसका अगला कदम हो सकता है।

हिंदी में अनूदित साहित्य पर केंद्रित इस अंक में विविध विषयों पर कुल 30 शोध आलेख शामिल हैं और मुझे बहुत प्रसन्नता है कि इन आलेखों के माध्यम से नौ भारतीय भाषाओं को इस अंक में प्रतिनिधित्व मिला है। इन आलेखों में सबसे अधिक बांग्ला और मराठी के छह–छह, पंजाबी के पांच, संस्कृत के तीन, तमिल, कन्नड़, मलायलम और उर्दू के दो–दो तथा तेलगू का एक आलेख शामिल है। इनमें प्रो. चमन लाल गुप्त के आलेख में तमिल साहित्यकार भारतीदासन के नाटकों में सामाजिक समस्यायों पर प्रकाश डाला गया है। प्रो. सत्यपाल सहगल के आलेख में लाल सिंह दिल की कविताओं में व्यक्त स्त्री यथार्थ को दर्शाया गया है। प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव का आलेख कन्नड़ कहानी 'लड़की जिसकी मैंने हत्या की' के संदर्भ में है, जिसमें अंधविश्वास के अंधेरे में समा गई मनुष्यता के पुनः संधान की कहानी है। प्रो.

नीरू का आलेख सुष्मिता वंद्योपाध्याय द्वारा विरचित 'काबुलीवाले की बंगाली बीवी' के संदर्भ में स्त्री के संघर्ष की कहानी है। डॉ. धनंजय चोपड़ा का आलेख उर्दू कहानीकार कुर्रतुल ऐन हैदर पर आधारित है। डॉ. कल्पना शर्मा का आलेख प्रसिद्ध साहित्यकार यू. आर. अनंतमूर्ति के उपन्यास 'संस्कार' पर आधारित है। डॉ. पंकज श्रीवास्तव के आलेख में इस्मत चुगताई की कहानियों का दार्शनिक विवेचन किया गया है। इन पंक्तियों के लेखक ने अपने आलेख में पंजाब विश्वविद्यालय के रंगमंच विभाग की पहचान रहे बलवंत गार्गी के नाटकों के माध्यम से स्त्री अस्मिता पर चर्चा की है। डॉ. राजेन्द्र कुमार सेन का आलेख 'भूदेवता' उपन्यास पर आधारित है जो तेलगू साहित्य में कृषक जीवन का जीवंत दस्तावेज है। डॉ. राज कुमार उपाध्याय मणि का आलेख महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मेघदूत' पर आधारित है। डॉ. मंजु पुरी का आलेख मराठी कवि तुकाराम की भक्ति भावना पर आधारित है, डॉ. सुनीता शर्मा का आलेख 'मछुआरे' उपन्यास में मूल्य– बोध की बात करता है। डॉ. कंचन ने अपने आलेख में मित्तर सेन मीत के उपन्यास 'कौरवसभा' के संदर्भ में परिवेशगत विसंगतियों को दर्शाया है। डॉ. देवी सिंह के आलेख में संस्कृत रामायण से हिंदी में अनूदित भावों पर चर्चा की गई है।

पिछले दो अंकों की तरह हमने इस अंक में भी अपने विभाग और बाहर के शोधार्थियों के आलेखों को भी स्थान दिया है। गीता कुमारी का आलेख नोबल पुरस्कार से सम्मानित रवीन्द्र नाथ टैगोर की कृति 'गीतांजलि' पर आधारित है। अमित कुमार गुप्ता का आलेख साउथाल उपन्यास में चित्रित प्रवासी–चेतना पर आधारित है, ममता कालड़ा के आलेख में शरतचन्द्र के उपन्यास 'परिणीता' व 'ग्रामीण समाज' में सामाजिक परिवेश को अभिव्यक्त किया गया है। मनिंदरजीत कौर के आलेख में गुरु गोविन्द सिंह द्वारा विरचित 'चण्डी दीवार'का काव्य भाषा की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। संजीव कुमार मौर्य का आलेख 'मैं क्यों नहीं'? उपन्यास के संदर्भ में तृतीय लिंगी पात्रों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करता है। मनजिंदर कौर के आलेख में 'भिखारिन' और 'काबुलीवाला' कहानी का प्रोक्तिय विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, नीलम सागर का आलेख विजय तेन्दुलकर का उपन्यास 'घासीराम कोतवाल' पर आधारित है। सुमित का आलेख बांग्ला साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास 'विषवृक्ष' में सामाजिक विघटन को लेकर है, अमनदीप का आलेख श्रीमद्भागवत पुराण पर आधारित है जिसमें विभिन्न रसों पर बात की गई है। बोबिजा का आलेख आशापूर्णा देवी के उपन्यास 'मंजरी' में स्त्री संघर्ष को रेखांकित करता है, दिनेश कुमार के आलेख में तृतीय लिंगी समाज का दुःख दर्द व्यक्त हुआ है जो 'मैं शिखण्डी नहीं' उपन्यास के संदर्भ में है। अलका कल्याण का आलेख 'आक्रोश' उपन्यास पर केंद्रित है जिसमें आदिवासी संस्कृति का चित्रण किया गया है।

अपने विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. राजकुमार, डी. यू. आई. प्रो. शंकरजी झा,डीन (रिसर्च) प्रो. आर.के. सिंगला, प्रेस प्रबंधक जतिंदर मोदगिल और अन्य अधिकारियों से मिले सहयोग और मार्गदर्शन के लिए हम उनके आभारी हैं। इसके साथ ही परिशोध के परामर्श मंडल व संपादक मंडल के सदस्यों और हिंदी विभाग के कर्मचारियों, शोधार्थियों के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा दायित्व है। आपके रचनात्मक सुझावों की प्रतीक्षा में.....

—गुरमीत सिंह

# विषयानुक्रम


| शीर्षक | लेखक | पृष्ठ क्रमांक |
|---|---|---|
| मुख्य सम्पादक की ओर से | नीरजा सूद | v |
| संपादकीय | गुरमीत सिंह | vii |
| भारतीदासन के नाटकों में समाज समीक्षा | चमनलाल गुप्त | 1 |
| लाल सिंह दिल की कविताओं में स्त्री | सत्यपाल सहगल | 8 |
| 'लड़की जिसकी मैंने हत्या की' कहानी में अस्वीकार का मानस | जितेन्द्र श्रीवास्तव | 17 |
| काबुलीवाले की बंगाली बीवी : एक स्त्री की संघर्ष गाथा | नीरू | 24 |
| कुर्रतुल–ऐन हैदर की कहानियों में समय और समाज | धनंजय चोपडा | 30 |
| संस्कार उपन्यास का संघर्ष | कल्पना वर्मा | 35 |
| इस्मत चुगताई की कहानियों का दार्शनिक अध्ययन | पंकज श्रीवास्तव | 40 |
| बलवंत गार्गी के नाटक और स्त्री अस्मिता | गुरमीत सिंह | 49 |
| 'भू देवता' : किसान जीवन का सशक्त दस्तावेज | राजेन्द्र कुमार सेन | 58 |
| दूतकाव्य की ऐतिहासिकता और 'मेघदूत' | राजकुमार उपाध्याय 'मणि' | 67 |
| तुकाराम की भक्ति भावना | मंजु पुरी | 72 |
| 'पहाड़िन' उपन्यास में आदिवासी विमर्श | बन्ना राम मीणा | 77 |
| 'मछुआरे' उपन्यास में मूल्य–बोध | सुनीता शर्मा | 83 |
| 'गीतांजलि' : अज्ञात के ज्ञात बोध का गान | गीता कुमारी | 96 |
| परिवेशगत विसंगतियों के संदर्भ में 'कौरव सभा' | कंचन | 104 |
| किसान जागरण के संदर्भ में तमिल उपन्यास 'करिसल' | केवल कुमार | 112 |
| 'साउथाल' उपन्यास में चित्रित प्रवासी चेतना | अमित कुमार गुप्ता | 120 |
| 'परिणीता' व 'ग्रामीण समाज' में अभिव्यक्त सामाजिक परिवेश | ममता कालड़ा | 128 |
| 'चण्डी दी वार' का काव्यभाषा की दृष्टि से विश्लेषण | मनिंदरजीत कौर | 135 |
| 'मैं क्यों नहीं?' उपन्यास में तृतीय लिंगी पात्र | संजीव कुमार मौर्य | 143 |
| 'भिखारिन' और 'काबुलीवाला' कहानी का प्रोक्तिय विश्लेषण | मनजिंदर कौर | 149 |

| | | |
|---|---|---|
| 'घासीराम कोतवाल' की प्रासंगिकता | नीलम सागर | 155 |
| 'विषवृक्ष' उपन्यास में सामाजिक विघटन | सुमित | 161 |
| श्रीमद्भागवत पुराण में रसोत्पादन | अमनदीप सिंह | 168 |
| रामायण से हिंदी में अनूदित भाव एवं आधुनिक युग | देवी सिंह | 176 |
| भक्त नामदेव की वाणी का सामाजिक महत्त्व | रतिंदरजीत कौर | 183 |
| 'मंजरी' उपन्यास में स्त्री संघर्ष | बोबिजा | 188 |
| मैं शिखंडी नहीं : तृतीय लिंगी समाज की त्रासदी | दिनेश कुमार | 194 |
| 'आक्रोश' उपन्यास में आदिवासी संस्कृति | अलका कल्याण | 201 |
| मातृभाषा विषयक गांधीवादी विचारों का विश्लेषण | भवनीत भट्टी | 206 |

# भारतीदासन के नाटकों में समाज समीक्षा

प्रो. चमन लाल गुप्त*

'क्रांन्तिकारी कवि, प्रगतिशील विचारक, यशस्वी नाटककार, कहानीकार एवं तमिल फिल्म जगत को नई दिशा देने वाले महान तमिल साहित्यकार भारतीदासन के साहित्य पर विचार करना एक प्रकार से आधुनिक तमिल साहित्य के श्रेष्ठतम् अंश पर विचार करना हैं भरतीय भाषाओं मे तमिल को संस्कृत से भी पुरानी भाषा माना जाता है। और यह संस्कृत और कन्नड़ के साथ–साथ क्लासिक भाषा का दर्जा रखती है। भारतीदासन, जिसकी प्रतिमा अन्य तमिल साहित्यकारों के बीच मैरीना बीच पर खुशोभित है, जिसे अपने खण्ड काव्य 'विसरान्दयार' पर 1976 में मरणोपरान्न 'सहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया जिसका जन्म दिन 29 अप्रैल को राजकीय स्तर पर मनाया जाता है। जिसे 1946 में 29 जुलाई को 'पुरक्षि कवि'अर्थात 'क्रन्तिकारी कवि' की उपाधि से सम्मानित किया गया और सी०एम० अन्नादुरै द्वारा 25000 रू का पुरस्कार दिया गाया उसे ही तमिल कविता में नया युग प्रारम्भ करने और तमिल नाट्य–साहित्य को जन–जन से जोड़ने का श्रेय दिया जाता है। भारतीदसन, जिनका वास्तविक नाम 'सुब्बुरचिनम' था और जिन्होंने तमिल राष्ट्रीय कवि 'सुब्रह्मण्य भारती'से प्रेरित होकर अपना नाम 'भरतीदासन' कर लिया था, प्रारम्भ में उन्हीं की तरह भक्ति परक और देशभक्ति की कविताएँ रचते थे और सुब्रह्मण्य भारती ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। फ्रेंच अधिकार क्षेत्र वाले पांडेचेरी राज्य में कनकसामै मुदलियार के यहाँ 29 अप्रैल 1891 में। जन्म लेने वाले और आजीवन प्राईमरी स्कूल में तमिल पढाने वाले भारतीदसन ने 80 से अधिक साहित्यिक रचनाएँ रच कर, तमिल भाषा को समृद्ध किया। चंचल कुशाग्रवृद्धि वालक 'सुब्कुर चिनम' ने छह वर्ष की अवस्था में काव्य रचना प्रारम्भ कर दी थी। नदी की रेती पर अंगुलियों से तमलि वर्णमाला लिखने का अभ्यास करवाने वाले गुरु तिरूपति स्वामी जो गायान विद्या में निपुण थे और बालक को भी उन्होंने संगीत की शिक्षा दी और तमिलगीत तथा शक्ति बचपन में वे भी गीत गाते और मुख्य त्यौहारों के अवसर पर गुरु की संगीत मंडली के साथ सड़कों पर गीत गाते निकलते। भारतीदासन के पिता प्याज और चावल का व्यापार करते थे और सम्पन्न थे क्योंकि बालक सुब्बुरत्तिनम के लिए काजू का केक प्रतिदिन आता था। बालक भारतीदासन को याद है कि व्यापार में घाटे के कारण एकाएक वे निर्धन हो गए थे। 16 वर्ष में पिता की मृत्यु के पश्चात् तीन भाई बहनों और दो माताओं वाले परिवार के लिए आजीविका कमाने का दायित्व उनपर आया तो एक शुभचिन्तक की सिफारिश पर 17 वर्ष की अवस्था में, फ्रांसीसी अधिकारी ने उन्हें तमिल अध्यापक नियुक्त कर दिया। अवकाश प्राप्त करने तक उन्होनें विभिन्न स्थानों पर अध्यापन किया। एक अन्य अध्यापक मंरारूपत्तर ने भी उन्हें प्रोत्साहित किया और साहित्य रचना के लिए प्रेरित किया। भारतीदासन का विवाह परदेशी

* उपाध्यक्ष, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

मुदलियार की बेटी पलनीयम्माल से कारावास में हुआ। वास्तव में एक फ्रेंच अधिकारी के विरूद्ध नगरपालिका चुनाव लड़ने के कारण उन्हें झूठे केस में जेल भिजवा दिया गया था। बाद में वे उसमें से बरी हुए और उस काल का पूरा वेतन भी मिला ।

अध्यापन करते हुए भारतीदासन जी ने पाठशालाओं में एस० सी/एस० टी० बच्चों को पाठशाला में दाखिल करवाने के लिए अभिभावकों को प्रेरित किया। दोपहर का भोजन योजना जो फ्रेंच सरकार चलाती थी उसे सुचारू रूप से चलवाया। भारतीदासन समाजवादी विचारों से प्रेरित थे और उनका नारा था ''अपने लिए जिएगा गरीब, पर जिएगा सर्वजनों के लिए अमीर।

**भारतीदासन का व्यक्तित्वः** भारतीयदासन के व्यक्तित्व का निर्माण अनेक व्यक्तियों, स्थितियों और अध्ययन से हुआ था। 24 वर्ष की अवस्था में राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्य भारती से उनकी भेंटें हुई तो वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि अपना नाम बदल कर भारतीदासन रख लिया। 1908 से 1918 तक दोनों में गहरा संबन्ध रहा और भरतीदासन भी, भारती की तरह ही देश भक्ति, जाति महिमा, स्त्री उद्धार संबंधित कविताएँ लिखते रहें।

1933 में भा० सिंगार बेलर नामक विद्वान नेता के नेतृत्व में एक नास्तिक सम्मेलन हुआ। पंजीकृत पुस्तिका में पहले पृष्ठ पर उन्होने लिखा, 'मैं एक पक्का नास्तिक हूँ' और जीवनभर इस पर अडिग रहे। बचपन से भक्तिगति गाने वाला युवा एकाएक बदल गया।

सुब्रह्मण्य भारती को राष्ट्रकवि की उपाधि दी गई थी और 1946 ई० में भारतीदासन को 'पुरक्षि कवि' अर्थात् क्रांतिकारी कवि घोषित किया गया ।

भारतीदासन तमिल आन्दोलन के समर्थक बने और तमिल अस्मिता को स्थापित करने के लिए उन्होंने साहित्य रचा तथा हिन्दी विरोधी आन्दोलन में भी अग्रणी रहे। 1955 में डेमोक्रेटिक फ्रंट में वे एम० एल० ए० भी चुने गए। 'तमलि विद्वत समाज' के सदस्य रहे। सन् 1956 में पांडिचेरी में एम० एल० ए० का चुनाव हार गए।

जीवनभर भारतीयदासन की जोशीली वाणी गूंजती रही। दिनांक 19.04.1964 को मद्रास के सरकारी अस्पताल में उन्होंने अन्तिम सांस ली। 21 अप्रैल 1965 को पांडेचेरी के सागर तट पर स्थित पाप्पम्मा कोयिल श्मशान में भारतीदासन जी का स्मृति मंडप, पांडेचेरी नगरपालिका ने बनवा दिया। 1968 में मद्रास में संचालित दूसरे तमिल विश्व सम्मेलन के अवसर पर भारतीदासन जी की मूर्ति मद्रास मेरिना समुद्र तट पर स्थापित कर दी गई । कोयिल तेरू में स्थित भारतीदासन जी के घर को पांडेचेरी सरकार ने क्रय कर 'भारतीदासन संग्रहालय में बदल दिया।

**भारतीदासन का रचना संसार**

भारतीदासन ने तेरह वर्ष की अवस्था में 1904 में पहली कविता लिखी और सन् 1907 में एक तमिल लाक्नी गीत लिखा। 1914 में एक निबन्ध लिखा तथा 1915 में एक शक्तिगीत लिखकर सुब्रह्मण्य को अर्पित किया। 1918 में 'जन विनोदिनी पत्रिका में लेनिन के लिए गीत लिखा और 1924 में लेनिन की मृत्यु पर शोकगीत भी लिखा। 1921 से 1925 तक राष्ट्रभक्ति के गीत ही अधिक लिखे। भारती के प्रभाव में उन्होंने भक्तिगीत लिखे। धीरे–धीरे उनका झुकाव प्रगतिवादी विचारों की ओर हुआ और उन्होंने तमिल में प्रगतिशील आन्दोलन का नेतृत्व किया।

भारतीदासन की गद्य–पद्य में कुल मिलाकर 80 से अधिक रचनाएँ प्रकाशित हुई। कविता,कहानी निबन्ध ,नाटक, साहित्य – समीक्षा के अनेक ग्रंथ उन्होनें लिखे।

भारतीदास का नाट्य साहित्यः– तमिल की समृद्ध नाट्य परम्परा को आगे बढ़ाने में उनका बड़ा योगदान माना जाता है। उन्होंने कुल 47 नाटक लिखे जिनमें 7 एकांकी नाटक है। उनके नाटकों के नाम निम्न प्रकार से है–

1. साहित्यिक नाटकः–1. सत्मिुत्तप्पुलवर' (सचिपुल गांव का विद्वान) 2. कलैक्कृत्तियन कादल' (कलैकुत्ति का प्रेम) 3. 'चेर वाण्डवम्' (चेर राजा का नृत्य) 4. 'आक्कम' (रचनात्मक कार्य) 5. 'तीविनै' (घृणित कार्य) 6. 'अमिलदु एदु' (अमृत क्या है) 7. अम्मैच्चि' (एक कवयित्री का नाम) 8. तलै मलै कण्ड देवर (नायक का नाम) 9. पिसिरान्दैयार (कवि का नाम) 10. इलैक्कलै' (संगीत कला)।
2. ऐतिहासिक नाटकः ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करते हुए काल्पनिक नाटक लिखे हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की तरह तथ्यान्वेषण इनमें नहीं हैं। प्रमुख नाटक आठ हैं। 1. 'तमिल च्चियिन' (तमिल नारी की तलवार) 2.'वीतत्ताय' (वीर माता) 3. 'नल्लातीरप्तु' (उत्तम फैंसला) 4. पुरक्षिकवि' (क्रांतिकारी कवि) 4. 'सौम्यन' 6. 'एलै उलवन' (गरीब किसान) 7. पांडियन परसु (पाण्डियन का पुरस्कार) 8. 'करूम् चिरूत्रै' (काला चीता)
3. सामाजिक नाटकः भारतीदासन जी ने दस सामाजिक नाटकों की रचना की – 1. 'लता ग्रहम्' (लता ग्रह) 2. 'चिंतामनी' (चिंतामणि) 3. संगीत विद्वानोडु' (संगीत विद्वान के साथ) 4. 'अमैदि' (शांति) 5. 'इम्नकड़ल' (आनन्द सागर) 6. 'नल्लमुत्त कदै' (नल्लमुत्तु की कहानी) 7. 'पंडित पेंगल' (शिक्षित महिलाएं) 8. 'कुडुम्ब विलक्कुम गुण्ड कल्लुम' (परिवार का चिराग और पत्थर ) 9. 'परिवैकुड' (चिड़िया का घोंसला) 10. 'मक्कल सोत्तु' (जनता की सम्पत्ति)।
4. व्यंग्य नाटकः भारतीदासन के पांच व्यंग्य नाटक प्रसिद्ध हुए 1. अय्यिर वाकृ पल्लिवद' (अय्यर की वाणी सच निकली) 2. 'विहणक कोर्ट' (हास्य न्यायाल्य) 3. 'करकण्ड' (मिश्री), 4. 'पारूमै कडलिनम पेरूद' (सहनशीता, समुद्र से बढकर है) 5. कुलत्तिल कुरंग' (कुल में बंदर)
5. आर्यों की आलोचना संबंधी नाटकः– इस प्रकार के दो नाटक हैं। – 1. आर्यपत्नी मारिशै' 2. वंजविड़ा' (छुल समारोह)
6. पौराणिक आधार की कहानियाँः– इस दृष्टि से ' विरन्नयत् इनयट्रवीरन' (हिरण्य अद्वितीय वीर) नाटक की रचना की । आर्य पौराणिक कथा का मजाक उडाया गया है।
7. बाल नाटकः– भारतीदासन ने दो बाल नाटक भी लिखे –1. 'चिंतामण्णी' (चिंतामण्णी) 2. 'मुत्तुपैयन' (मुत्तु नामक लड़का) ये सात एकांकी हैं 1. मूलै क्झम' (मस्तिष्क का रोग) 2. 'बन्बदु सुरे' (नौ रस), 3. 'पोरमरवन' (युद्ध करने वाला मरवन) 4. कादल वालाविल' (प्रेम पूर्ण जीवन) 5. मारत्नु वरहिल अमैचर' (वैद्य के घर में मंत्री) 6. 'कोइल इस कणंगल'

(मंदिर ! दो दृष्टि) 7. 'मेनिकुप्पलित्तड़ो' (शरीर में छाले पड़े) 8. भारतीदासन ने 7 एकांकी भी लिखे। शैली के आधर पर इनमें 9. काव्य नाटक हैं, 20 गद्य नाटक हैं और शेष 10. गद्य–पद्य (चम्पू) नाटक हैं। इनमें भी 14 सुखान्त हैं, 6 दुखान्त हैं तथा 27 मिश्रित हैं।

**भारतीदासन के नाटकों में समाज का स्वरूपः**

उनके 47 नाटकों में ही समाज समीक्षा दिखाई पड़ती है क्योंकि भारतीदासन का लेखन, समाज – संपृक्ति का लेखन है, कोरे मनोरंजन अथवा बौद्धिक व्यायाम के लिए उसमें स्थान नहीं है। भारतीदासन के सामाजिक नाटकों में समसामयिक आधुनिक समस्याओं को उठाया गया है परन्तु साथ है द्रविड आत्म –सम्मान का स्वर भी उनमें मुखर है।

**1. भारतीदासन के नाटकों में नारीः–**

'सलिमुत्त प्पुलवर' नाटक में कवि सत्तिमुक्पपुलक्र की पत्नी सती साध्वी दिखाई गई है। पांडि रानी, साहित्यिक अभिरूिच रखती है और साहित्यकारों के प्रति उदार है। इस प्रकार नाटक में नारियों की सहनशीलता उदारता, करूणा, दया आदि गुणों को दर्शाया गया है। 'कुलै कुत्ति का प्रेम' नाटक में नायिकतमुत्तु नगै 'कलैकुत्तर ' जाति की है। मुत्तुनगै की कला निपुणता, वीरता बुद्धिमत्ता आदि गुणों को दर्शाया गया है। वह एक आदर्श पत्नी और प्रेयसी है। 'चेरताण्डवम्' नाटक की नायिकाएँ आदिमन्दि और मरूदि है। आादिमन्दि, कला निपुण है और मरूदि , साहसी ग्रामीण युवति है जो नदी में डूबते राजा की जान बचाती है। 'अमिल्दु एदू' अर्थात् 'अमृत क्या है?' नाटक की नायिका तर्कशील है जो अपने पति से बौद्धिक संवाद करती है। 'अम्मैचि' नाटक, नारी प्रधान है। नाटक की नायिका अम्मैचि अपनी धीरता और साहस से वेश्यावृत्ति त्याग कर साहित्य –साधना में लीन होती है। भारतीदासन के अधिकांश पात्र बुरे काम छोडकर साहित्य और कला के साधक बनते हैं। भारती जी नारी उत्थान के पक्षधर थे। 'बीरत्ताय' नाटक भी नायिका प्रधान है। इस नाटक में नायिका विजया, मणिपुर के राज् की रानी है वह वीर, चतुर धैर्यशाली और दूर दृष्टि रखने वाली नायिका है। 'नल्वात्तिरप्यु' नलूला की नायिकाएं मुल्लै, मालै, किल्ले शालि, निलंबु आदि है। जो नारी की उदात्त– चेतना की परिचालक हैं। वे सुन्दर, सहिष्णु, उदार, करूण कला निपुण तथा मैत्री भाव से परिपूर्ण हैं। शालि षडयत्रकारी और धूत्र्त है। नाटक में नारी के अनेकरूप दर्शाए गए हैं। 'पुरक्षि कवि' नाटक में नायिका 'अमुदवल्ली, सुन्दर एवं कलाप्रेमी है। वह अपने प्रेमी उदारन (कवि) को मृत्यु दण्ड मिलने पर राजा से अपने लिए भी प्राणदण्ड माँगती हैं वह आदर्श प्रेमिका है।

'पंडित्त पेंगल' नाटक में नारी–शिक्षा के महत्त्व को दर्शाया गया है 1948 में रचित यह नाटक भारतीदासन की नारी विषयक सकारात्मक सोच को दर्शाता है। यक्कल सोत्तु' नाटक में कावेरी, अन्नम्, अंगवदै आदि नारी पात्र हैं। इसमें विधवा विवाह का समर्थन किया गया है। 'कुलत्तिल कुरंग' नाटक में अनमेल विवाह का विरोध किया गया है और इसकी शिकार असहाय नारी का चित्रण किया है। आर्य पत्नी मारिशे' नाटक आर्य सभ्यता का विरोध करने के लिए लिखा गया है अतः भारतीदासन जी के इस नाटक के नारी पात्र, मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करते हैं।

चिंतामणी' नाटक में माँ–बेटी के संवाद के माध्यम से दर्शाया गया है कि चरित्र ही नारी का असली आभूषण है। मेनिकुप्पलित्तडो' नाटक में भी नायिका के तीव्र प्रेम को दर्शाया गया है।

भारतीदासन के 47 नाटकों में सैंकडों नारी पात्र हैं जिन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है 1. प्रथम वर्ग में नारियाँ वीर, धीर, पराक्रमी और चतुर हैं, जो समय आने पर, युद्ध तक के लिए तत्पर रहती हैं। ऐसे पात्रों में मत्नुनगै, विजया, मरूदि मिन्नोलि, इन्न मुद आदि हैं। द्वितीय वर्ग में नारियाँ सुशील, कला संपन्न, सहृदय और करूणमयी हैं। इनमें आदिमन्द, मालै, किल्लै, अमुदवल्ली, पट्ट तथा तंगम आदि हैं। तृतीय वर्ग की नारियाँ धूर्त, कुटिल और षड़यंत्रकारी है। इनमें शालि, अम्माकन्तु , मणिक्कम आदि को लिया जा सकता है। तमिल समाज का सटीक चित्रण हुआ है।

## 2. भारतीदासन के नाटकों में धर्म– समीक्षाः–

भारतीदासन अपने को नास्तिक घोषित कर चुके थे परन्तु उनके प्रारम्भिक नाटकों में भक्तिभाव दिखाई पड़ता है। विशेषकर उनकी काव्य रचनाओं में । भारतीदासन 'मानवता को ही सबसे बडा धर्म 'घोषित करते हैं तथा हर प्रकार के अंध विश्वासों का विरोध अपने नाटकों में करते हैं। 'आक्कम' नाटक में 'श्रम ही पूजा है' उक्ति पर बल दिया है जो ' तिरूकक रल' ग्रंथ की सूक्ति है। 'जैनधर्म और शैवधर्म' (समणमुम शैक्मुम) नाटक में धर्मिक अंधविश्वास और क्रूरता का विरोध किया गया है तथा मानवता और करूणा पर बल दिया गया है। 'अय्यिर वाक् पल्लिनद्' में धार्मिक अंधविश्वास और कुरीतियों पर व्यंग्य किया गया है। 'आर्य पत्नी मारिरौ' नाटक में आर्यों की पौराणिक कथाओं में अवतारों को आर्यों का षडयन्त्र बताया गया है और नरसिंह अवतार का मजाक उड़ाते हुए नर सिंह के स्थान पर सिंह की खाल पहनकार आने वाले पात्र कांगेयन को सृजित किया है। 'कोदलइरू कोणंगल' नाटक में दीनों की सेवा को ही सच्चा धर्म घोषित किया है। भारतीदासन ने धार्मिक कर्मकाण्डों और आस्थओं को अंधविश्वास बताकर उनका विरोध सर्वत्र किया है।

## 3. भारतीदासन के नाटकों में राष्ट्रीयता प्रान्तीयताः –

भारतीदासन, तमिल आन्दोलन के प्रखर पक्षघर रहे इसलिए उनके अधिकांश नाटाकों में प्रान्तवाद और तमिल अस्मिता का स्वर ही मुखरित हुआ है। 1962 में भारत चीन युद्ध के समय रचा 'भारतप्पासरै' नाटक निलेश्चय ही उनकी राष्ट्रवादी छवि भी उभारता है। इस नाटक में वह कहते हैं कि भारत, जाति भाषा राज्यों में विभक्त होने पर भी एक हैं समस्त भारतवासी एक हैं। इसके साथ वह समस्त भारतवासियों को चीन के विरूद्ध एकजुट होने का आह्वान करते हैं। लम्बे अंतराल के पश्चात उनकी इस रचना में राष्ट्रीय दृष्टि उभरी है। यह उनके देहान्त से दो वर्ष पूर्व की रचना है।

## 4. भारतीदासन के नाटकों में राजनीतिः–

भारतीदासन, राजनीति के मूक दर्शक नहीं थे बल्कि उसमें भाग लेने वाले सक्रिय पात्र भी थे। उन्होंने नगरपालिका से लेकर विधान सभा तक के चुनाव लड़े और जीते थे। उनकी आस्था प्रजातंत्र में अडिग थी। अपने अनेक नाटकों में राजतंत्र की समाप्ति और प्रजातंत्र की स्थापना को उन्होंने स्थान दिया है। 'वीरत्ताय' नाटक में राजकुमार सुधर्मन स्वयं राजमुकुट धारण नहीं करता, वह लोकतंत्र की स्थापना करता है। 'पुरक्षि कवि' नाटक में चन्द्रसेनर, सौम्यन के द्वारा राजतंत्र को समाप्त करवाकर लोकतंत्र, स्थापित करता है इसी प्रकार 'मक्कलसेत्तु' नाटक में राजनीतिक परिवेश को दर्शाया गया है और दिखाया गया है कि कैसे मक्कार नेता जनता की सम्मत्ति को नष्ट करते हैं। राजनीतिक चुनाव के भारी खर्चों पर भी चर्चा की गई है। आज की राजनीति पर भी ये बातें लागू होती हैं। 'मरत्तुवर विट्टिल अमैच्चर' नाटक में कांग्रेस दल का उपहास उड़ाया गया है।

## 5. भारतीदासन तमिल आत्म–सम्मान आन्दोलनः–

भारतीदासन जी द्रविड़ आत्मसम्मान आन्दोलन को पूरी तरह समर्पित थे। उनके नाटकों में इस आन्दोलन का व्यापक चित्रण है जो उन्हें प्रान्तीयता से बांधता है। सन् 1921 में तमिल संगीत आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। दक्षिण में कर्नाटक संगीत का अधिपत्य रहा और तेलुगू गीत भी अधिक गाए जाते रहे। तमिल भाषा के कट्टर समर्थक भारतीदासन के लिए यह दुखद स्थिति थी। 'संगीत विद्वानोडु' नाटक में उन्होंने तमिल भाषा और संगीत के प्रचार–प्रसार पर बल दिया। वह तर्क देते हैं कि जब तमिलनाडु में अधिकांश लोग कन्नड़ या तेलगू भाषा नहीं जानते तो इन भाषाओं के गीत–संगीत से क्या लाभ? तमिलनाडु में तो तमिल गीत संगीत ही अपनाया जाना चाहिए। भारतीदासन ने तमिल संगीत के प्रचार हेतु गीत लिखे। 'नल्लमुक्त कदै' नाटक भी द्रविड़ आत्म सम्मान आन्दोलन का समर्थन करता है। द्रविड़ कडयामद (डी० एम० के) ने तमिल भाषा आन्दोलन चलाया और हिन्दी का विरोध किया। इस नाटक में नायक और नायिका तमिल आन्दोलन में जेल जाते है।' परवैकूड' नाटक में भी तमिल भाषा और संस्कृति का प्रचार 'द्रविड़ आत्म सम्मान आन्दोलन' के अनुरूप किया गया है। इस आन्दोलन के समर्थक अधिकतर नास्तिक रहे ओर भारतीदासन भी नास्तिक थे। धर्म को अन्धविश्वास ही माना गया है।

## 6. भारतीदासन के नाटकों में चित्रित सामाजिक समस्याएँः–

भारतीदासन सजग साहित्यकार थे इसलिए सामाजिक कुरीतियां के विरूद्ध निरन्तर लिखते रहे। कलैक्कुत्तियन कादल नाटक में नीच समझी जाने वाली कलैकुत्तूर जाति जो कि एक बनवासी जाति है का मार्मिक चित्रण हुआ है। इन्हें अस्पृश्य माना जाता था और संभ्रान्त वर्ग के आगे अपनी कला का प्रदर्शन भी नहीं कर सकते थे। भारतीदासन ने इन्हें सद्मार्ग पर चलकर मुख्य धारा से जुडने का आह्वान किया है। अम्मैचि' नाटक में भारतीदासन इस समाज का चित्रण करते हैं। जो बेटियों से वेश्यावृत्ति करवाना सामान्य मानते है। वेश्यावृत्ति के विरूद्ध सशक्त आवाज इसमें उठाई गई है। 'लता ग्रहम नाटक में समाज मैं व्याप्त छुआछूत, अंधविश्वास और भेद–भाव मिटाने का सन्देश दिया गया है। सामजिक विसंगतियों से भरा समाज चित्रित हैं इन्हें दूर करने के

लिए एक आन्दोलनकारी दल भी सृजित किया गया है। 'अमैदि' नाटक में देश के निर्धनों, जनजातियों, पिछडों की दयनीय दशा पर प्रकाश डाला गया है। 'इम्नकड़ल' नाटक में विवाह सम्बन्धी कुरीतियों पर प्रहार किया गया है। 'पंडित्त पैगल' नाटक में नारी शिक्षा की वकालत की गई है। 'करकण्ड' नाटक में अनमेल विवाह की त्रासदी का चित्रण है। 'पोरू मै कड लिनम् पेरूद नाटक में समाज के धनवानों की दुष्टता चित्रित है तो 'कुलत्तिल कुरंग। दहेज–प्रथा पर करारा व्यंग्य किया गया है।

**निष्कर्ष'–** भारतीदासन के सम्पूर्ण नाटक साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए हम पाते हैं कि उनके सभी नाटक सामाजिक चेतना संपन्न होने के साथ–साथ प्रगतिशील चेतना के वाहक भी हैं। भारतीदासन एक समतामूलक समाज का सपना देखते हैं जहाँ कुरीतियां अंधविश्वास, हिंसा और विषमता नहीं होगी। तमिल अस्मिता के पक्षधर भारतीदासन, आर्य सभ्यता के कटु आलोचक भी हैं। उनकी रचनाओं का मूल स्वर मानवतावादी हैं और वे ईश्वरीय विधान या आस्था की अपेक्षा मानवीय श्रम और मानवीय संघर्ष को मनुष्य का भाग्य निर्माता मानते हैं। आधुनिक कवि कवियरसु मुडियरसन ने उनके लिए लिखा है–आधुनिक साहित्य सम्पदा के प्रेरणा स्रोत, क्रांति हेतु, शक्ति और वीरता के स्रोत उबारा कायरता से, जगाया विवके भरपूर ।

# लाल सिंह दिल की कविताओं में स्त्री

डॉ. सत्यपाल सहगल*

विख्यात पंजाबी कवि लाल सिंह दिल की कविताओं में आने वाली स्त्रियों को भारतीय काव्य में कहीं ओर देख पाना आसान नहीं होगा। ख़ास कर हिंदी कविता में। प्रायः ये मजूर औरतें हैं। स्मरण में निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता आएगी। तथापि, दिल की कविता जिस दलित–क़बीलाई अनुभव, परिवेश और समाजशास्त्र को साथ लपेटे है, वह इस स्मरण से परिभाषित नहीं हो पाएगा। खेत–मज़दूरों और शेष ग्रामीण समाज की जातीय–आर्थिक –सामाजिक बनावट को समझे बिना दिल की तत्संबंधी कविताओं के मर्म तक पहुँचना सम्भव भी नहीं होगा। दिल की क्रांतिकारी–चेतना और भारतीय समाज के इतिहास की अपनी ख़ास मूलवासी समझने इन कविताओं को अलग पैनापन दिया है। इसे समझने के लिए दिल की अपनी कवितायें 'भीलः बहादुर द्रविड़' और 'चार्वाक' ही देखी जा सकती हैं। प्रसिद्ध पंजाबी आलोचक डाक्टर सुरजीत सिंह भट्टी जब उन्हें खानाबदोशों का शायर कहता है, तो उसका अभिप्राय भी यही निकलता है। पंजाबी समालोचना में अन्यत्र भी इसे नोट किया गया है।[1] इन कविताओं के स्त्री–अनुभव का समकालीन भारत और पंजाब के अपने विशिष्ट कृषि–यथार्थ से भी गहरा सम्बंध है। इस बात को प्रोफ़ेसर राजेश शर्मा ने खूबसूरत ढंग से व्यक्त किया हैः

"दिल की कविताओं को 1960 और 1970 के दशक तक सीमित नहीं किया जा सकता।

वह उतना ही हमारे समय का कवि है। वास्तव में उसकी कविताएँ पुराने दशकों को हमारे समय के संदर्भ में पुनः प्रकाशित करने में सक्षम हैं, जिससे, वर्तमान की पिछली परम्परा की कड़ियाँ उजागर हो जाती हैं।"[2]

इस प्रकार अपनी स्त्री–सम्बंधी रचनाधर्मिता के माध्यम से दिल हमारे समक्ष अनुभूति का एक विलक्षण संसार रचते हैं। अज्ञात या ओझल तथ्य, नए और हृदयद्रावक बिंबों, नयी दृष्टि के साथ, विशिष्ट भाषा–शिल्प कौशल के माध्यम से वे एक ऐसे प्रामाणिक मर्म की रचना करते हैं, जो पाठक के चेतनागत बदलाव की क्षमता रखता है।

यूँ दिल में स्त्री मात्र के प्रति एक सामान्य विस्मय और श्रद्धा मिश्रित प्रशंसा– भाव भी देखा जा सकता है। उनकी रचना 'अजूबा' इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैः "औरत एक अजूबा है धरती का"। आगे देखेंः

लोग कहें कि बैल के सींगों पर धरती/मैं असहमत हूँ/पर मेरा विश्वास अटल है/कि अपने हाथ पर धरती औरत ने है उठायी हुई [3]

स्पष्ट है दिल की कविता स्त्री को सृष्टि के केंद्र में देखती है। यह एक नए प्रकार का मिथक–सृजन है। इसकी तुलना उस लोक प्रचलित मिथक से करें, जहाँ पृथ्वी बैल के सींगों पर

* प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ

खड़ी बतायी जाती है। सामान्य अर्थों में, जागतिक बोझ को स्त्री ही सम्भाले है। वही इस विश्व को नष्ट होने से बचाए है और उसी के प्रयासों से दुनिया चल रही है। ज़ाहिर है, मानव–जीवन में स्त्री के योगदान के प्रति यह कविता उच्चतम सम्मान व्यक्त करती है। प्रोफ़ेसर शर्मा दिल के मिथक–निर्माण की क्षमता पर टिपण्णी करते हुये कहते हैं कि 'यह इस लिए संभव होता है क्योंकि कवि उसकी कविताओं में सामूहिक चेतन (collective consciousness) है'।[4] कविता के अंत तक आते, इस मिथक में समकालीनता घुस जाती है। संसार सम्भालने के महान काम में जुटी औरत की आँखों में आँसू हैं :–

धरती और औरत की पीड़ा कितनी एक सी है/मेहनत के हिस्से में भूख है/सितम की आँखों में अंगारे हैं, धरती की आँखों में आँसू हैं/औरत की आँखों में आँसू हैं/इसीलिए समुद्र खारे हैं [5]

औरत धरती समान है। धरती पीड़ित है, शोषित है, आततायियों से ग्रसित है; औरत भी। जबकि उसका प्रभाव और कर्म 'आश्चर्य' जैसा है। इसे दिल की कविता में से उभरती स्त्री की प्रतिनिधि परिभाषा कह सकते हैं। यह सामान्यकृत बोध है। अन्यत्र ऐसा नहीं है। इसके बाद जो स्त्री उनकी कविता में झाँकती मिलती है, वह कुल मिलाकर बहुत मूर्त और देशकाल सापेक्ष है।

'कुड़ेली गाँव की निवासिनें' कविता को देखें। यहाँ दृष्टिगोचर स्त्री स्पष्टतया सामाजिक बहिष्करण के शिकार समुदायों की पृष्ठभूमि लिए है। संभवतः वह घूमन्तु वर्गों से हैः

वे जानती हैं/रावण के आदमी काले कपड़े पहनते थे/फिर भी वे काला पहनती हैं
वे जानती हैं/कि राक्षस काला पहनते थे/फिर भी वे काला पहनती हैं
वे जानती हैं/चोरों के कपड़े काले होते हैं/फिर भी वे काला पहनती हैं

कविता में कुछ आगे जा कर निम्न पंक्तियाँ हैंः

वे जानती हैं/कुड़ेली एक नागिन का नाम है/सबसे ज़्यादा ज़हरीली नागिन/फिर भी यह उनके गाँव का नाम है[6]

कविता में राक्षस, रावण आदि का उल्लेख हमें समकालीन दलित विचारधाराओं की ओर ले जाता है, जहाँ देव–असुर के पौराणिक संघर्ष के हवाले से, वर्तमान दलित समुदायों को, तथाकथित असुरों, दानवों, राक्षसों के नये अर्थ करके प्रस्तुत किया जाता है। देव, स्वर्ण जातियाँ; असुर, तथाकथित अवर्ण जातियाँ। इस वैचारिकता को समझने के लिए श्री प्रमोद रंजन की पुस्तक 'महिषासुरः मिथक और परम्परायें' प्रासंगिक हो सकती है। पहले प्रिंट में और अब ऑनलाइन पत्रिका फारवर्ड प्रैस के अंकों का अवगाहन भी उपयोगी होगा।[7] इस प्रकार कविता एक सम्वेदना मात्र ही नहीं रहती, एक पूरा पौराणिक–ऐतिहासिक विश्लेषण बन जाती है। यह 'काले कपड़े' वालियों पर एक अपूर्व कविता है। ग़ौरतलब है कि ये औरतें 'खेतों और दीवारें चिनने की मजूरी' पर निकली हैं– दलित–क़बीलाई, मजूर स्त्रियाँ हैं ये। कविता में एक जगह यह उल्लेख भी हैः 'वे जानती हैं/चोरों के कपड़े काले होते हैं/फिर भी वे काला पहनती हैं'। इन स्त्रियों में एक बहुत सूक्ष्म और नैसर्गिक वर्ग–चेतना और वर्ग–प्रतिबद्धता को भी यहाँ देखा जा सकता है। साथ ही मुख्यधारा की मान्यताओं को लेकर अवमानना और बेपरवाही का अन्दाज़ भी है। उनकी नगरी

में काले रंग के बारे में कैसी नकारात्मक सोच है, वे जानती हैं। प्रकारांतर से उन्हें निकृष्ट, अमानवीय और अपराधी घोषित किया जा चुका है। उनकी बस्ती में उनके लिए अमृत नहीं विष है। फिर भी वे अपने रंग को नहीं छुपाती हैं। वे उसे धारण करती हैं। यह उनके चरित्र की दृढ़ता और बाग़ी स्वभाव का सूचक है। दरअसल, यह कविता इसी पर बल दे रही है; इस स्त्री के चुनौती भरे व्यक्तित्व पर। इस कविता में सर्वाधिक आने वाला शब्द काला ही है। कविता में संघर्ष–चेतना की अंतरध्वनियाँ हैं। एक कठिन परिस्थिति में हार न मानने की फ़ितरत है। अस्मिता को बनाए रखने की जिद्द है, चाहे हालात खिलाफ़ हैं। कहीं यह काला कठिन जीवन–शर्तों का सबूत भी है। कविता में उनकी स्वीकृति है, पलायन नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं, बहुआयामी अर्थस्तरीयता के साथ, यह कविता दलित–मजूर स्त्री का अलग परिप्रेक्ष्य रचती है। कितना दूर है यह भद्रवर्गीय स्त्री संसार से, उजागर है। चमकते मीडिया या उच्च वर्गीय श्रेणियों में मिलने वाली स्त्री–छवि से इस की दूरी और स्पष्टीकरण की मोहताज नहीं है। इसीलिए दिल दुर्लभ के कवि हैं। काले कपड़े वाली औरतों से परिचय कराने वाली एक अद्‌भुत कविता के रचियता। डाक्टर सुरजीत सिंह बड़े साफ़ शब्दों में यही बात कह रहे हैं: "औरत के बारे में उसकी कविता आजकल के नारीवादियों की तरह मध्यवर्गीय, खाते–पीते घरों की औरतों की समस्याओं को नहीं–यहाँ भी वह पाताल में धंसी औरत की बात करता है। उन औरतों की जिनको हमारा समाज औरत मानने को ही तैयार नहीं। ये दुत्कारियाँ, धिक्कारियाँ तथा समाज द्वारा मौत के घाट उतार दी गयी बेटियाँ– उसकी कविता की नायिकाएँ हैं।"[8]

बाबुल तेरे खेतों में इन क़बीलाई औरतों से निकल कर, भूमिहीन किसानों के इलाक़े में प्रवेश करती है।

बाबुल तेरे खेतों में/कभी कभी मैं नाच उठती हूँ ...
यूँ ही भूल जाती हूँ/कि खेत तो हमारे नहीं रहे/कुछ दिन टिकने का बहाना/मुक़दमे हार बैठे हैं/पैसों की कमी से/स्लीपर टूट चुके है/भखड़ा उग आया है/बाबुल तेरे खेतों में/ट्रेक्टर दौड़ेंगे किसी दिन/बाबुल तेरे खेतों में।[9]

यह कविता किसी पुरुष के बारे में भी हो सकती थी। इस से दलित किसान स्त्री और पुरुष की साँझी नियति का पता चलता है। खेतों का मान उनके लिए नहीं है। भूमि–सुधार क़ानूनों ने उन्हें कुछ ज़मीनें दीं, पर बड़े ज़मींदार की ताक़त अभी भी बनी है। पैसे और क़ानूनी दाँव–पेंच के बल पर ज़मीनें वापिस छीनी जा रही हैं। इस प्रकार, खेतिहर मज़दूर की बेटी ज़मींदार बाप के गौरव से वंचित है। अपनी ज़मीनों का जो सपना जगा था, वह हार गया है।

खेतिहर मज़दूर, भूमिहीन किसान या मुजारों का मुद्दा पंजाब में सदा ज्वलंत रहा है। कृषि–सुधारों के लिए चलाए जाने वाले प्रसिद्ध मुज़ारा आंदोलन (1930–53) की परम्परा पर नज़र डाली जा सकती है। इसमें पंजाबी–अंग्रेज़ी के लेखक और सांसद मास्टर हरी सिंह की खेत–मजदूरों के संघर्ष पर आधारित पुस्तक काफ़ी लाभप्रद सिद्ध होगी। पंजाब के सभी मुख्य कृषि–सुधार क़ानूनों के अध्ययन और ज़मीनी हक़ीक़त को देखने के बाद, अपने शोधपत्र में, श्री राजिंदर के. पवार ने, पंजाब में कृषि–सुधारों सम्बन्धी क़ानूनों के व्यवहारिक हश्र पर निम्न निष्कर्ष

दिया हैः "इस प्रकार कृषि–सुधारों की योजना ने भूमिहीन मज़दूरों के बड़े हिस्से को कुछ भी नहीं दिया है। ये लोग अभी भी ग्रामीण समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक रूप से सबसे कमज़ोर तबकों में से एक हैं। स्वतंत्रता के बाद उनके बुरी स्थिति कोई ख़ास अंतर नहीं आया है। "खेत–अधिकारों और खेतिहर मजदूरों के सम्मान और सुरक्षा के सम्बन्ध में पंजाब की समकालीन स्थिति पर मनु मोदगिल ने एक बहुत सूचनाप्रद रिपोर्ट तैयार की है। संघर्ष आज भी चल रहा है और उसमें ज्यादा आक्रामकता है[10]

कविता में बाबुल शब्द महत्वपूर्ण है। पंजाब के जाने –पहचाने लोकगीत ' साड्डा चिड़ियाँ दा चंबा वे बाबुल अस्सां उड़ जाना' का ख्याल आता है। 'बाबुल' अभिव्यक्ति में पितृत्व की एक पूर्णता है। मायके का सुख है। गरिमा है। भरे–पुरे परिवार की गरमाहट है। लेकिन उजड़े खेतों के साथ उसका भला क्या मेल? यहाँ एक त्रासदी है। आज के राजनीतिक–प्रशासनिक– वैधानिक ढाँचे की ख़ामियों के साथ उसका गहरा सम्बंध यहाँ प्रकट है। भूमि –सुधार के राजकीय प्रयासों का खोखलापन यहाँ उजागर है। यूँ यह कविता भूमिहीन किसान परिवार से सम्बंध रखने वाली एक युवा स्त्री की पराजय और पीड़ा को एक बड़े तंत्र की रोशनी में सामने लाती है। कविता के अंदर की औरत की चेतना में अपने उजड़े और बेगाने खेत हैं। मालिकाना हक़ से महरूमियत है। सेवक और गुलाम अस्तित्व से निकलने के प्रयत्न डूब रहे हैं। हालाँकि यह हार का अनुभव है, हार की मानसिकता नहीं है। समादृत पंजाबी आलोचक डाक्टर सरबजीत सिंह मानते हैं : "लाल सिंह दिल की कविता में औरत पीड़ित, पस्त जनता का अटूट अंग बन कर सामने आती है। तथाकथित प्रगतिवादी कविता की तरह औरत हमदर्दी या तरस की पात्र नहीं, बल्कि बराबर के स्थान की अधिकारिणी है।" डाक्टर भट्टी के विचार भी ऐसे हैं:"दिल की कविता की एक विलक्षणता यह भी है कि ग़रीबी, भूख, दुःख, बेरोज़गारी और और श्रम की लूट को बर्दाश्त करते लोगों को वह कभी भी दया के पात्र तथा भिखमंगे बनाकर पेश नहीं करता है।"[11] असफलता का गहन अहसास ही बड़े संघर्षों का आधार बनता है। यह तोड़ भी सकता है, पर दिल की कविताओं में ऐसे भाव की कविता ढूंढ़ना मुश्किल कार्य है। वहाँ निराशा तो है, हताशा नहीं। 'भोलियाँ' में औरत का एक पूरा समूह ही नक़्शे में ढल गया है। कौन हैं यें? देखें:

बेर चुनती भोलियाँ/निर्वस्त्र कुड़ियाँ.....

कुडियाँ मजूरी को जातीं/फिर किसी दिन ब्याही जातीं.....

और सस्ते कपड़े की महक/सस्ते साबुन क्रीम में महकती.....

औलाद की खुशी/दरदों सिर–पीड़ा संग झुलसी जाती/जननी सूखी रोटी में उमर का लहू खा लेती.....

वे जिनका पति/मौत की पगडंडी भी चला जाता/पत्थर की तरह जिएँ जवानी में/उमर कट जाए/जीवन के कीचड़ में जूझतीं.....

यह बात बताई जाये/यदि दूसरे ग्रह के लोगों को/पत्थर हो जाएँ/न फिर उठ सकें/पशुओं को इसका यदि अहसास/हो जाये/जंगलों को दौड़ जायें/मनुष्यता से डरते चीख़ते।[12]

मजूर परिवार की इस मजूरस्त्री का जीवन इतनी विपत्तियों, अभावों, निरंतर त्रासदियों और चीरती हायसे भरा है कि पशु भी ऐसी मानवी ज़िंदगी से भय खाने लगें। अन्य शब्दों में, उसका जीवनयापन पशु से भी कहीं ज़्यादा बुरा है। प्रकट है कि यह स्त्री–अधिकारों की प्रचलित शहरी चर्चा से कहीं आगे की भयानक सच्चाई है। जाने–पहचाने स्त्रीवाद में हाशिए की इन औरतों पर बहस यतिकिंचित ही है। ज़्यादा संवादमध्यवर्ग के सरोकारों के इर्दगिर्द ही मिलता है। हाँ, पिछले दो–चार बरस से कुछ नए विमर्श शुरू करने का उद्यम किया गया है। अनीता भारती और संजय चन्दन द्वारा सम्पादित 'दलित स्त्रीवाद' ग्रन्थ कुछ ऐसा ही प्रयत्न है। स्त्री–मुद्दों पर केन्द्रित वेब शोध–पत्रिका 'स्त्रीकाल' भी प्रासंगिक सामग्री छापती रहती है।[13]

भोलियां शीर्षक से यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि वे अपनी इस त्रासपूर्ण गाथा के अभिप्राय भी नहीं समझती हैं। उनका पूरा जीवन एक हादसे से दूसरे हादसे तक कासफ़र है। उनकी कहानी से परिचय हमें निस्तब्ध और निशब्द ही कर सकता है। इस प्रकार भोलियां सर्वहारा स्त्री का जलता दस्तावेज़ बनने की क्षमता रखनेवाली कविता है। जन्म घोर ग़रीबी में, जहाँ पहनने को कपड़ा तक नहीं , जीवन का अंत अक्सर किसी निस्सहाय बेवा की तरह। इस बीच खोखली और झूठी, भ्रामक खुशियों के सिवा कुछ नहीं। अपनी मारक प्रस्तुति के कारण यह काव्याभिव्यंजना हमें बहुत कुछ ऐसा भी दिखा जाती है, जो काव्यशब्द से भी परे है। कुल मिलाकर, दलित–मजूर स्त्री को लेकर यह भी एक प्रातिनिधिक कृति है।

ऐ घोड़े चराने वाली कुड़िये हमें फिर से ज़मींदारी अत्याचारों और क़रूरताओं की दुनिया में ले जाती हैः जब हाथ पर कुदाल तेरे/ज़मींदार ने मारी थी/कैसे तड़पी थी माँ/कैसे वह सब सहा था [14]

कह सकते हैं कि यह कविता चरवाहा समुदाय या कबीलों की औरत के बारे में है। हाशियागत समूहों में भी बिलकुल किनारे पर पड़े, सामान्य सामुदायिक जीवन से लगभग बाहर स्त्री–पुरुषों पर प्रामाणिक अनुभव के आधार पर शब्दाभिव्यक्ति का काम कम ही रचनाकारों ने किया है। इस दृष्टि से स्त्री–सम्बंधी ये कविताएँ हमारे सामाजिक बोध को वास्तविकता के धरातल पर विस्तृत और सम्पन्न करने में बड़ी भूमिका अदा करती हैं। भारतीय ग्रामीण–जीवन के ये वे मुद्दे हैं, जो हैं तो रोज़मर्रा के, लेकिन सामने कम ही आ पाते हैं। शोध भी कम हुआ है, विशेषतः भारतीय भाषाओं में। मीडिया में भी गाँव की प्रस्तुति बहुत सीमित है।

वेश्या औरतें एक साहसी और बेलाग भाषा के द्वारा एक सुपरिचित विषय की परतें उधेड़ती है। यह फिर से एक प्रतिनिधिक कविता है और औरतों के ऐसे पेशागत घेरे से जुड़ी है, जिसे दुनिया भर में घोर अपमान, उपेक्षा और बहिष्करण की स्थितियों में अपनी रोज़ी–रोटी जुटानी पड़ी है। इधर कविता–वाचक की पक्षधरता देखिएः

ये वेश्या औरतें लड़कियाँ/मेरी मांएँ बहनें और बेटियाँ हैं.....

अहिंसा और बुद्ध के पुजारी भारत की/मांएँ बहनें और बेटियाँ हैं/ये बड़े सरमाएदारों की/मांएँ, बहनें और बेटियाँ हैं/यदि नहीं/तो ये आने वाले इंक़लाब की/मांएँ, बहनें और बेटियाँ हैं।[15]

यहाँ दया करने का नहीं ज़िम्मेदारी लेने का भाव है। यह कविता वेश्याओं के प्रति सामाजिक व्यवहार को निदर्शित करने वाली कविता है। इन स्त्रियों के प्रति होने वाले अन्याय को उघाड़ने के लिए कविता समाज और व्यवस्था की प्रचलित स्वीकृतियों के विरुद्ध जाने में संकोच नहीं कर रही है। उलटा सांस्कृतिक पाखंड और सरमायेदारी ढाँचे पर सीधे उँगली रख रही है और उसे ही उत्तरदायी ठहरा रही है। अंत में प्रस्तावना यह है कि क्रांति ही उनकी मानवीय गरिमा और वेश्यावृत्ति से मुक्ति का मार्ग है। कविता में एक वैश्विक मुद्दे को एक विश्वजनीन प्रत्युत्तर से हल किया गया है। वेश्याकर्म समाप्ति बिना आमूलचूल परिवर्तन सम्भव नहीं। तब तक वेश्याओं को हमारे घर की महिलाओं की तरह ही स्नेह और सम्मान की आवश्यकता है। उनका वेश्या होना हमारी वजह से है। समस्या हम हैं, हमारी व्यवस्थाएँ हैं, वेश्याएँ नहीं। इस कविता से पता चलता है कि दिल केवल विशिष्टजातीय–सामाजिक–आर्थिक बहिष्करण की शिकार स्त्रियों को ही नहीं, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी, सामान्य बहिष्करण और अवमाननाओं से सतायी स्त्रियों की पहचान भी कर रहे हैं।

स्त्रीगत भी इसी प्रकार की कविता है। यह स्त्री भ्रूणहत्या पर सुपरिचित और सतही घिसीपिटी कविताओं से अलग फिर से एक अद्वितीय रचना हैः

चील के पंजे से गिरा हुआ/एक मानव लोथड़ा/जैसे जंग लगी कोई चीज़/तालाब के किनारे यह कबीर की तरह

जीता नहीं/न यह टैगोर की तरह/माँ बाप की सतारहवीं संतान होगा।/उसके विराट औ' अलौकिक रूप से लगता है/वह ज़रूर कोई लड़की है[16]

कविता में भ्रूण हत्या जैसे उदाहरणों का वर्गीय यथार्थ भी निर्दिष्ट है। इस भ्रूण का सामाजिक दुर्भाग्य बता दिया गया है। न इसके पास सत्रहवीं संतान होने के बावजूद, टैगोर का पैतृक सौभाग्य है और न कबीर के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों की तरह, कोई इसे गोद में लेने आ रहा है। इस भ्रूण के संदर्भ में तो वह सब गल्प और अपवाद ही हैं। यह तो घूरे पर पड़ा एक स्त्री लोथड़ा मात्र है। ध्यान देने की बात यह भी है कि टैगोर और कबीर भी पुत्र यानि पुरुष थे। यह तो किसी कन्या का रूप प्रतीत होता है। कविता इसका पता उसकी सीधी दैहिक पहचान से कम उसकी 'विराट और अलौकिक' छवि से अधिक देती है। यह एक तरह से उसमें दिव्यता की प्रतिष्ठा है। धार्मिक अर्थों में नहीं, लगभग उसी भावना में, जैसे यह 'अजूबा' कविता में है, जहाँ उसे 'आदिकाल से जीवन का अमृत' देने वाली और 'अपने हाथ पर धरती' उठाने वाली बताया गया है। यही औरत जब दलित–मजूर प्रसंग से सामने आती है तो अपने दबंग और बिंदास पक्ष को भी सामने लाती है। कुड़ेली गाँव की निवासिनें कविता में इसे देखा जा चुका है।

लहर में उस 'साँवली' स्त्री का कथन हैः "मैं बहुत हरामी हूँ!" उसका विद्रोही चरित्र देखेंः

वह बहुत कुछ झोंक देती है/मेरी तरह/तारकोल के नीचे जलती आग में/मूर्तियाँ/किताबें/अपनी जूती का पाँव ...[17]

उसके इसी बेबाक़, मस्त रूप को नाहमामें भी देखा जा सकता है।[18]

आदिवासिनें और रानियों का हाल जैसी कविताएँ भी हैं जो आदिवासी–दलित–मजूर ग्रामीण स्त्री के बदहाली भरे और बिडंबनात्मक जीवन का मर्मस्पर्शी बिम्ब हैं:

हम रानियाँ थीं/जंगलों में नौकरों से ब्याह ( आदिवासिनें) [19]

खुले बाल/औ' नंगे पैरों/छूटे लाल पंघूड़े (रानियों का हाल)[20]

इसी कड़ी में ख़त जैसी कविता को भी रखा जा सकता है जो विपन्नता और क़र्ज़ों से घिरेकिसान–मज़दूर परिवार से सम्बंध रखने वाले फ़ौजी की पत्नी को लेकर है:

सामने गिरी दीवार की ईटें/रे फ़ौज़िया/प्यार की तस्वीरें बन–बन जायें

तेरे गुज़रे बाप के साहूकार/रे फ़ौज़िया/नित दरवाज़े आयें[21]

माँ आयशा[22] और रिश्ता[23] जैसी रचनाएँ संस्कृतियों और स्त्री के प्रति सामाजिक व्यवहार के आपसी संबंधों को टटोलती हैं । स्त्री से व्यवहार के संदर्भ में, इन कविताओं में मुस्लिम परम्पराओं के सकारात्मक पक्षों को उभारा गया है। लोक में आरोप–प्रत्यारोपके बावजूद पेगंबर मोहम्मद अपनी पत्नी आयशा को नहीं त्यागते हैं। (माँ आयशा) साथ ही वहाँ दहेज़ और बहूयें जलाने जैसी विकृतियाँ भी नहीं हैं।(रिश्ता)

हमारे अध्ययन से कुछ निष्कर्ष बड़े साफ़ उभर कर सामने आ रहे हैं। लाल सिंह दिल की रचनाएँ स्त्री के प्रतिशीर्षतम आदर की अभिव्यक्ति हैं। उसकी काव्य–वस्तु का निचोड़ यह है कि औरत के कारण ही यह दुनिया चलती है। दूसरे, वे हमको दलित–क़बीलाई–कामगार–वंचित ग्रामवासी स्त्री के उस भयानक यथार्थ के समक्ष खड़ा कर देते हैं जो स्त्री–सम्बंधी बहसों के केंद्र में नहीं है। तीसरे, अप्रत्यक्षतःये कविताएँ स्त्री के प्रति प्रतिबद्धता में निर्द्वंद और दुविधाहीन होने की वकालत करती हैं। चौथे, भूमि–सुधारों को लागू करने और सामाजिक पूर्वाग्रहों को समाप्त करने में हम असफल रहे हैं, परिणाम स्वरुप, भूमिहीन किसान परिवार की स्त्री की बेहतर जिंदगी का सपना अब भी अँधेरे में भटक रहा है। पाँचवे, हमारी सांस्कृतिक विकृतियों ने स्त्री को जीते जी नरक में धकेलने में बड़ा रोल अदा किया है। छठे, इस नारकीय ज़िंदगी के बावजूद, दलित–मजूर स्त्री में एक भीतरी दृढ़ता और विद्रोही–चेतना है। सातवें, मौजूदा सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक ढाँचे में क्रांतिकारी परिवर्तन ही औरत की दीन–हीन स्थिति को बदलने की गारंटी है।

सारतः लाल सिंह दिल के अध्येता और प्रतिष्ठित पंजाबी आलोचक प्रोफ़ेसर सुखदेव सिंह के मत को यहाँ दर्ज करना असमीचीन नहीं होगा। वे लिखते हैं: "दिल के भावना संसार में 'रसिक कामिनी' का कोई स्थान नहीं है। उसकी नायिका 'तवे पर दिल पकाती मज़दूरिन', 'बैरल के पिघल जाने तक', 'मोर्चे पर लड़ती गुरिल्ला औरत', कथित भोलेपन की परम्पराओं व क़ानून को आग में बहा देने वाली बाग़ी श्यामवर्ण औरत, सभी कपड़े उतार कर नाचने वाली 'नामे की बीवी' और 'तिरस्कृत वेश्याऔरत' है। दिल की कविता औरत के 'गाय' व सुशील होने की सनातनी

नैतिकता का मुँहचिढ़ाती है।"[24] प्रत्यक्ष है कि प्रोफ़ेसर सिंह दिल की अन्य कविताओं में स्त्री सम्बंधी फुट्कर विवरणों को भी अपनी टिप्पणी का आधार बना रहे हैं। ये कथन भी हमारे उपरोक्तनतीजों को पुष्ट करते हैं।

आलेख का अंत, लाल सिंह दिल के सम्पूर्ण कवि–कर्म और इसीलिए उनकी कविता में स्त्री–चित्रण पर भी, डाक्टर सुरजीत सिंह भट्टी की कपाँ देने वाली निम्न पंक्तियों से करते हैंः

" लाल सिंह दिल सिर्फ़ ग़रीबों का कवि नहीं है। वह ग़रीबी के पाताल का कवि है।"[25]

**संदर्भ :**


1. सुरजीत सिंह भट्टी, प्रगतिवादी काव चिन्तन (लेखः लाल सिंह दिल, ख़ानाबदोशों दा शायर) , लुधियाना, चेतना प्रकाशन, 2017, पृष्ठ 169–76
2. Rajesh Sharma, Lal Singh Dil and the Poetics of Disjunction, Economic and Political Weekly, Vol-XLIX no-6, February 2014, p- 64 हिंदी अनुवादः शोध–आलेख लेखक
3. लाल सिंह दिल, प्रतिनिधि कविताएँ, पंचकुला, आधार प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 93
4. वही, पृष्ठ 70
5. वही,पृष्ठ 94
6. वही, पृष्ठ 99
7. प्रमोदरंजन, महिषासुरः मिथक और परम्परायें, नयी दिल्ली, द मार्जिनलाइजड, 2017 ।
8. वही, पृष्ठ 176
9. वही, पृष्ठ 98
10. Master Hari Singh] Agricultural Workers* Struggle in Punjab] New Delhi] People*s Publishing House-1980-

    Rajinder K- Pawar] Impact of Agrarian legislation on Agricultural labourers of Punjab: A Critical Appraisal, Vol-36, No-1, January& March 1994, p- 98, Jastor (ऑनलाइन डेटाबेस), देखा गया, जनवरी 19, 2020। हिंदी अनुवादः शोधपत्र लेखक।

    Manu Moudgil, How Punjab's Dalits fight over a piece of land for dignity,not profit, Business Standard (online edition), https%@@wap-business&standardcom@ article&amp@current&affairs@how&punjab&s&dalits&fight&over &a&piece&of&land&for&dignity&not&profit&119080800118&1-html] August 8] 2019] ns[kk tuojh19] 2020
11. सरबजीत सिंह, पंजाबी कविता प्रसंग तेप्रवचन, लुधियाना, चेतना प्रकाशन, 2014,पृष्ठ 88। सुरजीत सिंह भट्टी, वही, पृष्ठ 172।
12. वही, पृष्ठ96–97

13. अनिता भारती और संजीव चंदन ( सम्पादक), दलित स्त्रीवाद, नयी दिल्ली, nekÆtuyk;hTM] 2016Aæ"VO;] http%@@streekaal-com@
14. वही,पृष्ठ132
15. वही,पृष्ठ101
16. वही,पृष्ठ 131
17. वही,पृष्ठ 95
18. वही,पृष्ठ 106
19. वही,पृष्ठ 100
20. वही,पृष्ठ 133
21. वही,पृष्ठ 102
22. वही,पृष्ठ 134
23. वही,पृष्ठ 142
24. सुखदेव सिंह, लाल सिंग कावः असहमति दा प्रवचन, लेख, दीप दिलबर( सम्पादक ) लाल सिंग दिल ( जीवन, रचना अते समीख्या ), पृष्ठ 283 । हिंदी अनुवादःशोधपत्र लेखक।
25. वही, पृष्ठ 170

# लड़की जिसकी मैंने हत्या की : अस्वीकार का मानस

प्रो जितेन्द्र श्रीवास्तव *

भारतीय साहित्य की समृद्धि में कन्नड़ भाषा के साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण है। आनन्द इस भाषा के बड़े और उल्लेखनीय कहानीकार हैं। 'लड़की, जिसकी मैंने हत्या की' बेहद मार्मिक, प्रभावी और अन्तःकरण का आयतन बढ़ाने वाली कहानी है। यह कहानी अंधविश्वास के अंधेरे में बिला गई मनुष्यता के पुनः संधान की कहानी है। जब यह कहानी समाप्त होती है, पाठक के चित्त और विवेक के पट खुल चुके होते हैं। उसके भीतर की सोई हुई मनुष्यता जाग जाती है।

कन्नड़ भाषा में कहानी की समृद्ध परंपरा है। कन्नड़ भाषा के कहानीकारों और उपन्यासकारों ने भारतीय कथा साहित्य में बहुत कुछ नया जोड़ा है। इस पाठ्यक्रम के लिए संकलित कहानी के लेखक आनन्द का मूल नाम अजामपुर सीताराम था। वे आनन्द के नाम से लेखन करते थे। भारतीय साहित्य के मर्मज्ञ शिशिर कुमार दास के अनुसार आनन्द का जन्म 1902 में हुआ था। वे 1963 तक सृजन कार्य में लगे रहे। इसी वर्ष उनका निधन हुआ। उन्होंने संकलित कहानी 'लड़की जिसकी मैंने हत्या की' (कन्नड़ भाषा में शीर्षक 'नानू कोंडा हुडुगी') की रचना 1931 में की थी। यह कन्नड़ भाषा में चालीस के दशक की सबसे उल्लेखनीय कहानी मानी जाती है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि इसी कहानी से कन्नड़ कहानी में 'संश्लिष्ट आख्यान संरचना' की शुरुआत हुई। आनन्द के लेखन पर कन्नड़ कहानी के पिता माने जाने वाले महान सर्जक मस्ति वेंकटेश आयंगर का गहरा प्रभाव है। आनन्द की इसी कहानी के आधार पर प्रख्यात फिल्मकार एम.एस.सथ्थू ने रिलायंश बिग पिक्चर्स के लिए 'इजोडू' (IJJODU) नामक फिल्म बनाई है। बसवी प्रथा पर आधारित यह फिल्म जून, 2009 में अहमदाबाद अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में दिखाई गई थी। अभिनेत्री मीरा जैसमीन और अभिनेता अनिरुद्ध ने इस फिल्म में मुख्य भूमिका निभाई है। इस फिल्म को दर्शकों और आलोचकों की पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है। आनन्द की अन्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं– मरागति, सुसी विजया और संसार शिल्प। निश्चित रूप से आनन्द उन लेखकों में से एक हैं जिन्होंने भारतीय कहानी का चेहरा निर्मित किया है।

सुप्रसिद्ध कन्नड़ कथाकार आनंद की यह कहानी भारतीय समाज को विवेकशीलता और सहृदयता से देखने की एक प्रभावशाली कोशिश है। यह कहानी पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) शैली में लिखी गई है। इस कहानी का नेरेटर स्वयं लेखक है। प्राचीन भारतीय शिला शिल्पों में नेरेटर की गहरी दिलचस्पी है। उन्हीं का अध्ययन करने के लिए वह तत्कालीन सन् (1931) मैसूर प्रांत की यात्रा पर निकला है। घूमते–घूमते वह नागवल्ली नामक एक गाँव में पहुँचता है। वहाँ वह गाँव के प्रभावशाली व्यक्ति (मुखिया जैसे) श्री करियप्पा के वहाँ ठहरता है। करियप्पा जिस उदार भाव से उसका स्वागत करते हैं, वह उनके बड़प्पन के साथ ही उस भारतीय जीवन मूल्य का भी संकेतक

* प्रोफेसर, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

है जिसमें अतिथि देवता होता है। लेखक ने विस्तार से आतिथ्य का वर्णन किया है। इस संदर्भ में कहानी के इस अंश को देखा जा सकता है– 'बरामदे की बगल में ही एक कमरा था। घर के नौकर ने उसका दरवाजा खोलकर सफाई करके चटाई बिछाकर एक दीपक लाकर रख दिया। गाड़ीवान ने मेरा सारा सामान उस कमरे में रख दिया। उसका पैसा चुकता करके मैंने उसे भेज दिया। करियप्पा बोले, 'अब आप कपड़े बदल सकते हैं।'[1] मैंने कमरे में जाकर कपड़े उतारे और धोती कमीज बदलकर आ गया। इतने में किसी ने भीतर से गर्म पानी लाकर धर दिया। मैंने हाथ–पांव और मुंह धोया। आधे घंटे में भोजन भी निबट गया। बाद में बरामदे में पान सुपारी चबाते हुए बैठे रहे। मैंने उन्हें अपनी यात्रा के बारे में विस्तार से बताया। मेरा उनके घर में ठहरना उनके लिए बड़ी प्रसन्नता की बात थी। यह उनकी हर बात से झलक रहा था। बातों ही बातों में उनका भी परिचय मिला। खाता–पीता घर था। चार सौ रुपए लगान देते थे। घर भी खूब बड़ा–सा बना रखा था। गांव भर में वह सबसे बड़ा घर था। सबसे बढ़कर उनकी निष्कपट नम्रता ने मुझ पर प्रभाव डाला। यह गुण उनमें स्वाभाविक रूप से आया होगा मुझे ऐसा महसूस हुआ। मुझे लगा कि उनके घर में मेरा खूब सेवा सत्कार होगा।' यह कहानी का प्रथम भाग है। कहानी की वह प्राण वस्तु जिसके लिए इसको लिखा गया है, वह दूसरे खण्ड में है।

'नेरेटर' अर्थात लेखक सद्गृहस्थ है। वह अपनी यात्रा का विवरण अपनी धर्मपत्नी लक्ष्मी को पत्र के माध्यम से भेजता रहता है। नागवल्ली गाँव में थोड़े आराम और इत्मीनान के बाद वह एक विस्तृत पत्र अपनी पत्नी को लिखता है। यह कहानी उस कालखण्ड की कथा कहती है जब यात्राएं बैलगाड़ी से की जाती थीं और आज की तरह ई–मेल, एस.एम.एस या फोन और मोबाइल फोन की सुविधा नहीं थी। यह अकारण नहीं है कि पच्चीस–तीस वर्ष पहले की कविताओं और गीतों में भी चिट्ठियों का ही संदर्भ आता है। लोकगीतों में तो कबूतर, तोते और चिट्ठियों का ही संदर्भ है। इस कहानी का नेरेटर पत्र लिखकर उसे ठीक से लिफाफे में बन्द कर उसकी गोपनीयता को सुरक्षित करता है। जाहिर है, इसके बाद पत्र को लेटर बाक्स में डालना है। लेखक नहीं जानता कि लेटर बॉक्स कहाँ है। वह अपने कमरे से बाहर निकलकर देखता है तो एक लड़की बैठी हुई दिखती है। उस लड़की को बेटी सम्बोधित कर वह उससे लेटर बाक्स का पता पूछता है। लड़की आग्रह करके वह पत्र लेटर बाक्स में डालने के लिए ले लेती है। संवाद के इसी क्रम में लड़की का संक्षिप्त नाम सामने आता है– चेन्नी। चेन्नी अर्थात् चेन्नमा। पूरी कहानी इसी चेन्नी के इर्द–गिर्द घूमती है।

यह चेन्नी कौन है, कैसी है, यह भी जानते चलते हैं। लेखक ने उसका परिचय देते हुए जो लिखा है, सीधे–सीधे उसे ही देखते हैं– पहला परिचयः 'वह जरा मुस्कुराई। गाँव की उस बच्ची की विनयशीलता और सरलता देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ।'

दूसरा परिचय : 'चेन्नम्मा जन्म से ही मुस्कराहट लेकर आई होगी। मैंने जब भी देखा उसके सरल मुख पर मुस्कान ही दिखाई दी। वह मृदुभाव से इधर–उधर घूमती कोपलों में घुसकर फूलों के गुच्छों से होती हुई परिमल से परिपूर्ण ठंडी बयार के समान हृदय में नन्हीं तरंगे उठाने वाली सरल मुस्कान थी। आंधी में फंस जाए तो केवल धूप मिलती है, आंख और मुंह में मिट्टी

भर उठती है। उसमें सौरभ नहीं रहता। गांव की उस लड़की की हंसी! ओह! वह तो मल्लिका के फूल के समान थी। मल्लिका के फूल की शुभ्रता का क्या कहना है ? कैसा परिमल ?'[2]

चेन्नी अर्थात चेन्नमा के व्यक्तित्व में सुन्दरता, सहजता और सहृदयता का विरल संयोग है। लेकिन इसके ठीक बाद चेन्नी के जीवन की उस विडम्बना का पता चलता है, जो अंधविश्वास की कोख से पैदा हुआ है। रात के अंधेरे में चेन्नी नेरेटर के कमरे में आती है तो नेरेटर को पता चलता है कि वह 'बसवी' है। इस प्रसंग को समझने के लिए सीधे कहानी का यह अंश देखते हैं–

'अरे मालिक, ऐसा क्यों कहते हैं ? मेरी शादी नहीं हुई है, मैं बसवी हूँ ?'

'क्या ? क्या ? क्या कहा ?'

'मुझे बसवी बनाकर छोड़ दिया गया है मेरे मालिक।'

'बसवी, बसवी! इसके माने?'

'भगवान के नाम पर छोड़ दिया है।'

.....

.....

मैंने पूछा, 'भगवान के नाम पर छोड़ दिया है ? किसने ?'

'माता–पिता ने।'

'क्यों छोड़ दिया ?'

'मालिक, आज से आठ वर्ष पहले मैं बहुत बीमार पड़ी थी। तब मेरे माता–पिता ने मरडी भगवान के नाम मन्नत मानी कि यदि मैं ठीक हो जाऊँ तो उस भगवान के नाम पर मुझे बसवी छोड़ देंगे। मैं ठीक हो गई, मालिक।'

'तो तुम शादी नहीं करोगी?'

'नहीं, मालिक।'

'यूं ही रहोगी।'

'हां, मालिक।' [3]

यही वह स्थल है, जहाँ से आपको विडम्बना की पहचान करनी है। बेटी के बीमार होने पर माता–पिता उसके जीवन के लिए चिन्तित हैं। उनकी एक ही अभिलाषा है कि बेटी का जीवन बच जाए लेकिन इसका दूसरा पक्ष अंधेरे से भरा है। बेटी बच जाएगी तो उसे 'बसवी' बना देंगे। 'बसवी' देवदासी से मिलती–जुलती एक प्रथा थी। लेखक रेखांकित करना चाहता है कि क्या ईश्वर से उसका जीवन इसीलिए मांगा था कि बसवी बनाकर रोज–रोज मरने के लिए छोड़ देंगे। वह भी ईश्वर के नाम पर। यह तो ईश्वर और धर्म को कटघरे में खड़ा करना है। ईश्वर परम औदात्य का प्रतीक है फिर वह एक बच्ची के लिए 'बसवी' जैसे जीवन की सृष्टि क्यों करेगा! यह विशुद्ध अंधविश्वास का मामला है। लेखक आधी आबादी के पक्ष में इस कुरीति पर प्रहार करता है। कथा के क्रम में वह कई बार अपनी पत्नी को याद करता है। स्मरण बार–बार दिखाई देता है। यह लेखक के भीतर अपनी पत्नी के प्रेम का प्रकटीकरण तो है ही, स्त्री मात्र के प्रति उसके

सम्मान के भाव का भी प्रकटीकरण है। लेखक इस बात से आहत है कि यह कौन सी प्रथा है जो एक भावनाओं और सपनों से भरी बच्ची को बसवी बनाकर लोगों की 'सेवा' के लिए प्रस्तुत करने में गरिमा और संतोष का अनुभव करती है। जाहिर है, यह ईश्वर को कलंकित करने की कोशिश है।

नेरेटर चेन्नी से लम्बा संवाद करता है। उस संवाद के कुछ अंश उद्धृत करने से कहानी का मंतव्य और स्पष्ट होगा। नेरेटर परम्परागत ढंग से चेन्नमा को समझाना चाहता है। उसके भीतर धर्म और ईश्वर का जो गलत भय पैदा किया गया है, उसे निकालना चाहता है। वह कहता है– 'तो सुनो, स्त्री के लिए मान ही प्राण है। मान खो देने वाली स्त्री का जीवन बहुत खराब होता है। तुम लोगों के पास जो कुछ भी है वह मान ही है। तुम लोगों को उसे ऐसे ही नहीं बेचना चाहिए। ज्ञानियों का कहना है कि मानहीन स्त्री के लिए नरक में भी स्थान नहीं है।'

चेन्नमा प्रतिवाद करती है। उसके प्रतिवाद में वह सीख है जो उसके भीतर भर दी गई है। वह कहती है– 'मालिक, तो शादी वाली स्त्रियों के लिए, जिनके पति हैं, आपकी बात ठीक है, वे हमारी जैसी हो जाएं तो उन्हें जाति से बाहर कर दिया जता है। हमारे लिए तो आप जैसे कुलीनों की सेवा ही .....।'

लेखक फिर समझाता है– अरे चेन्नमा। तुम समझती नहीं। सुनो भगवान के नाम पर स्त्रियां यदि मान खो दें तो क्या वे पसंद करेंगे ? भगवान की मन्नत की है तो भगवान की सेवा करो, कौन मना करता है। वह छोड़कर इस प्रकार मान नहीं गँवाना चाहिए ?'

चेन्नमा इसका भी उत्तर देती है– 'मालिक आप जैसे कुलीन ही हमारे लिए भगवान हैं। आप की सेवा ही हमारा पुण्य है।'

इसके बाद इस प्रथा पर नेरेटर के अपने भाव चिन्तन के रूप में कहानी में आए हैं। कहानी की पंक्तियाँ हैं– 'उसकी बातें सुनकर मेरे हृदय में यह उद्‌गार निकला, 'हाय भगवान। तुम्हारे नाम पर तुम्हें खुश करने का कितना अन्याय और पाप चल रहा है।' कुछ देर कुछ बोला नहीं। कुछ देर सोचने में लगा रहा। यह इन लोगों की कितनी बड़ी मूढ़ता है। संसार में ऐसी घृणित परिपाटी भी है। भगवान के नाम पर छोड़ देना तो सुना है। वह तो अपनी–अपनी भक्ति है। पर यह काम ? इसी प्रकार लोग कैसे हीनकार्य कर रहे हैं ? इनका क्या बनेगा ? यह लड़की सचमुच गांव की एकदम अनजान भोली युवती है। स्त्रियों का लक्षण ही कुछ और होता है। यह अपनी जनता के हीन रिवाज की शिकार भोली–भाली लड़की है। इसका दृढ़ विश्वास है कि जो यह कह रही है, उससे भगवान की मन्नत पूरी होगी। हाय भगवान! माता–पिता ही अपनी बेटी को पाप के गर्त में धकेलते हैं। उनका क्या होगा ? इसका क्या होगा ? उन्होंने यह समझा होगा कि उनके मन्नत मानने से बेटी मरने से बच गई। परंतु प्रत्येक दिन वह जो काम करती है, उससे उसके जीवन का स्त्रीत्व ही दिन–दिन मर रहा है। यह उन्हें कैसे समझाए, जब यह बच्ची थी तब एक क्षण में मर जाने के बदले अब हर दिन, हर क्षण, तिल–तिल करके मर रही है, क्या वह यह बात समझते हैं ? नहीं, यही तो आश्चर्य की बात है, उसका पूर्ण विश्वास है कि वह जो कर रही है, ठीक है। वह कार्य भगवान को प्रिय है। उसके बचाए जीवन को इस प्रकार उपयोग में लाए तो

उसकी प्रिय सेवा होगी ? विवाहित स्त्री जिस कार्य को बुरा मानती है, वह अपने उसी कार्य को जीवन का धर्म मानकर चल रही है। इसमें उसके माता–पिता सहायक हैं। बेचारे, वे भी भला क्या करें ? वे भी जाति के रिवाजों की बलि हो गए हैं।'

यह कहानी इसी बात को दर्ज करने के लिए लिखी गई है। लम्बे तर्क–वितर्क के बाद चेन्नमा नेरेटर की बातों का मर्म समझ जाती है। उसे इस बात का बोध हो जाता है कि उससे जो कुछ कराया जा रहा है, उससे भगवान कभी प्रसन्न नहीं होंगे। यह भगवान की इच्छा नहीं है। भगवान अपनी संतान से कोई ऐसा कर्म क्यों कराएंगे जिससे मान–सम्मान और आत्मा को क्षति पहुँचती हो। लेखक रोते हुए कहता है– 'चेन्नमा, भगवान तुम्हारी रक्षा करें।'

इस कहानी का अंत इस अर्थ में सुखद है कि चेन्नमा को 'सत्य' का बोध हो जाता है लेकिन अपनी पूर्णता में यह कहानी दुखान्त है। सुबह में नेरेटर को पता चलता है कि कुएं में चेन्नमा की लाश मिली है। यह खबर सुनकर वह बेहोश हो जाता है। लोग पानी छिड़ककर उसे होश में लाते हैं। कह सकते हैं कि इस घटना से लेखक को काठ मार गया है। उसकी समझ में नहीं आ रह है कि यह क्या हो गया है! रात में जब वह लौटी थी तब लेखक को लगा था कि उसने एक बच्ची को नारकीय जीवन से उबार लिया है लेकिन यहाँ तो पंक्षी ने पिंजड़ा ही छोड़ दिया। और इस तरह की घटनाओं में जैसा होता है वैसा ही चेन्नमा के साथ भी हुआ। चेन्नमा ने पुलिस रिकार्ड के अनुसार आत्महत्या की है। बीस वर्ष की उम्र में जब सपने आकार लेना शुरू करते हैं, चेन्नमा मृत्यु की गोद में सो गई। वह एक घृणित प्रथा की बलि चढ़ गई। तथ्यात्मक रूप से उसने आत्महत्या की लेकिन दरअसल वह एक हत्या थी। उसके माता–पिता भी घृणित प्रथा के निरीह शिकार थे। चेन्नमा यदि जीवित रहते हुए बसवी रहने से इंकार कर देती तो अंधविश्वास में डूबा समाज उसे जीने नहीं देता। मृत्यु उसकी चाहत नहीं, विवशता है। लेखक आत्मग्लानि में डूबा है कि यदि उसने चेन्नमा को न समझाया होता तो शायद वह मृत्यु का वरण न करती। जाहिर है, यह नेरेटर अर्थात् लेखक के भीतर की मनुष्यता की आवाज है। कहानी का शीर्षक भी इसी आत्मग्लानि का बोध कराता है। कहानी की अंतिम पंक्ति इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इस पूरी घटना पर एक स्त्री अर्थात लेखक की पत्नी लक्ष्मी की राय क्या होगी ? अर्थात् एक स्त्री के दुःख, बसवी की प्रथा और एक युवती की अकाल मृत्यु पर एक स्त्री की प्रतिक्रिया सर्वोपरि होगी। उम्मीद की जा सकती है कि लक्ष्मी में वैसा ही विवेक और आदर्श होगा जैसा कि उसके पति अर्थात् कहानी के नेरेटर में है। मनुष्यता में आस्था का विवेक और आदर्श।

कथाकार आनंद की इस कहानी की भाषा गत्यात्मक है। अनुवाद में भी कहानी पढ़ते हुए भाषा की गतिशीलता का बोध बना रहता है। भावों की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए जिस भाषिक सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, वह आनंद के पास है। इस कहानी के अनुवादक श्री बी. आर. नारायण की भी प्रशंसा करनी होगी। इस कहानी को पढ़ते हुए यह प्रतीत ही नहीं होता कि यह मूल रूप से हिन्दी में लिखी गई कहानी नहीं है। पाठक को कहीं भी भाषिक गतिरोध का सामना नहीं करना पड़ता।

कथाकार आनंद अपनी बात को कितने प्रभावी ढंग से कहते हैं, यह देखने के लिए इस अंश को पढ़ना पर्याप्त होगा– 'चेन्नमा ने मुंह न खोला, सिर फिर से झुका लिया। मेरे देखते ही देखते आंसू की दो चमचमाती बूंदें उसके गालों पर से फिसल गईं। वही उसका दिया मौन उत्तर था। उसकी शुभ्र आत्मा को घेरे अज्ञान के पर्दे को उतार फेंकना मेरा काम था। किसी भी स्थान पर पहुंचने के लिए एक रास्ता पकड़कर उस पर कदम रखकर चलते–चलते वह स्थान समीप ही आएगा, इस विश्वास में बहुत दूर चलने के बाद कोई रास्ते में मिले और यह कहे कि हम जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह ठीक रास्ता नहीं, बल्कि हम अपने गंतव्य से दूर चले जा रहे हैं, तो कैसा लगेगा? मैंने अपनी बातों से चेन्नमा के मन पर लगभग ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न किया था।'[3]

कहना न होगा कि आनंद की भाषा में मर्म को छूने की सामर्थ्य है। वे जो कहना चाहते हैं, उनकी भाषा उससे इंच भर भी इधर–उधर नहीं जाती। उदाहरण के लिए इस अंश को देखिए–

'मुझे इतना ही याद है। जब होश आया तब देखा वहां खड़े दो–तीन लोग मेरे मुंह और सिर पर पानी छपछपा रहे हैं। मेरी नाक से खून बह रहा था। मुझे किसी बात का होश नहीं था। शव के पास आकर बड़ी आशा से देखा कि और जान है कि नहीं। वह केवल भ्रांति थी। यह भ्रम देखकर मन ही मन मैंने अपने से कहा, 'यह कैसा पागलपन है!' उसकी देह में छिपा वह हिमकण कभी का उड़ चुका था। वह पुण्य या पाप से परे हो गया था। अमृत सूख चुका था। बची थी केवल विष की खली।'[4]

इस कहानी को पढ़ते हुए इसके लेखन में अपनाई गई शैलियाँ न सिर्फ रोचक हैं बल्कि कहानी के मंतव्य को प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट करने में सहायक भी हैं। इस कहानी में पूर्व दीप्ति शैली, संवाद शैली और एकालाप शैली का प्रयोग है। कहानी का आरम्भ पूर्वदीप्ति शैली में हुआ है। पाठक कहानी के आरंभ में ही उससे बंध जाता है। लेखक के अतीत का चलचित्र उसे अपने प्रभाव में ले लेता है। कहानी के मध्य और अंतिम हिस्से में संवाद शैली का मुख्य रूप से और एकालाप शैली का आंशिक रूप से प्रयोग किया गया है। यह कहानी संवादों के बीच ही खुलती है। 'नेरेटर' के एकालाप से कहानी का मंतव्य बिलकुल साफ हो जाता है। कहने का आशय यह कि इस कहानी की भाषा और शैली उसके कथ्य का अविभाज्य अंग हैं। इन्हें अलगाकर देखना उचित नहीं होगा।

आनंद ने अपनी इस कहानी में ईश्वर के नाम पर प्रचारित–प्रसारित 'बसवी' नामक कुप्रथा पर करारा और विवेक सम्मत प्रहार किया है। उन्होंने यह चित्रित किया है कि अंधविश्वास और भय मनुष्य को सही मार्ग से हटा देते हैं। यह कहानी इस बात को भी रेखांकित करती है कि औदात्य के प्रतीक, मनुष्यता के मूल स्रोत ईश्वर के नाम पर शोषण के तरह–तरह के चक्र समाज में मौजूद हैं। कभी नवजागरण की रोशनी में 'सती प्रथा' के विरुद्ध आवाज उठी थी और भारतीय समाज ने 'सती प्रथा' को स्त्री विरोधी और मनुष्यता के विरुद्ध मानते हुए उसका बहिष्कार किया था। आनंद की यह कहानी 'बसवी प्रथा' के अस्वीकार का साहस और मानस–दोनों पैदा करती है। यह सिर्फ कर्नाटक नहीं, भारत की आधी आबादी के पक्ष में लिखी गई एक अविस्मरणीय

कहानी है। भारत सरकार इस प्रकार के शोषण की सभी प्रथाओं के विरुद्ध है और धीरे–धीरे इस प्रकार की प्रथाएँ या तो समाप्त हो चुकी हैं या तेजी से हो रही हैं। यदि कोई कहानी या कविता प्रतिरोध का मानस और साहस पैदा कर पाए तो यह उसकी सबसे बड़ी सफलता होती है। आनंद की इस कहानी का उज्ज्वल पक्ष यही है। यह कहानी उस सुबह की प्रतीक्षा की कहानी है जब समाज में शोषण की कोई जगह न होगी। कहना होगा कि चेन्नी जैसी स्त्रियों की आत्मा को तभी शांति मिलेगी।

## संदर्भ

1. कन्नड़ कहानियाँ, अनुवादक– वी.आर.नारायण, प्रकाशक–नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ. सं–29
2. वही, पृ.सं–31
3. वही, पृ.सं–38
4. वही, पृ.सं–42

# काबुलीवाले की बंगाली बीवी : एक स्त्री की संघर्ष गाथा

प्रो. नीरू*

अस्तित्ववादी दर्शन कहता है कि सच्चा अस्तित्ववान व्यक्ति वही है जो 'चयन की स्वतंत्रता' के अपने अधिकार का निरंतर उपयोग करता है। 'हमारा अस्तित्व शून्य में रूपायित नहीं होता। देश–काल के एक निश्चित तटबंध में वह आकार ग्रहण करता है, स्वजनों–परिजनों के मधुर–कटु व्यवहार से प्रभावित होता है, भौतिक परिस्थितियाँ अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता से उस पर असर डालती हैं। इस प्रकार हमसे बाहर कितना कुछ है जो हमारे अस्तित्व की संरचना में अहम भूमिका निभाता है मगर जिसका 'चयन' हमारे वश में नहीं है। हम अपने माँ–बाप को नहीं चुन सकते, अपने रंग–रूप, नयन–नक्श आदि को नहीं चुन सकते.....यहाँ 'चयन' का विकल्प है ही नहीं। तो क्या यंत्रवत् हमारा अस्तित्व उनकी सापेक्षता में आकार ग्रहण कर ले? यदि ऐसा होता है तो क्या हम 'मनुष्य' कहलाने के अधिकारी हैं? सृष्टि के सबसे विवेकवान् प्राणी! निश्चित ही नहीं। मनुष्य इस 'बाहरी परिवेश' को चुन तो नहीं सकता मगर विवेकधर्मा होने के कारण वह इसके प्रति अपने दृष्टिकोण का चुनाव तो कर सकता है। दृष्टिकोण का यही चुनाव उसके भावी जीवन की दिशा ही निर्धारित नहीं करता, उसके अस्तित्व के 'सारतत्त्व' को भी निर्धारित कर देता है। 'चयन की स्वतंत्रता' का विवेकपूर्ण उपयोग ही उसको सच्चा 'अस्तित्ववादी' बनाता है।'[2] बल्कि एक कदम और आगे बढ़कर कहें तो सच्चा अस्तित्ववान व्यक्ति वही है जो चयन के इस अधिकार का केवल उपयोग ही नहीं करता, वरन् उस चयन के बाद उससे जुड़े जोखिमों की ज़िम्मेदारी भी वह स्वयं ही वहन करता है। कभी भगवान पर, कभी भाग्य पर, कभी समाज पर दोषारोपण कर वह उस ज़िम्मेदारी से भागता नहीं। वह जूझता है उन जोखिमों से। जूझने के इस क्रम में वह टूटता भी है, बार–बार टूटता है मगर वह झुकता नहीं, वह रुकता नहीं। उसके चरण कभी हार नहीं मानते क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि 'अन्य होंगे चरण हारे। और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे।' हारने वाले चरण किसी और के हो सकते हैं, उसके नहीं। राह के काँटों को अपने सारे संकल्प सौंप कर लौट आने वाले व्यक्ति कोई और हो सकते हैं, वह नहीं।

अद्भुत जिजीविषा, अदम्य साहस और दृढ़ इच्छाशक्ति की स्वामिनी ऐसी ही एक अस्तित्वसंपन्ना स्त्री की विजय–गाथा है –'काबुली वाले की बंगाली बीवी'।[1] सुष्मिता वंद्योपाध्याय द्वारा 'काबुलीवालार बंगाली बौ' शीर्षक से मूल रूप से बांग्ला में लिखित यह रचना उनके अपने जीवन पर आधारित है। बंगाल की एक स्वतंत्रचेता हिन्दू ब्राह्मण युवती का एक अफगानी युवक से प्रेम, परिवारजनों की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह और विवाहोपरांत अफगानिस्तान–प्रवास, अफगानिस्तान में जानलेवा परिस्थितियों के बीच उसका संघर्ष और अंततः वतन–वापसी .....

* प्रोफेसर, यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

इन्हीं तंतुओं से इस रचना का ताना–बाना बुना गया है। अपनी अंतिम परिणति में ही नहीं, वरन् अपनी समग्रता में यह रचना एक स्त्री के अपराजेय साहस का अभिनंदन करती है।

समूची रचना का गहन पाठ स्पष्ट कर देता है कि 'आज़ादी' एक ऐसा लक्ष्य था, सुष्मिता ने सदा ही जिसके 'चयन' के लिए प्रयास किया और इसी प्रयास में अनेक जोखिमों को भी उसने मोल लिया। बचपन से ही वह स्वतंत्रचेता है..... अपने निर्णय खुद लेने वाली। किशोरावस्था और युवावस्था के दिनों के उसके अनेक दुस्साहसी कारनामे रचना के पृष्ठों पर यहाँ–वहाँ बिखरे पड़े हैं। कभी अभिनेत्री बनने के लिए मुंबई भागने का प्रयास और कभी 17 वर्ष की तरुणाई में चोरी–छिपे 'पुरी' जाने के लिए अपना सोने का कड़ा बेचने का प्रयास! पितृसत्तात्मक मान्यताओं में साँस लेता उसका परिवार भला एक लड़की के इस 'दुस्साहस' को कैसे सहन कर सकता था! इसलिए बात–बात पर माँ की डाँट–डपट और रोक–टोक जारी रहती थी। साथ ही यह धमकी भी कि यदि न मानी तो पिताजी को बता दूँगी। पिता बेंत से पीठ पर धनाधन पीटते।[3] मगर जितना पीटते थे वे, सुष्मिता उतना ही दबंग होती चली गई और उसकी शैतानियाँ उतनी ही बढ़ती गईं। क्या यह प्रतिरोध था उसका? मनमाना करने की अपनी 'आज़ादी' को पाने की तड़प थी उसकी? क्या इसी पृष्ठभूमि के कारण उसका स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व विकसित हो रहा था? कॉलेज, थियेटर, रिहर्सल, अभिनय, घूमना–फिरना, खिलखिलाना, लड़कों से दोस्ती, सौरभ से प्यार, उसकी दग़ाबाज़ी पर पूरे साहस के साथ उसकी बेवफाई का पर्दाफाश [4], घृणा और धिक्कार के साथ उसका त्याग! कितने ही ऐसे प्रसंग हैं जो प्रमाणित करते हैं कि सुष्मिता एक साहसी, आज़ादख़्याल युवती के रूप में विकसित हो रही थी।

सुष्मिता का सबसे साहसिक निर्णय! विदेशी, विधर्मी जानबाज से उसका विवाह! क्या आसान रहा होगा यह निर्णय? एक हिन्दू ब्राह्मण बंगाली युवती का एक अफ़गानी मुस्लिम युवक से प्रेम! परिवार की आस्थाएँ–मान्यताएँ सुष्मिता के अवचेतन में कहीं न कहीं क्रियाशील तो रही ही होंगी। जानबाज से प्रेम कहीं इन्हीं कठोर मान्यताओं और वर्जनाओं की प्रतिक्रिया तो नहीं थी? आज़ादी की चाह! जाने–अनजाने! आपाततः तो यही दिखाई देता है कि यह युवावस्था का एक स्वाभाविक आकर्षण था मगर रचना यह व्यंजित भी कर ही देती है कि यह अपने निर्णय खुद लेने की, अपनी आज़ादी की चाह ही थी जो इस रूप में व्यक्त हुई थी।

यहाँ से शुरू होती है लेखिका के संघर्ष की मार्मिक गाथा। 'आज़ादी' अपने साथ कितने ही 'जोख़िम' भी लेकर आती है। पहला जोख़िम – मायके का साथ छूट गया। दूसरा जोख़िम – जिन गली–मुहल्लों में लेखिका रहना चाहती थी, एक मुस्लिम से विवाह के कारण वहाँ किराए पर घर नहीं मिल रहा था। मिलता था तो विरोध के कारण जल्दी ही छोड़ना पड़ता था। मगर इस विरोध ने ही एक बार फिर उसे ताकत दी, जूझने की ताकत! वह लिखती है–'दलालों ने तो मुँह पर कह दिया, "अच्छे परिवेश में घर नहीं मिलेगा। क्योंकि मुस्लिम होने के कारण कोई घर भाड़े पर देना नहीं चाहता।" जादवपुर में एक फ्लैट भाड़े पर लिया था, वहाँ मुहल्ले में मुझे लेकर आलोचना शुरू हो गई। कोई हमसे बात न करता। हमारे घर के सामने खड़ा न होता। मुहल्ले के क्लब में मीटिंग हुई। मीटिंग का मुद्दा था – ब्राह्मण का परिचय देकर फ्लैट लिया है पर है

मुस्लिम। उन्हें पीट–पीटकर मार डाला जाए। मुस्लिम से शादी करने के कारण क्या मेरा पितृ परिचय भी झूठा पड़ गया?.....मैं भी ज़िद पर अड़ी थी। और कहीं नहीं जाएँगे। यहीं रहेंगे। देखूँगी इन्सान कितने घृणित हो सकते हैं।'[5]

और फिर कुछ समय बाद आता है वह पल जिसमें लेखिका जो निर्णय लेती है, वह उसे विपत्तियों के अंधकूप में धकेल देता है। वह निर्णय था – अपने पति जानबाज के साथ मध्ययुगीन रूढ़िवादिता के अंधेरे में लिपटे देश अफगानिस्तान में जाने का निर्णय। एक ऐसा देश जिसके बारे में वह कुछ ख़ास नहीं जानती थी मगर फिर भी पति–प्रेम की डोर थामे वह उस देश में प्रवेश कर जाती है। और तब एक–एक कर खुलती हैं वे भयावह सच्चाइयाँ जिनके आतंकी साए में उसके भावी जीवन की शोकांतिकाएँ लिखी जानी थीं।

इन भयावह सच्चाइयों की इबारतें पितृसत्ता द्वारा भी लिखी गईं और छद्म धर्मसत्ता द्वारा भी। लेखिका ने अफगानी धरती पर पितृसत्ता और छद्म धर्मसत्ता (धर्मान्धता) द्वारा खेले जा रहे क्रूर अमानवीय खेल को बड़ी निर्भीकता के साथ उकेरा है। अफगानिस्तान की धरती पर कदम रखते ही उसका साक्षात्कार होता है –मौत की आँखमिचौली से। कैसा है यह देश! कभी भी, कहीं भी तोप के गोले दगने शुरू हो जाते थे, गोलियाँ चलती थीं। बड़े–बड़े टैंक इशारे के इंतज़ार में खड़े रहते थे और इशारा पाते ही मौत बनकर चल पड़ते थे।[6] सड़कों पर यहाँ–वहाँ लाशें बिछी रहती थीं। कहीं कटे सिर और कहीं सिर विहीन धड़ बिखरे रहते थे। राजसत्ता और धर्मसत्ता की दुरभिसंधियों ने अफगानिस्तान के सामान्य जनजीवन को आतंक के साए में जीने और मरने के लिए विवश कर दिया था। लेखिका के सामने धीरे–धीरे वहाँ का समुचा इतिहास खुलता है – सोवियत रूस के हाथों की कठपुतली बना नजीबुल्लाह, इस्लामी शासन चाहने वाले मुजाहिदीन, कुरान की ग़लत व्याख्याएँ कर जनजीवन को बंधक बनाते 'तालिबान'..... सबने मिलकर अफगानिस्तान को तबाह कर दिया। युद्ध, युद्ध और युद्ध! कभी खत्म न होने वाला युद्ध। निरंतर बमबारी और गोलाबारी में गाँव के गाँव तबाह हो रहे थे। शहर भी कहाँ बच पा रहे थे। काबुल शहर भी जगह–जगह उजड़ चुका था। स्कूल, अस्पताल, पोस्ट ऑफिस, बिजली के खंभे सब नष्ट हो चुके थे। सामान्य जनजीवन मूलभूत सुविधाओं से भी मरहूम हो चुका था। 'तालिबानी आतंक' धीरे–धीरे सिर उठाता जा रहा था। जिस तालिबान को अफगानी जनता शुरू–शुरू में अल्लाह का दूत समझकर खुश हो रही थी और उनके उभार को एक ऐतिहासिक क्रान्ति और युगांतर समझ रही थी, उन्हीं का असली रूप कुछ और ही था। लेखिका एक जगह लिखती है, 'हुक्म जारी किया गया। यदि कोई नमाज़ नहीं पढ़ेगा तो उसका सिर क़लम कर दिया जाएगा। दाढ़ी न रखने पर पीटा जाएगा। औरतों को बुर्का पहनना होगा। कोई महिला घर से बाहर नहीं निकल सकती। घर में किसी आयोजन में ढोल नहीं बजेगा। कोई नाच–गा नहीं सकता। हर पुरुष को मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ना होगा, वर्ना उसे पकड़कर उसका सिर मुँडाकर, मुँह पर कालिख़ पोतकर गाँव में घुमाया जाएगा। कोई महिला भले ही मृत्यु–शय्या पर क्यों न हो उसे किसी पुरुष डॉक्टर को बुलाकर दिखाया नहीं जा सकेगा। ये सारे अत्याचार कहा गया कुरान में

लिखे हुए हैं।'[7] तालिबान के निर्देशों को न मानने का एक ही मतलब था – मौत। अफगानी जीवन इस आतंक के साए में सिसकने के लिए मजबूर हो चुका था।

स्त्रियों के लिए स्थिति और भी भयावह थी। पितृसत्ता ने उनके जीवन को और भी नारकीय बना दिया था। लेखिका ने देखा कि माता–पिता वर पक्ष से एक मोटी रकम लेकर अपनी बेटियों का विवाह करते हैं। बेटियाँ माता–पिता के लिए बैंक के 'फिक्स्ड डिपॉज़िट' की तरह हैं। फिर वरपक्ष द्वारा खरीदी हुई ये लड़कियाँ जीवनभर पति के परिवार की गुलामी करती हैं। दो वक्त की रोटी और शरीर ढकने के कपड़ों की एवज़ में यह गुलामी जारी रहती है। हर साल बच्चे जनते–जनते वे अपना स्वास्थ्य गँवा बैठती हैं। चिकित्सा के अभाव में वे भयंकर रोगों का शिकार बन जाती हैं। पुरुषों की बहुविवाह प्रथा ने स्त्रियों के जीवन को और भी विषम बना दिया है। नई दुल्हन के आने पर पुरानी बीवियाँ सौतिया डाह में जलने लगती हैं। पति के प्रेम को तरसती–तरसती ही इस दुनिया से विदा भी हो जाती हैं। घर के पुरुषों के अलावा किसी अन्य पुरुष से बात करने पर भी उन्हें लांछित किया जा सकता है और कड़ी से कड़ी सज़ा दी जा सकती है। बदहाली और ग़रीबी के कारण अफगानिस्तान के पुरुष प्रायः व्यापार के लिए भारत आदि देशों का रुख़ कर लेते हैं और बरसों तक वापिस नहीं लौटते। पीछे रह जाती हैं उनके वियोग में तरसती–सिसकती उनकी पत्नियाँ जो इस वियोग के साथ–साथ ससुरालियों के मर्मांतक अत्याचार भी सहने के लिए विवश होती हैं। कोई शरीर की भूख से हार कर पराए पुरुषों से संबंध बना लेती है, कोई–कोई 'मैना' जैसी तो अपने ही ससुर के साथ।[8] निपट बेसहारा होने के कारण वे अपने बच्चों को भी रोग–शोक, भूख और बदहाली से नहीं बचा पातीं और बहुधा अपनी आँखों के सामने अपने बच्चों को दम तोड़ते देखकर मातम मनाती रह जाती हैं। ग़लत इलाज के कारण गुलगुटी के बेटे की खामोश मृत्यु पाठक को भीतर तक दहला देती है। लेखिका लिखती है –'सुबह से रात तक उस तीन वर्ष के बच्चे को ग्यारह निशानों तक दवा पिलाई गई थी। अगले दिन सूर्य जब पश्चिम में ढल रहा था, दिन की शेष रोशनी पहाड़ों के शीर्ष को छू रही थी, मैदान की गाएँ घरों को लौट रही थीं, पक्षी चहचहाते हुए घोंसलों की ओर लौट रहे थे, ठीक ऐसे ही समय में गुलगुटी के लड़के ने इस दुनिया से विदा ली। माँ तब उसे स्तनपान करवा रही थी। माँ का हाथ स्नेह से बेटे के सिर पर फिर रहा था। ठीक उसी समय ताई सास 'आबू' आकर बोली, "किसे दूध पिला रही है?" गुलगुटी समझ गई उसका बेटा, माँ कहकर अब उससे कभी नहीं लिपटेगा। तब उसने लड़के को गोद से उतार बिस्तर पर लिटा दिया। फिर हल्के कदमों से कमरे से बाहर निकल गई।'[9] ओह! कैसी खामोश मृत्यु! कैसी मर्मांतक वेदना! मगर कितनी मूक!

अफगानिस्तान में लेखिका का दाम्पत्य–जीवन ऐसे ही विषम परिवेश में शुरू होता है। पति जानबाज के भरे–पूरे कुनबे में उसका नया नामकरण होता है –'साहब कमाल'। शीघ्र ही उसे अहसास हो जाता है कि 'साहब कमाल' नहीं, वास्तव में अब वह 'साहब (पति) का माल' बन चुकी है। बंगाल से अफगानिस्तान आई अनेक लड़कियों की तरह ही उसे भी एक 'अस्तित्वहीन' जीवन जीना पड़ेगा अब। पति–प्रेम के सहारे मन को समझा–बुझा कर वह जीवन बिता ही रही थी कि

एक दिन पति उसे बिना बताए हिंदुस्तान चला जाता है। यह कपट, यह विश्वासघात उसे अवसन्न कर जाता है।

गहन अवसाद के पल! दूसरी बहुत–सी स्त्रियों की तरह उसका पति भी छल कर गया उसके साथ। तो क्या दूसरी स्त्रियों की ही तरह वह भी इस छल को चुपचाप स्वीकार कर ले? रोती–बिसूरती रहे और ससुरालियों के अत्याचार सहती रहे! नहीं। यह स्वीकार्य नहीं उसे। यह नियति कदापि स्वीकार्य नहीं उसे। वह बदल डालेगी इस नियति को। अपने लिए एक अलग भविष्य का 'चयन' करेगी वह। वह लौटेगी वापस अपने वतन! अपने हिंदुस्तान! ससुरालियों से जूझकर। 'तालिबान' से भिड़कर। उस अफगानिस्तान से अकेले ही वतन–वापसी करेगी जिसमें कोई लड़की अकेली घर से बाहर कदम भी नहीं रख सकती। 'आज़ाद' होगी वह। मुक्ति की उसकी छलांग को कोई रोक नहीं पाएगा।

संकल्प लेना तो आसान था मगर इसे अंजाम तक पहुँचाना आसान था क्या? कितने 'जोखिम' जुड़े हुए थे इस संकल्प के साथ! पूरी रचना का अधिकांश इन जोखिमों से लेखिका के जूझने के साहसिक अभियान की ही कथा कहता है। मुक्ति का उसका पहला प्रयास विफल रहता है। अपनी पालिता पुत्री तिन्नी के साथ वह कितने–कितने कष्ट सह कर और कैसे–कैसे संकटों से लोहा लेती हुई पाकिस्तान के रास्ते वतन–वापसी करने का प्रयास करती है मगर सफल नहीं होती। फिर भी हार नहीं मानती वह। भूख–प्यास, मार–कुटाई सब कुछ सहती हुई भी वह अपने लक्ष्य को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देती। एक बार फिर भागती है वह। राह में अपनों द्वारा ही पकड़ी भी जाती है। तालिबान द्वारा भी घेर ली जाती है। मगर सिर पर कफन बाँधकर निकली थी वह इस बार। सब पर मशीनगन तान देती है और बेहद साहस और चतुराई से अपने उद्देश्य में सफल हो ही जाती है। 'मुक्ति, मुक्ति, एई आकाशे आमार मुक्ति आलोए आलोए'। जिस 'मुक्ति' का स्वप्न वह देख रही थी, वह उसे हासिल हो ही जाती है।[10]

बंगाल से बहुत–सी लड़कियाँ अफगानी लड़कों की बीवियाँ बनकर अफगानिस्तान जाती हैं और फिर वहाँ एक त्रासद–यातनामय जीवन को ही अपनी नियति समझ एक गुमनाम–सा जीवन बिताती रहती हैं। उसी बंगाल से, वैसी ही परिस्थितियों में आकर भी लेखिका एक अलग नियति कैसे पा सकीं? एक 'अस्तित्वहीन' जीवन उसने कभी स्वीकार नहीं किया। साहस का संबल उसने कभी नहीं छोड़ा। उसने 'चुनौतियों' को 'अवसरों' में तब्दील किया। अफगानिस्तान में कोई प्रशिक्षित महिला चिकित्सक नहीं थी, उसने अपनी शिक्षा का उपयोग वहाँ के लोगों को चिकित्सा–सुविधा उपलब्ध कराने में किया। एक सर्वथा अनजाने देश के लोगों के साथ भी उसने प्रेम का संबंध जोड़ा, स्वयं को 'स्वीकार्य' बनाया। बदले में उसे भी प्रेम और सम्मान मिला। वह लिखती है –"यहाँ काफी बंगाली लड़कियाँ आई हैं। उन्हें कोई पूछता तक नहीं। सम्मान भी नहीं करता। मेरी बात अलग थी। मुझे रास्ते में देखते ही लोग हालचाल पूछते। किसी के घर पर कोई आयोजन हो तो बुला ले जाते।"[11]

'काबुलीवाला' गुरुदेव रवींद्रनाथ की लेखनी के स्पर्श से अमर हो गया। रहमत नाम का वह पात्र सचमुच रहम, करुणा और वात्सल्य के रंगों से उकेरा गया था। क्या बंगाल की हर मिनी

हर काबुलीवाले में उसी रहमत को ढूँढती है? उस पर सरलता से विश्वास कर लेती है? अफगानिस्तान की धरती पर पहुँचकर ये 'रहमत' क्यों नहीं मिलते उसे? बिलकुल नहीं मिलते, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता मगर प्रायः नहीं ही मिलते। लेखिका एक जगह लिखती है – "मैं यहाँ किसी पर भरोसा नहीं कर सकती। तो क्या अच्छे लोग नहीं हैं? न ही अगर हों तो द्रानाई चाचा ने इतना सब क्यों किया? सभी तो 'गार्डन ऑफ वीनस के शाईलक नहीं हैं? कोई–कोई रवींद्रनाथ का काबुलीवाला यानी रहमत खान भी है।"[12] असंख्य क्रूर व्यक्तियों के बीच भी ये चंद 'रहमत' ही हैं जो मानवता में लेखिका के विश्वास को टूटने नहीं देते। अपने अदम्य साहस और जिजीविषा के साथ–साथ ये चंद रहमत ही हैं जिनके कारण लेखिका की 'मुक्ति की उड़ान' संभव हो पाती है। रचना में इन सबका अभिषेक का 'चयन' कर लेखिका अंततः मानवता की अपनी पक्षधरता का ही परिचय देती है और अपने 'अस्तित्व' के 'सारतत्त्व' की विशिष्टता को भी प्रमाणित कर देती है।

**संदर्भ**


1. वंद्योपाध्याय, सुष्मिता : काबुलीवाले की बंगाली बीवी (अनुवाद : नीलम शर्मा 'अंशु'), नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2005 (दूसरी आवृत्ति)
2. नीरू : आत्मकथा के परदे पर अस्तित्व की तलाश का चलचित्र : जो कहा नहीं गया (लेख), अहमद, एम. फ़ीरोज़ (संपादक) : वाड्.मय, 2011, पृ. 297–298
3. वंद्योपाध्याय, सुष्मिता : काबुलीवाले की बंगाली बीवी, पृ. 44–45
4. पूर्वोक्त, पृ. 83–86
5. पूर्वोक्त, पृ. 130–131
6. पूर्वोक्त, पृ. 11
7. पूर्वोक्त, पृ. 80
8. पूर्वोक्त, पृ. 136
9. पूर्वोक्त, पृ. 31
10. रचना का अंत 1995 में लेखिका के मुक्ति–अभियान की सफलता के साथ होता है मगर अपनी वास्तविक ज़िंदगी में वह 2013 में पुनः एक बार पति के साथ अफगानिस्तान लौटती है और एक सुबह गोलियों से छलनी उनका शव एक मदरसे के बाहर पाया जाता है। देखें : hi.m.wikipedia.org
11. वंद्योपाध्याय, सुष्मिता : काबुलीवाले की बंगाली बीवी, पृ. 128
12. पूर्वोक्त, पृ. 128

# कुर्रतुल–ऐन हैदर की कहानियों में समय और समाज

डॉ. धनंजय चोपड़ा*

'आग का दरिया' जैसी अद्भुद कृति रचने वाली कुर्रतुल ऐन हैदर किस्सागोई के बहाने जब अपने समय व समाज का अतीत और वर्तमान बड़ी ही साफगोई से रखती हैं, तो लगता है कि हम शब्दों के साथ–साथ आगे बढ़ रहे हैं। वास्तव में ऐनी आपा की यह खूबी महज इसलिए नहीं कि वे एक बेहतरीन किस्सागो थीं, बल्कि इसलिए कि वे एक प्रतिभाशाली पत्रकार भी रहीं। वास्तव में बहुत कम लोग जानते हैं कि उर्दू की बड़ी लेखिका ऐनी आपा यानी मुसन्निफा कुर्रतुल ऐन हैदर अंग्रेजी भाषा की बड़ी पत्रकार भी रहीं। वे बी0बी0सी0 लंदन से जुड़ी रहीं। द टेलीग्राफ की रिपोर्टर और इम्प्रिंट पत्रिका की प्रबन्ध सम्पादक रहीं। इलेस्ट्रेड वीकली पत्रिका की सम्पादकीय टीम का हिस्सा रहीं। खूब घूमा, खूब फिरा और जो दिखा, जो भोगा, जो जिया, उसे लिखकर लोगों को 'खबर–दार' किया। सच तो यह है कि एक पत्रकार जब कहानियां लिखता है तो वह लोगों को न केवल किस्से सुनाता है, बल्कि खबरदार करता रहता है और यही फलसफा ऐनी आपा की कहानियों व उपन्यासों में आसानी से देखने को मिल जाता है।

कुर्रतुल–ऐन–हैदर की उम्र जब मात्र 32 वर्ष थी, तब उन्होंने 'आग का दरिया' जैसा एक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा। 'आग का दरिया' वास्तव में आग का दरिया ही था। इस उपन्यास ने लोगों के दिलों में ऐसी आग लगाई थी, जिसकी तपिश आज भी महसूस होती है। किस्सागोई के बहाने इतिहास कहने की यह शैली कुर्रतुल ऐन हैदर की अपनी विशेषता थी। बुद्ध के युग से लेकर ब्रिटिश हुकूमत के दौर और उसके बाद आजाद हिन्दुस्तान की जैसी यथार्थ तस्वीर उन्होंने कथा के शिल्प में बुनी है, वह इतिहास को देखने की एक नई नजर देती हैं। 'आग का दरिया' पुस्तक आज किसी परिचय का मोहताज नहीं। 1959 में जब आग का दरिया प्रकाशित हुआ तो भारत और पाकिस्तान के अदबी हल्कों में तहलका मच गया। भारत विभाजन पर तुरन्त प्रतिक्रिया के रूप में हिंसा, रक्तपात और बर्बरता की कहानियां तो बहुत छपीं, लेकिन अनगिनत लोगों की निजी एवं एक सांस्कृतिक–ऐतिहासिक त्रासदी के रूप में कुर्रतुल ऐन हैदर ने ही प्रस्तुत किया है। यह ऐनी आपा ही थीं, जिन्होंने उस सच को बहुत करीब से महसूस किया था, जिससे लोग बंटवारे के समय रू–ब–रू हुए थे। यही वजह थी कि वे लोगों की आहत मानसिकता और घायल मनोवैज्ञानिक अलगाव के मर्म को बड़ी ही शिद्दत के साथ प्रस्तुत कर पाने में सफल हुईं। वास्तव में ऐनी आपा ने एक न भूल पाने वाली त्रासदी तो एक महान उपन्यास की शक्ल देकर हमारा ध्यान आकर्षित किया।

इस उपन्यास का प्रारम्भ आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता के उप परिप्रेक्ष्य में होता है जो शरावती और पाटलिपुत्र में विकसित हुई। मुसलमानों के आगमन से इस सभ्यता में

* पाठ्यक्रम समन्वयक, सेन्टर ऑफ मीडिया स्टडीज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

नए तत्व शामिल होना शुरू हुआ। समय की धारा में बहते–बहते गौतम, नीलाम्बर, हरिशंकर, चम्पा, अहमद, कमाल, तलअत आदि आज के भारत में पहुंच जाते हैं। आग का दरिया के महत्व और लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसके प्रकाशन के बाद जाने–माने शायर निदा फाजली ने कहा था– मोहम्मद अली जिन्ना ने हिन्दुस्तान के साढ़े चार हजार सालों की तारीख (इतिहास) में से मुसलमानों के 1200 सालों की तारीख को अलग करके पाकिस्तान बनाया था। कुर्रतुल ऐन हैदर ने नॉवल 'आग का दरिया' लिख कर उन अलग किए गए 1200 सालों का हिन्दुस्तान में जोड़ कर हिन्दुस्तान को फिर से एक कर दिया। अंग्रेजों द्वारा भारत के सांस्कृतिक मानस में दखल और सेंधमारी का इतिहास उपन्यास बहुत विश्वसनीय तरीके से हमें बताता है। यह उपन्यास वास्तव में किस्सागोई की सांस्कृतिक इतिहास का सबसे प्रामाणिक और भरोसेमंद दस्तावेज है।[1]

ऐनी आपा खबरची की तरह लिखतीं और अपने पाठकों के समक्ष एक ऐसा दृश्य उत्पन्न कर देतीं कि सब कुछ आंखों के सामने प्रस्तुत होता दिखने लगा। 'पतझड़ की आवाज' कहानी[2] की इन पंक्तियों से इस बात को और अधिक बेहतर ढंग से समझा जा सकता है –''अलीगढ़ गर्ल्स कॉलेज के दिन मेरे जीवन के सबसे अच्छे दिन थे–क्या स्वप्न भरे मदमाते दिन थे। मैं भावुक नहीं, लेकिन अब भी जब कॉलेज का सहन, लॉन, घास के ऊँचे पौधे पेड़ों पर झुकी बारिश, नुमाइश के मैदान में घूमते हुए काले बुर्कों के परे हॉस्टल के सँकरे–सँकरे बरामदों, छोटे–छोटे कमरों का वह कठोर वातावरण याद आता है तो जी डूब–सा जाता है। एम.एस.सी. के लिए फिर दिल्ली आ गई । यहाँ कॉलेज में मेरे साथ ये ही सब लड़कियाँ पढ़ती थीं– सईदा, रेहाना, प्रभा, फलानी– ढ़िमाकानी। मुझे लड़कियाँ पसन्द नहीं आयीं– मुझे दुनिया में अधिकतर लोग पसन्द नहीं आये। अधिकतर व्यर्थ ही समय नष्ट करने वाले हैं। मैं बहुत दम्भी थी। सौन्दर्य ऐसी चीज है कि आदमी का दिमाग खराब होते देर नहीं लगती। फिर मैं तो लाखों में एक थी–शीशे का एक झलकता हुआ रंग, लालिमा लिए हुए सुनहरी बाल, एकदम हृष्ट–पुष्ट, बनारसी साड़ी पहन लूँ तो बिल्कुल कहीं की महारानी लगती थी। .....ये विश्वयुद्व के दिन थे या शायद युद्ध इसी साल खत्म हुआ था, मुझे ठीक से याद नहीं है। बहरहाल, दिल्ली पर बहार आयी हुई थी। करोड़पति कारोबारियों और भारत–सरकार के बड़े–बड़े अफसरों की लड़कियाँ–हिन्दू–सिख–मुसलमान..... लम्बी–लम्बी मोटरों में उड़ी–उड़ी फिरतीं। निज नई पार्टियाँ, उत्सव, हंगामे–आज इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में ड्रामा है, कल मिरांडा हाउस में, परसों लेडी इरविन कॉलेज में संगीत–सभा है। लेडी हार्डिंग और सेंट स्टीफेन्स कॉलेज, चेम्सफोर्ड क्लब, रोशन आरा, अमीरिल जीमखाना– मतलब यह कि हर ओर अलिफ–लैला के बाल बिखरे पड़े थे हर स्थान पर नौजवान फौजी असफरों और सिविल सर्विस के अविवाहित पदाधिकारियों के ठट डोलते दिखाई देते। एक हंगामा था।''

इसी तरह 'फोटोग्राफर' कहानी भी एक अलग ढंग का आभास देती है। जीवंतता से भरी यह कहानी एक फोटोग्राफर की जद्दोजहद के साथ–साथ फोटोग्राफी से जुड़ी स्मृति परम्परा से भी जोड़ती है। कहानी कुछ इस तरह शुरू होती है–''मौसमे–बहार के फूलों से घिरा बेहद नज़रफरेब गेस्टहाउस हरे–भरे टीले की चोटी पर दूर से नजर आ जाता है। टीले के ऐन नीचे पहाड़ी झील

है। एक बल खाती सड़क झील के किनारे–किनारे गेस्टहाउस के फाटक तक पहुँचती है। फाटक के नजदीक वालरस की ऐसी मुँछोंवाला एक फोटोग्राफर अपना साजो–सामान फैलाए एक टीन की कुर्सी पर चुपचाप बैठा रहता है। यह गुमनाम पहाड़ी कस्बा टूरिस्ट इलाके में नहीं है इस वजह से बहुत कम सय्याह इस तरफ आते हैं। चुनांचे जब कोई माहे–अस्ल मानने वाला जोड़ा या कोई मुसाफिर गेस्टहाउस में आ पहुँचता है तो फोटोग्राफर बड़ी उम्मीद और सब्र के साथ अपना कैमरा सँभाले बाग की सड़क पर टहलने लगता है। बाग के माली से उसका समझौता है। गेस्टहाउस में ठहरी किसी नौजवान खातून के लिए सुबह–सबेरे गुलदस्ता ले जाते वक्त माली फोटोग्राफर को इशारा कर देता है और जब माहे–अस्ल मनानेवाला जोड़ा नाश्ते के बाद नीचे बाग में आता है तो माली और फोटोग्राफर दोनों उनके इंतजार में चौकस मिलते हैं।''[3] दरअसल ऐनी आपा रहीस खानदान में पली–बढ़ीं और फिर सब कुछ बिखरते हुए उन्होंने देखा। यही वजह रही को दुनिया को देखने और समझने का नजिरया और रचनाकारों से जुदा ही था। वे अपनी कहानियों में प्रायः इठलाती मिल जाती हैं तो कहीं–कहीं बहुत संजीदा होकर बहुत से अहम सवाल उठाते हुए भी मिलती हैं। बिंदास होकर अपने समय और समाज के साथ लोगों की फितरतों को दर्ज करना उनका बहुत प्यारा शगल था। अपनी कहानी लकड़बग्गे[4] की हंसी में वह अपनी एक पात्र से कहलवाती हैं– ''वह मेरा शौहर नहीं है। मैं उससे कलकत्ता रेसकोर्स पर मिली थी। वह एक मालदार जोकी है। बीबी–बच्चोंवाला और परवर्ट। मैं छः महीने से इसके साथ हूं। मगर अब बोर हो चुकी हूं और इसे छोड़ना चाहती हूं। मगर वह मुझे छोड़ने को तैयार नहीं है। मैं उससे इतना माल बटोर चुकी हूं जितना साल भर में भी नहीं कमा सकती थी।'' –– ऐनी आपा यह सब उस समय लिख रही थीं, जब महिला लेखिकाएं इस तरह से लिखने में परहेज बरता करती थीं। उनका लेखन उनकी खुद्दारी और बेबाकपन का ही उदाहरण प्रस्तुत करता मिल जाता है। अब चाहे वह आवारागर्द कहानी हो या फिर हसब–नसब, सभी में वे बेलौस–विंदास लिखतीं। ऐसा लगता कि वे किसी भी तरह के कठमुल्लेपन को सिरे से खारिज करने की मुहिम चला रही हों।

आपा नितांत रूप से उस भाषा में बात कहतीं, जो आम आदमी की अपनी भाषा होती है। वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करतीं, जो हमारे अपने शब्दकोश के होते हैं। उनकी लगभग सभी कहानियों में बोली–बानी और बतकही बतियाने का जो स्वाद मिलता है, वही उन्हें लगातार पढ़ते रहने की ताकत देता है। एक बानगी देखिए– ''सहन का फाटक खुला हुआ था। बाहर दो तांगे खड़े थे। दो–तीन लुकंदरे सामान उतरवा रहे थे। एक स्याहफ़ाम लेकिन तीख नक्शवाली औरत सुर्ख़ जार्जट की सारी पहने हरी बनारसी शाल में लिपटी दालान में मोंढ़े पर बैठी इतमीनान से घुटने हिला–हिलाकर नौकरों को अहकाम दे रही थी। एक उसकी हमशक्ल तेरह–चौदहसाला टर्री शक्लवाली उछाल छक्का–सी लड़की कासनी शलवार–कमीज पहने फर्श पर उकड़ूं बैठी एक बक्स खोलने में मशगूल थी। इतने में अंदर से अज्जू भाई–जी हां, हमेशा की तरह बांके छबीले अज्जू भाई दलान में आए। झुककर उस चुड़ैल से कुछ कहा। वह कहकहा लगाकर हंसी। वास्तव में पाठकों से बतियाने की शैली ही उन्हें ऐनी आपा कहे जाने का दर्जा दिलाने में कामयाब हुई थी।''[5]

पश्चिम और भारत की गंगा–जमुनी संस्कृति का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करने वाली ऐनी आया का जन्म अलीगढ़ के एक नामी–गिरामी परिवार में हुआ। पिता सैय्यद सज्जाद हैदर 'यलदरम' अंग्रेजी हुकूमत में अफगानिस्तान, तुर्की आदि देशों में राजदूत रहे। ऐसा माना जाता है कि 'यलदरम' नई उर्दू की दास्तानगोई के पहले अधिकृत उस्ताद थे। उनकी मां नजर सज्जाद भी एक प्रसिद्ध कहानीकार थीं और उन्हें उर्दू का जेन आस्टिन कहा जाता था। जाहिर है कि ऐनी आपा का बचपन एक लिक्खाड़ परिवार व परिवेश में बीता। ऐनी आपा की पढ़ाई की शुरूआत अलीगढ़ में हुई और उन्होंने यहीं से इण्टरमीडिएट की परीक्षा पास थी। बाद में लखनऊ से बी. ए. किया। अट्ठारह बरस की उम्र में पहली किताब 'शीशे का घर' प्रकाशित हुई और फिर लिखने का सिलसिला चल पड़ा। इसके अगले ही बरस दूसरी किताब 'मेरे भी सनमखाने' प्रकाशित हुई और खूब चर्चित हुई। कुर्रतुल ऐन हैदर लिखती गयीं और वे खूब पढ़ी जाती रहीं। बंटवारे की आग झेली और अपने परिवार को बिखरते देखा। भाई–बहन पाकिस्तान चले गए और वे भारत में पिता के साथ रह गईं। पिता चल बसे तो भाई के साथ पाकिस्तान चली गईं। मन नहीं लगा और पहले लंदन में बी. बी. सी. जुड़कर काम किया और फिर भारत लौट आयीं। पत्रकारिता से जुड़ी और साहित्य साधना को बात कहने का माध्यम बनाया। ढेर सारी कहानियां लिखीं। उपन्यास लिखा। रिपोर्ताज और अनुवाद भी। साहित्य अकादमी पुरस्कार व ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजी गयीं। ऐनी आपा ने जो लिखा बिंदास लिखा और जो कहा बिना किसी लाग–लपेट के कहा। कभी कथाकार कमलेश्वर ने कहा था–'अमृता प्रीतम, इस्मत चुगताई और कुर्रतुल ऐन हैदर जैसी विद्रोहिणियों ने हिन्दुस्तानी अदब को पूरी दुनिया में एक अलग स्थान दिलाया। जो जिया, जो भोगा या जो देखा, उसे लिखना शायद बहुत मुश्किल नहीं, पर जो लिखा वह झकझोर कर रख दे, तो तय है कि बात कुछ खास ही होगी।' तय है कि कुर्रतुल ऐन हैदर ने जो भोगा था, वह सामने इसी रूप में आना था। अपने समय का समाज, राजनीति, व्यवस्था व सत्ता को वे बहुत करीब से देख रहीं थीं और यही वजह थी कि उन्होंने जो कुछ लिखा–कहा, वह बहुत कुछ अपना सा लगा उनके पाठकों को। वे लिखती हैं कि –'हिन्दुस्तानी तहजीब किसी अखबार की सुर्खी नहीं, जो दूसरे दिन भुला दी जाए। यह तहजीब दुनिया के इतिहास का उन्वान है। जो अपनी जगह महफूज है और दूसरी तहजीबों को अपनी ओर खींचता है।'[6]

कुर्रतुल ऐन हैदर के लेखन की यह अभिलाक्षणिक विशेषता उनकी परवर्ती कृतियों में भी अबाध रूप से बनी रही। 1969–86 की अवधि में प्रकाशित उनके उपन्यास 'कारे–जहां दराज है' और 'आखिरे–शब के हमसफर' भी हमारे लंबे इतिहास के पन्ने हैं। 'कारे– जहां दराज है' की प्रकृति आत्मकथात्मक है और यह लेखिका के पूर्वजों (जिला बिजनौर) के सैयदों की कहानी है जो 12वीं शताब्दी से शुरू होती है और वर्तमान काल तक जारी रहती है, वर्तमान में उस परिवार की कहानी कहते हुए लेखिका ने भारतीय मुसलमानों के सामान्य सांस्कृतिक आचार–व्यहार की संरचना की झांकी भी प्रस्तुत की है, 'आखिरे शब के हसमफर' (निशांत के सहयात्री) में एक उपमहाद्वीप के इतिहास के एक सर्वाधिक निर्णायक चरण का वर्णन है जो द्वितीय महायुद्व के पहले के बंगाल की उग्रवादी घटनाओं और देशव्यापी भारत छोड़ों आंदोलन से लेकर देश–विभाजन और

फिर 1971 की घटनाओं तक फैली है, जिनकी परिणति बांग्लादेश के उदय में हुई किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण से अधिक लेखिका की रूचि यह दिखाने में है कि उच्च आदर्शों से प्रेरित अपना सब कुछ त्यागकर क्रान्ति की धुन में निकले लोग किस प्रकार समय–परिवर्तन के साथ आदिम प्रवृत्तियों और ईर्ष्या के वशीभूति होकर निहायत मामूली आदमियों के स्तर पर उतर आते हैं, लोभ भोग–विलास के चक्कर में पड़ जाते हैं संयोगवश उनका नव्यतम उपन्यास 'गार्दिशे–रंगे चमन' भी अपने में 200 वर्षों की अवधि समेटे है। काल और स्थान दोनों में ही परिव्याप्त विशालता और विस्तार की गुणवत्ता कुर्रतुल–ऐन–हैदर के कृतित्व की सर्वप्रथम विशेषता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे समय की कुछ अमूल्य कथा–कृतियां उन्हीं की देन है।[7]

हम कह सकते हैं कि कुर्रतुल ऐन हैदर की कहानियां अपने समय की प्रगतिशील कहानियों के बरक्स एक नई शैली में नई होती दुनिया से लोगों को रू–ब–रू कराती हैं। इनकी कहानियों में इलीट कहे जाने वाले लोगों के जीवन, उनकी कारगुजारियों, स्वप्न सी जिंदगी की फलसफे, गलैमर और उसमें मद–मस्त होती जिंदगानियां, टूटते रिश्तों और बिखरते समाज, सामाजिक विद्रूपता–कुरूपता, जीवन का उतार–चढ़ाव का बहुत ही सजीव चित्रण मिलता है। एनी आपा ने विवाह नहीं किया था, लेकिन वे औरतों की बेबसी व कमजोरी को जितनी सच्चाई से लिख देती थीं, वह कम ही देखने को मिलता है। एक ईमानदार लेखिका और जुझारू पत्रकार की तरह वह अपने समय को जीवंतता के साथ दर्ज करते हुए खुद के जिंदा होने का सुबूत देने में नहीं चूकीं। यही वजह है कि ऐनी आपा अपने शब्दों के साथ पाठकों से संवाद करती आज भी मिल जाती हैं।

## संदर्भ


1. https%@@satyagrah-scroll-in
2. नया ज्ञानोदय, सरहद विशेषांक, मई 2014
3. प्रतिनिधि कहानियां, कुर्रतुल एन हैदर, राजकमल प्रकाशन
4. प्रतिनिधि कहानियां, कुर्रतुल एन हैदर, राजकमल प्रकाशन
5. प्रतिनिधि कहानियां, कुर्रतुल एन हैदर, राजकमल प्रकाशन
6. https%@@yourstory-com@hindi
7. सारिका, अगस्त 1990

# संस्कार उपन्यास का संघर्ष

डॉ. कल्पना वर्मा*

यू. आर. अनन्तमूर्ति का उपन्यास 'संस्कार' 20वीं शताब्दी की एक प्रतिनिधि रचना है। कन्नड़ साहित्य की इस बहुचर्चित कृति के लिए लेखक को आजीवन विरोधों का सामना करना पड़ा था। इसका कारण है कथा के मूल में केन्द्रीय भाव के रूप में आभिजात्य का स्खलन चित्रित करना। 'संस्कार' उपन्यास का नायक प्राणेशाचार्य हैं, जो श्रेष्ठकुलीन ब्राह्मण हैं। कथाक्रम में उनके ज्ञान, वर्ण, श्रेष्ठता और उच्चता के अंहकार को टूटते और विसर्जित होते दिखाया गया है, जो कि तत्कालीन समय की सामाजिक व्यवस्था के लिए स्वीकार करना असम्भव सा था। यही स्खलन रवीन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास 'गोरा' के अन्त मे होता है। गोरा को यह ज्ञात होता है कि वह स्वयं एक आयरिश बालक है जिसका पालन–पोषण एक हिन्दू परिवार में हुआ है। तब उसका हिन्दुत्व का अंहकार टूट कर भंग हो जाता है और उसे समझ में आता है कि असली भारतीयता सर्वग्रहिता, सर्व समभाव और सर्व सम्मान में है। ''मैं भारतीय हूं। मेरे ह्रदय में आज हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी समाज से कोई विरोध नहीं है आज इस भारत की सभी जातियां मेरी जाति है। सभी का अन्न मेरा अन्न है। किसी से रोटी–बेटी, का सम्बन्ध करने में मुझे संकोच नही है। मैं बंगाल के अनेक स्थानों में घूमा हूं, नीच जातियों की बस्ती में जाकर उनका भी अतिथि बना हूं।''[1]

धर्म क्या है? धर्मशास्त्र क्या है? क्या इनमें निहित आदेशों में मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं है? ऐसे तमाम प्रश्नों पर अनन्तमूर्ति ने साहस के साथ विचार किया है। लेखक की यही वैचारिक निष्ठा लेखक को अति–विशिष्ट बनाती है। धर्म और धर्म शास्त्र यदि मनुष्य को मनुष्यता से, परिवेश से विचलित करता हो तो वह कदापि धर्म नहीं हो सकता। प्राणेशाचार्य जिस हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि हैं, तत्व के रूप मे वह यही मानता है कि सब में एक ही ब्रह्म का वास है। परन्तु व्यावहारिक रूप में वह पशु को पवित्र मानता है, यहां तक की गाय के गोबर और मूत्र को भी। इसके विपरीत वह मनुष्य को अपवित्र और अस्पृश्य घोषित करता है। वर्ण के अनुसार मनुष्य ऊंच–नीच तो है ही रहने के स्थान की दृष्टि से भी वह पृथक है। अग्रहार कर्नाटक में उसे कहा जाता है, जहां केवल कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते हैं। प्राणेशाचार्य और अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मण वहीं के हैं। अपने उसी अंहकार को दायरे में प्राणेशाचार्य और उनका समाज बन्धनग्रस्त हैं।

नारणप्पा वह केन्द्रीय पात्र है जो प्रारम्भ से ही मृतक के रूप में उपस्थित है। वह सामाजिक बन्धनों के अतिवाद पर निरन्तर चोट करता है। इससे सब बेचैन हो उठते हैं। उसे समाज से बहिष्कृत करना चाहते हैं परन्तु कर नहीं पाते। वह जीवन के सभी निषेधों का

* अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, प्रयागराज।

अतिक्रमण करके सहज और वास्तविक जीवन जीने का प्रयास करता है। चन्द्री उसकी सहवासिनी है। यह सहवास केवल देह का उत्सव नहीं है। यह पूरे समाज को इंगित करता है। उसकी रूढ़ियों पर चोट करता है– ''कुन्दापुर से प्यार में लायी गयी नारणप्पा की यह आत्मीया आमतौर पर घर से बाहर नही निकलती थी। आज पहली बार अपने साकार रूप में उनकी नजरों के सामने खड़ी थी, बिल्कुल वात्स्यायन द्वारा चर्चित चित्रिणी जैसी। लम्बी लम्बी उंगलियां, उन्नत उरोज। दुर्गाभट्ट ने सोचा– 'सम्भोग में यह पुरुष को चूस ही जाती होगी। चंचल आंखें अब दुख और भय से कुम्भला सी गयी है।''[2]

उपन्यास दो भागों में विभक्त है। पहले भाग की कथा प्राणेशाचार्य और उनकी बीमार पत्नी भागीरथी से प्रारम्भ होती है। प्राणेशाचार्य वह चरित्र है जिसमें अनन्तमूर्ति को अपने पिता की छवि दिखी थी। उपन्यास के केन्द्र में जो ब्राह्मण वर्ग है, उसी के परिवेश में लेखक का पालन–पोषण हुआ था। लेखक उन स्थितियों से पूरी तरह से परिचित थे। अग्रहार का यह ब्राह्मण वर्ग माध्वमत का समर्थक था। पूजा पाठ कराना, कर्मकाण्ड कराना, उनकी आजीविका का साधन था। अग्रहार से अलग पारिजातपुर के ब्राह्मण वर्ग को स्मार्त बताया गया है। माध्व कट्टरपन्थी थे और स्मार्त उदार। प्राणेशाचार्य अग्रहार के विद्वान और धर्म सूत्रों के ज्ञाता थे। समाज में उनका सम्मान था, उनकी बात अन्तिम निर्णय हुआ करती थी। पारिवारिक रूप से वे दुखी थे। चालीस वर्ष की आयु में अपनी बीमार पत्नी की सेवा करते–करते वे असमय ही वृद्ध हो गये थे। दूसरी ओर दुर्वासापुर नामक गांव का नारणप्पा अपने ब्राह्मण कर्मकाण्ड विरोधी आचरण के कारण प्रसिद्ध था। यद्यपि वह माध्व ब्राह्मण था परन्तु वह बन्धनमुक्त जीवन जीता था। संस्कारों का विरोध कर के उसने अग्रहार के ब्राह्मणों की मर्यादा का उल्लंघन किया था। वह शराब पीता था, वेश्यागमन करता था, मांसाहारी था, अन्य जाति की स्त्री चन्द्री उसकी रखैल थी।

चन्द्री से ही प्राणेशाचार्य को पता चलता है कि ज्वर के कारण पसली के पास गांठ निकल आने के कारण नारणप्पा की मृत्यु हुई हैं। नियम था कि जब तक अग्रहार में किसी ब्राह्मण का शव रहेगा तब तक कोई ब्राह्मण भोजन नही करेगा। इसलिए प्राणेशाचार्य, गरुणाचार्य, लक्ष्मणाचार्य, पद्मनाभाचार्य, दासाचार्य आदि ब्राह्मण बातचीत से किसी निष्कर्ष पहुंचना चाहते हैं। नारणप्पा की मृत्यु के बाद यह समस्या उठती है कि उसका संस्कार कौन करेगा और जब तक अन्तिम संस्कार नहीं हो जाता, घरों में चूल्हा नहीं जलेगा। कथा यहां तक नारणप्पा के अन्तिम संस्कार और प्राणेशाचार्य के निर्णय–संकट पर केन्द्रित है। अग्रहार के लोभी ब्राह्मण नारणप्पा के शव का संस्कार कर के उसकी सम्पत्ति तो चाहते हैं परन्तु धर्म का भय और लोकमर्यादा उन्हें आगे बढ़ने से रोकती है। सन्तानहीन, संस्कारहीन ब्राह्मण की अन्तिम क्रिया कैसे सम्पन्न हो इस बात के लिए शास्त्रों का मन्थन करते हुए प्राणेशाचार्य हनुमान मन्दिर जाते हैं। प्राणेशाचार्य के न लौटन पर चन्द्री भी उसी जंगल में जाती है, जहां मन्दिर था। वह उनके सम्पर्क में आने पर अपने अपराध की क्षमा–याचना करती है। एकान्त जंगल में प्राणेशाचार्य चन्द्री के रूप यौवन और अंगस्पर्श से विगलित हो कर देह सुख प्राप्त करते हैं। उस स्थिति को प्राप्त होने पर उन्हें

नारणप्पा का आचरण सामान्य लगने लगता है। उनकी धर्म मर्यादा से जकड़ी विचारधारा जकड़न मुक्त हो जाती है।

दूसरे भाग में अनन्तमूर्ति ने यह दिखाया है कि विचार–मन्थन से निर्णय और निष्कर्ष पर पहुंचे प्राणेशाचार्य चन्द्री के साथ अग्रहार लौटते हैं। उनका निश्चय है कि लौट कर अपने पतित होने की सूचना वे स्वयं सब को देंगे। सम्भव होगा तो स्वयं नारणप्पा का अन्तिम संस्कार करेंगे। चन्द्री के आभूषण और नारणप्पा की सम्पत्ति चन्द्री के पास ही रहने देंगे। इधर चन्द्री के चरित्र की उदासता दिखायी है कि वह प्राणेशाचार्य को सामाजिक अपमान और अपराधबोध से बचाने के लिए बीच रास्ते से ही नारणप्पा के घर चली जाती है। उसके क्षत–विक्षत शव को मुसलमानों से गाडी मांग कर नदी के किनारे स्वयं ले जाकर जला देती हैं। वापस प्राणेशाचार्य के पास नहीं लौटती।

इस बीच नारणप्पा का शव कई दिनों तक रखा रह गया था अतः बदबू और सड़ांध के साथ अग्रहार में प्लेग की महामारी फैलने की घटना भी वर्णित है। प्राणेशाचार्य की बीमार पत्नी प्लेगग्रस्त हो कर मर जाती है। उसके शवदाह के बाद प्राणेशाचार्य घर नहीं लौटते। बिना पत्नी का श्राद्ध किये अज्ञात रास्ते पर निकल जाते हैं। रास्ते में उनकी मुलाकात नारणप्पा के मित्र पट्टू से होती है। उसके साथ की यात्रा के बीच वे अपने संस्कारों को कमजोर पाते हैं। मन्दिरों मठों में भोजन करते हैं। अपनी पहचान–मान–अपमान की चिन्ता भूलकर जीवन के नये–नये रूपों से परिचित होते हैं। उन्हें लगने लगता है कि ब्राह्मणत्व के अहंकार में जीने से अच्छा है संस्कार मुक्त हो कर जीना। धर्मशास्त्र से मनुष्य नहीं है। यह तो ब्राह्मणों द्वारा बनायी व्यवस्था है। स्वयं के धर्मभ्रष्ट और संस्कारहीन होने पर समाज में क्या प्रतिक्रिया होगी यह तनाव उनमें रहता है पर वापस लौटने पर उनका मन उतना बोझिल नहीं रहता जितना नारणप्पा को ब्राह्मण विरोधी घोषित करने पर था।

प्राणेशाचार्य के रूपान्तरण में नारणप्पा की परोक्ष भूमिका है, जो मनुष्य को मनुष्य के लिए स्थापित करती है। यहीं पर फिराक का कथन प्रासंगिक है–

वाइस को मिल गया खुदा मगर फिर भी

आदमी को जरूरत है आदमी की.....

मनुष्य कितना भी श्रेष्ठ हो जाए, उसे ईश्वर भी मिल जाए तो वह उसका क्या करेगा। आदमी की जरूरत तो आदमी से ही पूरी हो सकती है। आभिजात्य पर मनुष्यता की विजय का प्रसंग प्राणेशाचार्य की पुट्ट के साथ की गयी यात्रा में देखा जा सकता है। मालेर जाति के पुट्ट की भक्ति है प्राणेशाचार्य के प्रति। वह उनका योग–क्षेम वहन करने की चेष्टा भी करता है। प्राणेशाचार्य न चाहते हुए भी उस पर आश्रित होने लगते हैं। वह कहता है– ''मुझे आपसे किसी दुराव–छिपाव की जरूरत नहीं। मै समझता हूं कि आपने मुझे छोटी जाति का ब्राह्मण मान लिया होगा। मैंने आप से कहा था कि मैं मालेर हूं ? मेरे पिता उच्चकुलीन ब्राह्मण थे। उन्होंने मेरी माता

की, जिसे वह सदा साथ रखते थे, उम्र–भर इतनी खोज–खबर रखी जितनी कोई अपनी विवाहित पत्नी की नहीं रखता है।''[3]

वर्ण संकर सन्तान के रूप में पुट्ट का चरित्र वर्ण व्यवस्था वाले समाज में मनुष्य होने को ही प्रमाणित करता है। कहीं भी हीनता का संकेत नहीं करता। इसी प्रकार प्राणेशाचार्य के जीवन में चन्द्री के बाद पद्मावती का आना भी स्त्री–पुरुष को मनुष्य के पद पर ही स्थापित करता है। उनमें प्राणेशाचार्य के प्रति स्निग्धता और वात्सल्य का भाव भी है जो समय के साथ अनुराग मे परिवर्तित हो जाता है। इस तरह वे चरित्र अपनी लौकिकता से दिव्यता की ओर प्रस्थान करते हैं साथ ही एक बड़े व्यक्तित्व के रूप में नारणप्पा के साथ प्राणेशाचार्य को अपने दायरे में समाहित कर लेते हैं। प्राणेशाचार्य के अस्वाभाविक उच्चता के बोध को सहज ही तोड़ देते हैं। प्राणेशाचार्य का संशय, उनकी दुविधा उन्हें आधुनिक मनुष्य के रूप में परिणत करती है।

देखा जाए तो उपन्यास में ब्राह्मणत्व और ब्राह्मणत्व–विरोध का संघर्ष है। चन्द्री, बेल्ली, पद्मावती जैसे अलग और विपरीत दिखायी देने वाले पात्रों की आन्तरिक उथल–पुथल संस्कारों के खोखलेपन को उधेड़ देती है। मुख्य पात्र प्राणेशाचार्य और केन्द्रीय पात्र नारणप्पा के साथ गरूणाचार्य, दुर्गाभट्ट, लक्ष्मणाचार्य, पद्मनाभाचार्य, दासाचार्य, श्रीपति मंजय्या, शंकरय्या, पुट्ट आदि कथा के विकास के लिए हैं। नारणप्पा द्वारा ईश्वर का नाम लेना उसे संस्कृति और धर्म का विरोधी या नास्तिक नहीं बताता। एक दूषित पात्र की संरचना इसलिए है कि उन संस्कारों का विरोध किया जा सके जिनके नाम पर समाज का एक वर्ग दूसरे को नीचा दिखाता है। नारणप्पा के साथ श्रीपति ऐसा चरित्र है जो भागवत जैसे धर्म ग्रन्थ की पुनर्व्याख्या करता है कि उसमें वर्णित काम सौन्दर्य भी तो मानव के लिए ही है। तब धर्मशास्त्र निषेधात्मक कैसे हो सकते हैं ?

''प्रगति, विकास, प्रवर्धन तीनों मुख्यतः सामाजिक प्रत्यय हैं। आधुनिक दृष्टि मनुष्य को एक प्राकृतिक और सामाजिक प्राणी मानती है, न कि एक अप्राकृतिक आध्यात्मिक जीव। फलतः मनुष्य का चरम भाग्य लोकोत्तर न होकर, सर्वथा लौकिक ही है।''[4]

मानव संवर्धित मूल्यों में जब मनुष्यता की बात सर्वोपरि है तब संस्कारों की आड़ में भेद–भाव को बढ़ावा देना न्यायोचित नहीं है। यही कारण है कि अपने उपन्यास में अनन्तमूर्ति ने संस्कारों के सन्तुलन को विकास और प्रगति का सहायक माना है। उपन्यास में सांस्कृतिक और सामाजिक विवरण बिखरे पड़े हैं। प्रतीक पात्रों के माध्यम से कर्नाटक की लोक संस्कृति, रीति–रिवाज, व्रत–पर्व, त्यौहार–मेले आदि का वर्णन है। कहीं रूढ़ियां हैं, अन्धविश्वास हैं तो कहीं ब्राह्मणों की धनलोलुपता और मूर्खता है। प्राणेशाचार्य जैसे मध्य पीढ़ी के चरित्र प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के बीच त्रिशंकु की स्थिति में हैं तो नारणप्पा जैसे लोग जीवन को सही मायने में जीते हैं। विवाद उनकी मृत्यु के बाद उत्पन्न होता है। लेकिन वहीं निपटारा भी हो जाता है। उत्तर प्रश्नों के बीच से ही निकलता है।

अन्ततः कह सकते है कि ''कन्नड़ के प्रतिभाशाली युवा साहित्यकारों में अनन्तमूर्ति का मूर्धन्य स्थान है।..... इनके उपन्यास 'संस्कार' ने कन्नड़ साहित्य में एक युगांतर उपस्थित कर दिया था। यथार्थवाद, तीव्र सांकेतिकता, सरल किन्तु प्रभावी भाषा इनके लेखन की विशेषता है।''[5]

## सन्दर्भ सूचीः–


1. टैगोर रवीन्द्र नाथ, गोरा, गंगा प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण 1998, पृष्ठ–279
2. अनन्तमूर्ति यू. आर., अनु. कुसनूर चन्द्रकान्त, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ–18
3. अनन्तमूर्ति यू.आर., अनु. कुसनूर चन्द्रकान्त, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ–130
4. पाण्डे गोविन्द चन्द्र, मूल्य मीमांसा, राका प्रकाशन, संस्करण 2005, पृष्ठ–117
5. सं. नगेन्द्र, भारतीय साहित्य कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण 1981, पृष्ठ–25

# इस्मत चुग़ताई की कहानियों का दार्शनिक अध्ययन

डॉ. पंकज श्रीवास्तव*

भारतीय चिंतन परम्परा में धार्मिक और नैतिक मान्यताएँ दोनों ही, एक दूसरे पर कुछ इस प्रकार से आच्छादित हैं कि सैद्धान्तिक रूप से इसकी बोद्धिक व्याख्या बड़ी ही जटिल हो गयी है। भारतीय दर्शन के मूल में क्या है – नैतिकता अथवा धर्म[1]? इस प्रश्न पर तत्वमीमांसा की दृष्टि से चिंतन होता रहा है। इसकी विभिन्न सम्भावनाएँ हो सकती हैं जैसे, धर्म और नैतिकता ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं, और एक दूसरे के पूरक भी। अथवा धर्म मूलतः नैतिकता का ही प्रतिपादन करता है या फिर नैतिकता धर्म का,इत्यादि। भारतीय समाज की विशेषतौर पर दार्शनिक परंपरा में शास्त्रार्थ[2] की परम्परा रही है, जिसमें जीवन के विभिन्न आयामों पर दार्शनिक विमर्श किया जाता रहा हैं , पर व्यावहारिक स्तर पर भारतीय समाज में जो जीवन शैली और सामाजिक ताना–बाना देखने को मिलता है उसमें मूल्यों की प्रतिष्ठा अधिकांशतः धार्मिक मान्यताओं, मिथकों और विश्वासों के आधार पर ही होती है।

भारतीय जनमानस के मनोविश्लेषण से भारतीय मन की प्रवृतियों को चिन्हित किया जा सकता है, और उसके कारण भी खोजे जा सकते हैं। भारतीय समाज पितृसत्तात्मक रहा है, और इसके बीज चिंतन परम्परा में भी खोजे जा सकते हैं। असल में, पारलौकिक अवधारणाओं और तत्वमीमांसीय संस्थापनाओं ने काफ़ी हद तक पितृसत्तात्मक को एक मज़बूत आधार देने का कार्य किया है। उपनिषदिक परम्परा में स्त्री को एक ओर तो परमसत् 'ब्रहमं' की सृजनशक्ति जिससे यह जगत आस्तित्व में आया, के रूप में व्याख्यायित किया गया है, वही दूसरी ओर, पुरुष के सम्बंध में वासना के विषय, माया– मोह का ज़ाल और बंधन के कारण के रूप में दर्शाया गया है । सांख्य दर्शन[3] में तत्वमींमासा' की दृष्टि से दो मूल तत्वों – 'पुरूष' (पूर्ण चेतन) और 'प्रकृति' (जड़) की कल्पना की गयी है। हालांकि सांख्यदर्शन ने अपनी तत्वमीमांसा में दोनों मूल तत्वों 'प्रकृति (जड़) और 'पुरूष' (चेतन) के आपसी सम्बंध से इस जगत के उद्विकास को समझा है, पर जब वे इनके स्वभाव का उल्लेख करते हैं तो 'प्रकृति' कहीं ना कहीं भाव के रूप (सत्व, रजस और तमस) में क्रियाशील होते हुए जान पड़ती है। जब कि 'पुरूष' उसके भोग में अग्रसर होते हुए दिखाई देता है। 'प्रकृति', जड़ है, पर भाव का संचार होते ही वह स्त्री के रूप में नज़र आने लगती है, और 'पुरूष' जो कि चैतन्य स्वरूप है भोक्ता बनते ही साधारण आदमी जैसा दिखाई देने लगता है। पौराणिक काल में भी नारी के दो बिम्ब हमारे सामने आते हैं, चाहे वो धार्मिक स्तर पर देवियों के शक्ति –रूप हों जैसे दुर्गा, काली, पार्वती या फिर देवताओं, राक्षसों और ऋषियों को मोह–ज़ाल में फ़साने के लिए अप्सराओं के रूप हों, जैसे–मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि। महाकाव्यों में भी नारी मुख्य रूप से दो ही रूपों में दिखायी देती है, एक ओर तो राम की पत्नी के रूप में सीता, वही

* सहायक प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

दूसरी ओर रावण के लिए मोह और वासना के विषय के रूप में, महाभारत में भी 'द्रोपदी' जैसा सशक्त पात्र जो पाँच पांडवों को एक ओर अपने रूप–मोह से आकर्षित करता है वहीं दूसरी ओर, सभी में शक्ति का भी संचार करता है।

इस विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि नारी को एक ओर सर्जन शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें सभी प्रकार के नैतिक मूल्य और संस्कार होते हैं, जिससे वो पुरूष को संबल देती है, संतान को जन्म देकर उसका भरण–पोषण करती हैं, साथ ही समाज में परिवार की अस्मिता को बनाए रखती है। दूसरी तरफ़, स्त्री को काम–शक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया है, जिसमें वह अधिकतर पुरूष के पतन और परिवार व ख़ानदान के विनाश का कारण भी बनती हैं। दोनों ही रूपों में स्त्री की पहचान पुरूष के सम्बंध में ही होती है। यहाँ एक दार्शनिक प्रश्न उठता हैः क्या एक स्त्री की पहचान पुरूष के सम्बंध में ही हो सकती है? दार्शनिक नज़रिए से पहचान को स्थापित करने की दो तरह की सम्भावनाएँ हो सकती हैं पहली, तो यह है कि जिस विषय–वस्तु की पहचान की जानी है उसमें कुछ मूलभूत गुण हैं जिससे उसकी पहचान हो सके, उदाहरण के लिए आग की पहचान उसके मूल गुण ऊष्मा से की जाती है। दूसरी सम्भावना यह है, कि उसका दूसरे के साथ क्या सम्बंध है जैसे आग का पानी के साथ। भारतीय समाज मुख्यतः सांस्कृतिक दृष्टि से व्यक्ति केंद्रित ना होकर समष्टि केंद्रित रहा है, जिसमें एक व्यक्ति की पहचान उसके दूसरों के साथ सम्बंधो के द्वारा स्थापित होती है। हालांकि एक व्यक्ति निश्चित ही दूसरों के साथ विभिन्न संबंधो से जुड़ते हुए निरंन्तर अपनी पहचान को बनाता और मिटाता रहता है, पर समस्या तब खड़ी हो जाती है जब विभिन्न पहचानों में, एक समाज केवल एक ही सम्बंध को वरीयता देता है। भारतीय समाज के अवचेतन में एक स्त्री की पहचान पुरूष के सम्बंध मे देखने की प्रवृति हावी रही है। इस अवचेतन को समझने के लिए 'संस्कार' की अवधारणा पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। संस्कार[4] के द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी एक व्यक्ति में धार्मिक, समाजिक और नैतिक मूल्य आरोपित किए जातें हैं। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति में कुछ मूल्य बड़े ही नैसर्गिक ढंग से परिवार और समाज के द्वारा आरोपित किए जातें हैं साथ ही इन मूल्यों की स्थापना धार्मिक ग्रंथों, पुरानी मान्यताओं एवं विश्वासों के आधार पर की जाती है। इसी संदर्भ में चुगताई की कहानियों को दार्शनिक नज़रिए से पढ़ने की आवश्यकता है असल में, उनके 'स्त्री–पात्र' समाज की दी गयी पहचानो के साथ संघर्ष करते हुए एक नए विमर्श को जन्म देते हैं ।

काल की दृष्टि से इस्मत चुग़ताई का समय भारत में अंग्रेज़ी राज्य का अंतिम दौर और स्वतंत्र भारत का प्रारम्भिक काल है, जिसमें एक तरफ़ स्वतंत्रता की बड़ी उपलब्धि है, वहीं दूसरी ओर भारत–पाकिस्तान के बँटवारे की पीड़ा और अफ़रातफ़री है। इस समय भारतीय समाज का ताना बाना निश्चित ही परम्परागत धर्म केंद्रित सोच से निर्धारित हो रहा था पर कुछ हद तक वो यूरोप में हुयी आधुनिकता की हलचल से भी कंपन्न करने लगा था। ख़ासतौर पर, नए मूल्यों जैसे स्वतंत्रता और समानता का ज़िक्र होने लगा था और इसी के प्रभाव में कुछ बुद्धिजीवियों ने पुरानी अवधारणाओं और मूल्यों को सिरे से ख़ारिज कर दिया तो कुछ ने उन पुराने मूल्यों की नयी व्याख्या देनी शुरू कर दी। इसी दौर में, उर्दू साहित्य में इस्मत चुग़ताई ने एक साधारण स्त्री–

मन के अंतस में व्याप्त उन वेदनाओं, संवेगों, और अनुभवों को उकेरने की कोशिश की है जो सामान्यतः नज़र नहीं आते। इस्मत चुगताई अपनी विवादित कहानी 'लिहाफ़' से उस समय चर्चित हो गयीं थी जब इस कहानी के लिए उन पर मुकदमा चलाया गया था। इस कहानी में वह दो ऐसी अधेड़ महिलाओं के शारीरिक सम्बंध की कहानी को बड़ी बेबाक़ी से कहती हैं जिसमें समाज में व्याप्त यौन संबंधों की अभिप्सा और ज़रूरत को बयान करते हुए देह की वास्तविकता को स्थापित करने का भी प्रयास है। इस कहानी में, ना केवल दो औरत के शारीरिक सम्बंध का वर्णन है, बल्कि एक आदमी (नवाब साहब) का कई लड़कों से यौन संबंधो का ज़िक्र है। चुग़ताई बड़ी सहजता से कहानी 'लिहाफ़' में स्वयं एक छोटी बच्ची के भूमिका में अपनी आँखों देखी कहती हैं,

'मगर उन्हें निहायत अजीब–ओ–ग़रीब शौक़ था। लोगों को कबूतर पालने का जुनून होता है, मुर्ग़ेबाजी करते है। इस क़िस्म के वाहियात खेलो से नवाब साहब को नफ़रत थी। उनके यहाँ तो बाल विधार्थी रहते थे– नौजवान, गोरे–गोरे, पतली कमर के लड़के जिनका सारा का सारा ख़र्च वह खुद बर्दाशत करते थे।[6]

मनोविश्लेषण के नज़रिए से हमारी देह का हमारे मन पर एक गहरा असर होता है और देह की भूख–प्यास से लेकर काम वासना तक की अपनी ज़रूरतें होती हैं, और कुछ परिस्थितियों में यदि इसकी ज़रूरतें पूरी ना हो तो देह किसी ना किसी तरीक़े से अपनी ज़रूरतें पूरी कर लेती हैं। एक सभ्य समाज, देह के इस कटु सत्य को स्वीकार करे या ना करे, यह देह का अपना सत्य होता है। चुग़ताई इसी तथ्य को दर्शाती है–

'और फिर रोज़ रोज़ की मालिश काफ़ी नहीं थी। जिस दिन बेगम जान नहातीं .....या अल्लाह! बस दो घंटा पहले से तेल मालिश और खुशबूदार ऊबटनो की मालिश शुरू हो जाती। और..... इतनी होती की मेरा कल्पना से ही दिल टूटने लग जाता कमरे के दरवाज़े बंद करके अंगीठिया सुलगती और चलता मालिश का दौर। प्रायः सिर्फ़ रब्बू ही रहती बाक़ी नौकरानियां बुडबुडातीं और दरवाज़े से ही ज़रूरत की चीज़ें देती जाती'[7] ('लिहाफ़')

चुग़ताई का ज़ोर इस बात पर है कि सभ्यता, प्रथाओं और सामाजिक नैतिकता के नाम पर देह की अवहेलना की गयी है, इसे समाज में चेतना, मन और बुद्धि के विरोध में देखा गया है। देह को चेतना और मन से निम्नतर माना गया। जड़ और चेतना में द्वैत देखने की प्रवृति पूर्व और पश्चिम दोनों ही दार्शनिक चिंतन में हावी रही है वो चाहे आधुनिक दर्शन के प्रणेता डेकार्ट हों जिन्होंने मन और शरीर के द्वैत की समस्या खड़ी कर दी या फ़िर भारतीय दर्शन में परम चैतन्य 'ब्रह्मं' और 'जीवात्मा' (अहं) का भेद जहाँ जीवात्मा 'अविद्या' के कारण इस शरीर के बंधन में है। चुगताई जब देह की वास्तविकता को दिखलाती हैं तो हर स्तर पर द्वैत को मिटा कर देह–चेतना की बात करती हैं, जिसकी अवहेलना अनेक प्रकार से असल में 'स्व' के विकार को जन्म देती है।

इसी तथ्य को अपनी अन्य कहानी 'घरवाली' में पुरूष प्रधान सोच पर व्यंग्य करते हुए बड़े रोचक ढंग से दर्शाती हैं। इस कहानी में एक कुँवारे पर अधेड़ उम्र के मिर्ज़ा साहिब है जो बड़े ही तमीज़दार व्यक्ति हैं हालांकि कभी–कभी उनका कंजरी के पास भी जाना होता है । उनका दोस्त बक्शी उनके घर एक नौकरानी 'लाजों' को छोड़ देता है पर मिर्ज़ा गुस्से में कहते है–

"लाहौल बिला कुबत! मैं नीच औरतों को घर में डालने का क़ायल नहीं![8] मिर्ज़ा ऊपर से सारी नैतिकता ओढ़े हुए अपना गुज़र–बसर कर कर रहे थे पर अंदर से देह की ज़रूरत को वो ना छुपा सके, इस्मत चुग़ताई ने मिर्ज़ा के मन और शरीर के द्वन्द का सटीक चित्र खींचा है। वह लिखतीं है –

"पानी की सुराही सिरहाने रखी थी पर ध्यान ना गया। बावर्चीखाने वाले एक दर्रे में मटका रखा था गटगटाकर पानी पिया। मगर जी की आग और भड़क उठी। लाजों की चिकनी टाँग दरवाज़े की आड़ से झाँक रही थी। बेढंगे से करवट पर उसके कड़े खनखानाए टाँग पसर गयी। मिर्ज़ा ने एक गिलास और चढ़ाया वे लाहोल का पाठ करते हुए पलंग पर गिर गए।"[9] (घरवाली)

अधिकतर व्यक्ति समाज में प्रचलित औपचारिक नैतिकता को अपने ऊपर थोप लेता है, सही मायने में जो उसके 'स्व' का हिस्सा नहीं है। फ्रॉयड इसे ही 'सुपर ईगो'[10] कहतें हैं। उनका मानना है कि सारी धार्मिक और सामाजिक नैतिकता व्यक्ति की यौंन इच्छा एवं वासना को दमित करती है, पर जब इनमे संघर्ष होता है तो अक्सर वासना की ही जीत होती है। प्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम का भी मानना था कि 'बुद्धि वासना की गुलाम'[11] होती है। मिर्ज़ा का अनुभव कुछ इसी द्वन्द से गुज़र रहा था। जब कि 'लाजों' के 'व्यक्तित्व' में औपचारिक नैतिकता का आभाव है, पर मिर्ज़ा जब उसके सम्पर्क में आते है तो वो सारी नैतिकता उस पर थोपना चाहते हैं। इस्मत चुग़ताई ने बड़ी गहराई से पुरूष (मिर्ज़ा) की राजनीति को समझा है, जो असल में इन संस्कारों और सामाजिक प्रथा के माध्यम से लाजों पर शासन करना चाहता है। यह राजनीति पितृसत्तात्मक समाज की परंपरात्मक सोच के अवचेतन में इस तरह बैठी हुई है कि स्त्री व पुरुष दोनो ही इसके द्वारा शासित होते हैं। अपनी कहानी 'एक बात' में इस्मत लिखती हैं:

'समझ नहीं आता था कि शरीर के विशेष भाग से क्यों जलती थीं। पता चला की क्यों की बहुत मुरझाई सूरत की थीं। लड़कियों के शरीर को देख कर कोयला हो जाती थीं बेचारी खाला! कितनी खालाए और नानियाँ जवानी खो कर लड़कियों की सौतनें बन जाती हैं ।'[12](एक बात)

इस्मत की कुछ अन्य कहानियों जैसे 'चौथी का जोड़ा' और 'गेंदा' में आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के कारण एक स्त्री अपनी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं बना पाती। हालांकि 'स्त्री विमर्श' में एक स्त्री के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को उसकी कमज़ोरी समझा जाता है पर इस्मत इस पिछड़ेपन का मूल आधार स्त्री की मानसिकता में तलाशने की प्रयास करतीं हैं । 'चौथी का जोड़ा' नामक कहानी में एक ऐसी स्त्री की दासतां है जो अपनी सारी की सारी कोशिश के बावजूद, अपनी बड़ी लड़की की शादी के लिए वर नहीं जुटा पाती। कहानी निश्चित ही हमें सोचने को मजबूर कर देती है कि ऐसे कौन से कारण हैं जिसके कारण एक माँ यह सोचती है कि शादी के बिना उसकी लड़की का जीवन निरर्थक है, वह समाज में पति के बिना कोई आस्तित्व नहीं रख पाएगी। कहानी में एक लड़के का ज़िक्र है जो लड़की का वर हो सकता है और माँ और बड़ी लड़की उसे कई तरह से खुश करने की कोशिश करतें हैं पर अंत में बड़ी

लड़की की दर्दनाक मौंत हो जाती है, और चोथी के जोड़े की जगह सफेद कफ़न उसके नसीब में आता है। आज भी लड़की के पैदा होने पर माँ–बाप सबसे पहले उसकी शादी के लिए पैसे जोड़ने शुरू कर देतें हैं। बचपन से ही मिथकों, कहानी क़िस्से के ज़रिए बच्ची के कोमल स्त्री–मन में यह सोच डाली जाती है उसको लेने एक राजकुमार (वर) आएगा बड़े धूम–धाम से उसका विवाह होगा, और वह इसी सोच के साथ बढ़ती है। परिणामतः वह अपनी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं बना पाती है। अपनी कहानी 'गेंदा' में एक बाल विधवा की पीड़ा को बयान करती हैं वास्तव में, भारतीय समाज में विधवा होना एक अभिशाप है। विधवा के सारे कृत्य सामाजिक नैतिकता से निर्धारित होते हैं , इस संदर्भ में यह देखना रोचक है कि किस प्रकार हमारी भाषा हमारे 'स्व' को गढ़ती है। 'विधवा' शब्द की संरचना हमारे मन और समाज के अवचेतन में भाषा के द्वारा इस प्रकार बुनी है कि ऐसा लगता है 'विधवा' होना एक अभिशाप है, पर भाषा दर्शन की दृष्टि से 'विधवा' का अर्थ समाज के द्वारा ही गढ़ा गया है जिसके राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक कारण हो सकते हैं पर भाषा का अवचेतन इस प्रकार कार्य करता है कि विधवा के इस अर्थ के लिए समाज नहीं बल्कि वह शब्द ('विधवा') स्वयं ही ज़िम्मेदार है। इसी कारण समाज विधवा को ही अभिशाप मानता है। भाषा के अवचेतन पर विचार करते हुए फ्रैंच मनोविश्लेषक लाक़ां व्यक्ति के व्यक्तित्व और 'स्व' के विभिन्न आयामों को बतलाते हैं, जो भाषा के द्वारा निर्मित होता है। लाकां[13] तीन आयाम बतलातें हैं पहला 'रीयल' है, जिसमें व्यक्ति की वो सभी संवेदनाए है जो भाषा में नहीं अभिव्यक्त होती उदाहरण के लिए शरीर के संवेदन दूसरा आयाम सिंबालिक का है, जो भाषा का स्तर है जिसमें शब्द अर्थ लेने लगते हैं, जिसमें समाज की बड़ी भूमिका होती है क्योंकि जैसा वित्तगेन्स्टीन[14] कह रहे हैं कि भाषा लोगों के बिना नहीं हो सकती और भाषा कभी भी व्यक्तिगत (प्राइवेट) नहीं होती है। तीसरा आयाम इमैजिनैरी का है, जिसमें वो सारे बिम्ब हैं जो व्यक्ति के 'स्व' (ईगो) से सम्बंधित है वो असल में रियल और सिंबलिक के बीच का रिक्त स्थान है। 'विधवा' शब्द का निर्माण हमारी चेतना में इन सभी आयामों से होता है जिसमें मुख्यत सिंबालिक और इमैजिनेरी की भागेदारी होती है। कहानी में जो विधवा माँ की वेदना है वो ही 'रीयल'है। चुग़ताई अपनी एक अन्य कहानी 'भाभी' में भी स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व की बुनावट पर व्यंग करते हुए लिखती हैं–

'इन कुछ सालों में गोश्त और पोस्त का थोदा कैसे बन गयी? मैंने भैया की तरफ़ देखा वह वैसे ही लम्बे क़द और छरेरे थे। एक तोला गोश्त ना इधर न उधर, वही कम उम्र लड़कों जैसे घने बाल, बस दो चार सफ़ेद चाँदी के तार कनपटियों पर झाँकने लगे थे। जिनसे वह और भी सुंदर और सम्मानित मालूम होने लगे थे।'[15]

इसके भी मनोवैज्ञानिक कारण है, एक औरत की अपने आदमी पर पूरी निर्भरता इसमें काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार होती है क्योंकि वह अवचेतन में यह मान लेती है कि अब विवाह के बाद, उसे अपने आदमी, बच्चों और परिवार का ख़्याल रखना है वह पूरी तरह से अपने शरीर और इच्छाओं की अवहेलना करती है।

इस्मत चुगताई अपनी ज़्यादातर कहानियों में खुद भी भाग लेकर उसका हिस्सा बनकर सुनातीं हैं जिससे कहानी इतनी सजीव लगती है जैसे वह किसी आँखों देखी घटना का हाल सुना रहीं हों। उनकी यह शैली भावपूर्ण और अत्यंत प्रभावी है, कई प्रसंगों में वो बड़ी साफगोयी से अपनी बात रखती है, और कहानी कई बार पाठक को सोचने के लिए बाध्य भी करती है।

चुगताई की कहानियों में स्त्री जीती–जागती हाड़–मांस की जीवंत महिला होती है, उसकी अपनी एक अलग पहचान होती है जिसे वह स्वयं समाज में रह कर उससे रुबरु होकर बनाती है। उनकी महिला–पात्र को हम बनी बनाई कोटियों में नहीं रख सकते, ये वो पात्र हैं जो हम सभी को हमारे जीवन में होने के बावजूद नज़र नहीं आते। चुग़ताई इन्हें ज़िंदा कर हमारे सामने खड़ा कर देतीं है जिनसे हम नज़र नहीं मिला पाते। 'घरवाली' कहानी में लाजों का चरित्र कुछ ऐसा ही है, जो सामाजिक प्रथाओं और प्रचलित नैतिकता को दरकिनार करते हुए लोगों को उनका असली चेहरा दिखाती है। इस्मत बड़ी खूबी के साथ समाज की हिपोक्रेसी को दिखलातीं हैं। एक अन्य कहानी 'दो हाथ' में भी दो स्त्री पात्रों का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है। एक बूढ़ी मेहतरानी है, उसकी बहू है, और उसका लड़का फ़ौज में मेहतर है। कहानी में रोचक मोड़ तब आता है जब बहू को गर्भ ठहर जाता है। जब कि उसका पति (रामवतार) पिछले दो वर्षों से घर नहीं लौटा। ये बात सभी लोगों को हतप्रभ कर देती है, वह लिखती हैं–

'लौंडा साल भर का होगा जब रामवतार लौटा। रामवतार लौंडे को देखकर ऐसे शर्माने लगे जैसे वही उसका बाप हो। झटपट उसने संदूक खोलकर सामान निकालना शुरू किया लोग समझे, खुकरी या चाकु निकाल रहा है मगर जब उसने लाल बानियान और पीले मोज़े निकाले तो सारे अमले की मर्दाना शक्ति पर ज़रबकारी लगी–हतेरे की साला सिपाही बनता है हिंजड़ा कहीं का!'[16] ('दो हाथ')

कहानी उनकी ग़रीबी और गुज़र बसर के लिए उनकी उस बौधिकता को दिखलाती है, जो जीवन के बुनियादी हक़ के लिए सामाजिक नैतिकता पर व्यंग करते हुए एक नए सत्य को गढ़ती है।

इस्मत चुग़ताई की कहानियां बड़ी तेज़ी से उतार–चढ़ाव के साथ आगे बढ़ती है और पात्रों के मन की बौधिक क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं को साफ़ देखा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में एक दार्शनिक प्रश्न खड़ा होता है क्या बौधिकता का भी कोई आधार होता है या फिर बौधिकता ही अपने में मूल्य है? जैसा कि जर्मन दार्शनिक कांट मानते हैं। कांट अपनी नीति मीमांसा में 'व्यवहारिक बुद्धि' का उलेख करते हैं। लेकिन जैसा की हम इस शोध में पातें है कि बुद्धि या तो किसी तरह की वासना से या फिर किसी सामाजिक–धार्मिक विश्वास से ही संचालित होती है। पश्चिम की आधुनिकता का प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ा और निश्चित ही धर्म केंद्रित पितृसतात्मक सामाजिक व्यवस्था पर सामाजिक चिंतको ने ना केवल प्रश्न खड़े किए, बल्कि अनेक सामाजिक सुधारवादी आंदोलनों का सफल नेतृत्व किया। परंतु भारतीय समाज में आधुनिकता ने धार्मिक विश्वासों एवं परम्परागत–मूल्यों को सिरे से ख़ारिज नहीं किया बल्कि उनका परिमार्जन किया। इस शोध में हम देखतें हैं कि किसी भी कर्म (व्यवहार) के केंद्र में किसी न किसी प्रकार

की भावना काम करती है, अब ये भावना शरीर की वासना, मन के संवेग या फिर नैतिक गुण (मूल्य) हो सकते हैं जिसकी प्रतिष्ठा बुद्धि के द्वारा की जाती है।

भारत के पुनःजागरण में सामाजिक चिंतकों का निश्चित ही अभूतपूर्व योगदान रहा। एक ओर राजा राम मोहन राय, विवेकानंद, दयानंद से गांधी तक ऐसे विचारक रहे जो पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यों की समीक्षा कर उनकी पुनः प्रतिष्ठा कर रहे थे तो दूसरी ओर, ज्योतिबा फूले से लेकर अंबेडकर जैसे विचारक थे जो परंपरागत धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था की कड़ी आलोचना कर नए राजनैतिक और सामाजिक विमर्श की नींव रख रहे थे। परिणामस्वरूप, भारतीय आधुनिकता पश्चिम से अलग प्रकृति की थी जिसमें परंपरागत धार्मिकता से बुद्धि का कोई सीधा विरोध नही था, अपितु उसका परिमार्जन था। जिसके कारण ही अनेक सामाजिक कुप्रथाओं और कुरीतियों का अंत तो हुआ, पर भारतीय जनमानस के अवचेतन में धार्मिकता की पकड़ बराबर बनी रही और नैतिकता की व्याख्या धार्मिकता के आलोक में ही करने की प्रवृत्ति हावी रही। यद्यपि नीति–दर्शन के केंद्र में सदगुणों के द्वारा बुरे संस्कार को नष्ट करने की बात अवश्य ही की गयी है पर व्यवहारिक स्तर पर जो धार्मिक और सामाजिक क्रियाकलाप हैं उसमें पारलौकिक और धार्मिक व्याख्याओं के द्वारा एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण किया जाता रहा है। इसी क्रम में, पुरूष को स्त्री के सम्मुख निम्न स्थान देने की प्रवृत्ति रही है। इस प्रवृत्ति के निश्चित ही आर्थिक, राजनैतिक और भौतिक कारण हैं, जिसे चुग़ताई अपनी कहानियों में दिखलातीं हैं पर साथ ही वह बड़ी सफ़ाई से व्यक्ति के अवचेतन में प्रवेश कर उन सभी संस्कारों की चीड़–फाड़ करते हुए स्त्री पात्रों के ज़रिए स्त्री में छुपी अनेक संभावनाओं को हमारे सामने रखती है। हालांकि चुगताई परंपरागत नैतिकता पर कटाक्ष करती है, पर वह मानवीय मूल्यों की आवश्यकता को ही अपनी कहानियों में निखारती हैं इस संदर्भ में गेंदा कहानी में 'विधवा' के किरदार को देखा जा सकता है जिसमें एक स्त्री विधवा होने के बावजूद समाज की नज़रों में नाजायज़ बच्चे को जन्म देकर उसका लालन–पालन कर मातृत्व की घोषणा करती है।

आज के परिदृश्य में व्यक्तियों के बीच औपचारिक नैतिकता और धार्मिक रीति–रिवाजों से बने संबंधो का ताना–बाना आधुनिकता के प्रभाव में कुछ ढीला तो अवश्य ही हुआ है पर आज की आधुनिकता के केंद्र में पूँजीवाद साफ़ दिखाई देता है, जिससे व्यक्ति की सोच संकुचित होकर आत्मकेंद्रित हुई है, और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति बढ़ावा मिला है। असल में, ख़तरा अब धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वासो के साथ ही बाज़ारवाद की विषमताओं और आभासी सत्य से भी है, जिसके चलते एक व्यक्ति अथवा वर्ग, दूसरे का दोहन और शोषण कर रहा है। स्त्री और पुरूष के सम्बंध भी इस बाज़ारवाद से बड़े प्रभावित हुए हैं, पहले स्त्री को संस्कारित कर परिवार में 'घरवाली' के रूप में प्रतिष्ठित कर किया जाता रहा है। अब हालांकि उदारीकरण और भूमंडलीकरण से स्त्री को घर से बाहर आने का अवसर अवश्य मिला है, पर साथ ही बाज़ारवाद ने उसका वस्तुकरण (कमोडिफ़िकेसन) कर उसे प्रदर्शन की विषय–वस्तु बना दिया है जिससे छुटकारा पाना एक नयी चुनौती है। इसके साथ ही सूचना और प्रौद्योगिकी के उफान से अनेक प्रकार के आभासी सत्य लगातार गढ़े जा रहें। इन आभासी सत्यों के पीछे के भागते हुए व्यक्ति ने कई मुखोटे लगा लिए

हैं और उन सामाजिक सरोकारों और मानवीय मूल्यों को भूलता जा रहा है जो एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसे सहज ही मिले थे। इस्मत चुग़ताई की कहानियां वास्तव में इन मुखौटों को उतार कर बेनक़ाब करने का काम करती हैं। भारतीय समाज में इन आभासी सत्यों के पीछे एक ऐसी अवसरवादी बौधिकता काम कर रही है जिसने धार्मिकता, तीज–त्योहार, परंपरा और सामाजिक नैतिकता के नाम पर असल में, उपभोग की संस्कृति को जन्म दिया है, जहाँ व्यक्ति की पहचान दूसरों का दोहन कर जुटाए गए उपभोग के संसाधनो से होती है। परिणामस्वरूप, मनुष्य एक यांत्रिक प्राणी बन गया है, ऐसे में इस्मत की कहानियां व्यक्ति को झझकोर कर यथार्थ के धरातल पर वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराती हैं, ताकि उसमें मानवीय मूल्यों के प्रति संवेदना का संचार हो सके।

**संदर्भ**


1. वैदिक चिंतन में 'ऋत' की अवधारणा है जिससे ही प्रकृति व मनुष्य दोनो ही अनुशासित होते है। इस अर्थ में नैतिक नियमों की मनुष्य से स्वतंत्र अपनी सत्ता है। यहाँ देवता इन्द्र से प्रार्थना की गयी है 'हे इन्द्र हमें ऋत के पथ पर ले चलें जो नैतिकता का सर्वोपरी पथ है।' देखे–राधा कृष्ण, इंडीयन फ़िलासफ़ी वॉल्यूम १, प्रकाशन : ऑक्सफोर्ड, नयी दिल्ली, २००८, पृ०–५४
2. अमृत्य सेन, आरगुमेंटेटिवे इंडीयन, प्रकाशन : पेंग्विन बुकस, इंग्लैंड २००५, पृ० ३०–३३
3. राधा कृष्ण, इंडीयन फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम २, प्रकाशनः आक्स्फ़र्ड, नयी दिल्ली, २००८ पृ०–२२६
4. संस्कार की अपनी तत्व–मीमांसा है जिसमें कर्म के द्वारा संस्कार अर्जित किए जाते हैं। जो मनुष्य की मृत्यु के बाद भी अगले जन्म में जाते हैं विभिन्न दार्शनिक परंपराओं में इसकी अलग–अलग व्याख्यायें मिलती हैं पर सभी ने इसे कर्म के साथ जोड़ा है। देखे–लक्ष्मी कपानी, फ़िलॉसॉफ़िकल कन्सेप्शन ओफ संस्कार, प्रकाशन : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०१३, पृ० १–३०
5. इस्मत चुग़ताई की सर्वश्रेष्ठ कहानिया, सम्पादक नंद किशोर विक्रम, प्रकाशन : साक्षी, दिल्ली २०१६, पृ०–१६६
6. वही, पृ०–१७१
7. फ़ेड्रिककोपुलस्टन, एस.जे., हिस्ट्री ओफ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम ४, प्रकाशन : दा इमेज बुक, न्यूयार्क लंदन, १६६४, पृ० १२०
8. इस्मत चुग़ताई की सर्वश्रेष्ठ कहानिया, सम्पादक : नंद किशोर विक्रम, प्रकाशन : साक्षी, दिल्ली २०१६, पृ०–१६६
9. वही, पृ०–४७
10. फ्रॉयड अपनी पुस्तक 'दा इगो एंड दा इड' में व्यक्ति के व्यक्तित्व के बनने की प्रक्रिया को दर्शाते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का 'अहं' कहीं ना कहीं दो विपरीत बलों इड (कामेच्छा) और सूपर ईगो (सामाजिक व धार्मिक नैतिकता) के बीच विकसित होता है। देखे–फ्रॉयड,

'दा इगो एंड दा इड' अनुवादक जोन रिवीर, प्रकाशन : डब्लू डब्लू नोर्टोन एंड कम्पनी न्यूयॉर्क, १६६० , पृ० ३०–३१

11. फ़ेड्रिक कोपुलस्टन, एस.जे, हिस्ट्री ओफ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम ५, प्रकाशन : दा इमेज बुक, न्यूयार्क लंदन, १६६४, पृ० ३२७
12. इस्मत चुग़ताई, बिच्छू फूफी, हिंदी अनुवादक : मोहम्मद उमर, प्रकाशन : वाणी दिल्ली, २०१८, पृ०–५१
13. सीनहोमर, जैकलांका, प्रकाशन : रूटलेज, लंदन, २०१५, पृ० ४३–४८
14. लुडविग़ वित्तगेन्स्टीन, फ़िलॉसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशन, अंग्रेज़ी अनुवाद : जी. ई. ऐम. आंसकोंब, प्रकाशनः ब्लैकवेल, अमेरिका, २००४, पृ० ८०–८१
15. इस्मत चुगताई, बिच्छू फूफी, हिंदी अनुवाद : मोहम्मद उमर, प्रकाशन : वाणी, दिल्ली, २०१८, पृ०–६२
16. इस्मत चुग़ताई की सर्वश्रेष्ठ कहानियां, सम्पादकः नंद किशोर विक्रम, प्रकाशन : साक्षी, दिल्ली २०१६, पृ०–१६६

# बलवंत गार्गी के नाटक और स्त्री अस्मिता

डॉ. गुरमीत सिंह*

**केवल अच्छे कथोपकथन और अच्छी कथावस्तु से ही नाटक की उत्पत्ति नहीं होती नाटक की नाड़ियों में नाटकीय संघर्ष का रक्त की भांति अनवरत प्रवाह होना चाहिए।[1]**

—बलवंत गार्गी

एक लेखक की कालजयी और जीवंत रचनाएं हीं उसके लेखन का अमर दस्तावेज़ होती हैं। जो लेखक को भी अमरत्व प्रदान करती हैं। एक साधारण व्यक्ति के जीवन में अंतिम पूर्ण विराम मृत्यु है लेकिन एक साहित्यकार के लिए मृत्यु अंतिम पूर्ण विराम नहीं, वे अपनी कालजयी रचनाओं के माध्यम से सदैव जीवित रहता है। ऐसी रचनाएं भाषा के बंधनों को तोड़कर बहुत आगे निकल जाती हैं। हर ज़बान के पाठक को उत्साह से भर देती हैं।

पंजाबी साहित्य में बलवंत गार्गी भी ऐसे ही शिखर पुरुष हैं जिनकी गणना पंजाबी साहित्य में ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य में एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में की जाती है। एक लेखक अपने लेखन के माध्यम से ही बदलाव और क्रांति की नींव रखता है, फिर धीरे–धीरे इमारत बनाता है और कलम की नोंक से ही क्रांति लाता है। इस दृष्टि से बलवंत गार्गी का साहित्य उत्कृष्ट है। जिसमें नए मूल्यों, विचारों, मान्यताओं, दृष्टिकोणों का अथाह भंडार है। बलवंत गार्गी ने 2 वर्षों तक वाशिंगटन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। उनकी पुस्तक रंगमंच के लिए उन्हें 1967 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके बाद उन्हें पद्मश्री और पंजाबी नाटक लेखन के लिए संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। प्रोफेसर गार्गी उन चुनिंदा कलाकारों में शामिल है जिन्हें साहित्य अकादमी और संगीत नाटक अकादमी दोनों ही पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 22 अप्रैल 2003 को उनका निधन हो गया।

पंजाबी साहित्य में मुख्य रूप से नाटक विधा को दिशा देने वालों में गार्गी का नाम अन्यतम है। उनके समस्त नाटक अपनी कथावस्तु से नहीं बल्कि नवीन दृष्टिकोण के कारण भी पंजाबी साहित्य में अपना अलग स्थान रखते हैं। बलवंत गार्गी उन लेखकों में है जिन्होंने सर्वप्रथम पंजाबी रेडियो नाटकों को सँवारने व निखारने का प्रयास किया। उनके नाटकों में मुख्य रूप से संवेदनात्मक और वैचारिक सरोकार हैं। गार्गी के नाटकों को पढ़ने का अर्थ है उनके व्यक्तित्व, दर्शन, दृष्टिकोण को पढ़ना।

लोहा कुट्ट, कणक दी बल्ली, धुनी दी अग्ग, सोहणी, सुल्तानरजिया, अभिसारिका,केसरो, सोकण सभी बलवंत गार्गी के प्रमुख स्त्री केन्द्रित नाटक हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों में स्त्री की वैयक्तिकता को पाठकीय चेतना का हिस्सा बनाने का प्रयास किया। स्त्री को

* एसोसिएट प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

सामाजिक रूढ़ियों, परिवारिक बंधनों तथा निजी संकीर्णताओं से मुक्त किया है। तीवीं मेरे नाटकांदा मुख विषा बणी रही है। लोहा कुट्ट तो लै के सोकणतीक। मेरे बहुते नाटकां विचं तीवीं मचदी होई अतृप्त आत्मा रही है। चाहें ऊह लोहा कुट्ट दी संती सी या उस दी धीबेनो या कणक दी बल्ली दी तारों या सुल्तानरज़िया। जो रेतले थल विचं ससी वांग गुलाम हब्शी याकूत दे प्यार विचं कुर्बान हो गई।[2] (स्त्री मेरे नाटकों का मुख्य विषय रही है। लोहा कुट्ट से लेकरसोकण तक। मेरे बहुत से नाटकों में स्त्री अतृप्त आत्मा रही है। चाहे वह लोहा कुट्ट की संती हो या उसकी बेटी बेनो या कणक दी बल्ली की तारों या सुल्तानरज़िया। जो सस्सी की तरह गुलाम हब्शी याकूत के प्यार में कुर्बान हो गई।) उनके स्त्री पात्रों में शोषण,अपमान और उपेक्षा से उत्पन्न विद्रोह का स्वभाव देखने को मिलता है। फिर चाहे वह लोहा कुट्ट की संती, बेनो, अभिसारिका की रचना, रज़िया या सोहणी हो। वह स्त्री को मात्र स्त्री के रूप में देखने की पैरवी करते हैं। इसलिए वह अपने साहित्य में इस बात का विरोध करते हैं कि स्त्री की सार्थकता पुरुष की पसंद पर क्यों निर्भर करती है ?

गार्गी अपने नाटकों में स्त्री पात्रों को परवाज़ देते हैं जिसके कारण वह अपने निर्णय स्वयं लेती हैं और समाज को नवीन विचार, मूल्य व दृष्टि प्रदान करती है। मेरी दिलचस्पी अजीहे पात्रां विचं है जो अनदेखी ते अनजानी रेखावां नू उघाड़ सकण। अजीही तीवियाँ जो औझड़े राहां ते तुर के नवियाँ पगडंडियां पा जाण। अजी हे विषया नू ही मैं पठकां सामने पेश करण विचं खुशी ते तसल्ली महिसूस करदा हां।[3] (मेरी दिलचस्पी ऐसे पात्रों में है जो अनदेखी अनजानी रेखाओं को उघाड़ सके। ऐसे विषय को ही पाठकों के समक्ष पेश करके मैं खुशी और तसल्ली महसूस करता हूं।) एक समाज के निर्माण में स्त्री व पुरुष दो आधार स्तंभ हैं। दोनों में से किसी एक के ना रहने पर समाज की परिकल्पना संभव नहीं। जिस प्रकार एक पुरुष के अस्तित्व को उसकी वैयक्तिकता के साथ स्वीकार किया जाता है ठीक वैसे ही एक स्त्री के अस्तित्व को भी उसकी वैयक्तिकता के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन प्रश्न जब स्त्री का होता है तब उसके साथ अनेक संबंधों को जोड़ दिया जाता है.....वह एक मां, बेटी, बहू, प्रेमिका के रूप में ही समाज को स्वीकार्य है।

नारी मनोविज्ञान को गार्गी के नाटकों में देखा जा सकता है। उन्होंने नारी मन को परत दर परत खोलने का प्रयास किया है। गार्गी ने अपने नाटकों में नारी स्वभाव के विभिन्न रूपों और रंगों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर निरूपित किया है।

मैंने यहाँ मुख्य रूप से बलवंत गार्गी के नाटकों का विश्लेषणात्मक पक्ष प्रस्तुत किया है। जिसके लिए चयनित नाटक हैं– लोहा कुट्ट, धुनी दी अग्ग, सोहणी, सुल्तानरज़िया और अभिसारिका। गार्गी ने साहित्य की कई विधायों में लेखन कार्य किया जिसमें संस्मरण व कहानियां भी शामिल हैं परंतु उनकी ख्याति का आधार स्तंभ मुख्य रूप से उनके नाटक ही रहे। नाटक ही उनके जीवन में उनके सशक्त विचारों और उन्नत दृष्टिकोण को व्यक्त करने का माध्यम बने।अपने नाटकों के कारण ही उन्हें विश्व में ख्याति प्राप्त हुई। केवल पंजाबी भाषा में ही नहीं बल्कि अनुवाद के माध्यम से उन्हें विश्व की कई भाषाओं में पढ़ा और समझा गया, विश्व के कई हिस्सों

में उनके नाटकों का सफल मंचन हुआ। उनके नाटकों की कथावस्तु पाठकों को इस प्रकार बाँध लेती है कि वह चाहकर भी उन्हें बीच में नहीं छोड़ सकता।

लोहा कुट्ट गार्गी का एक प्रतीकात्मक नाटक है जिसमें उन्होंने नारी संबंधित परंपरागत रूढ़ियों पर तीखी चोट की है,जो हमारे सामाजिक ढांचे को झकझोर देती है। इसकी पात्र बेनो और संती दोनों स्त्री के लिए बनाई गई सामाजिक मर्यादाओं का खंडन करती हैं और बगावत करती हैं। जो कुछ लोहा कुट्टविचंवापरदा है ऊह आम लोहार टब्बरदा नहीं सगों समाज दे लोहार रिश्तियाँते भावनात्मक दमन दा प्रतीक है।[4] (जो कुछ लोहा कुट्टमें घटित होता है वह आम लोहार जाति से सम्बंधित नहीं बल्कि समाज के लोहार रिश्तों और भावनात्मक दमन का प्रतीक है।)

इस नाटक में बेनो आधुनिक युग की युवती का प्रतीक है जो अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रति जागरूक है। उसके अंदर स्वयं के अस्तित्व का एहसास है। वह सामाजिक बंधनों परंपराओं से समझौता नहीं करती। उसके लिए सामाजिक आदर्श मूल्य केवल ढोंग हैं।जिसकी आड़ में मां बाप अपने अहम को संतुष्ट करते हैं। खोखले सामाजिक मूल्य और परंपराएं चिरकाल से स्त्री की प्रेम भावनाओं को दबाती रही हैं। जब भी वह इसकी अभिव्यक्ति करती उसे दबा दिया जाता लेकिन बेनो प्रेम करना अपना अधिकार समझती है और विरोध करते हुए अपनी माँ से कहती है तूं मेनू वी आपणे वरगा बनाना चाहुंदी है। आपणी  मूरत, आपणी हारी होई बाज़ी मेरे सिर मढ़ना चाहुंदी है। मैं आपणी बाज़ी नवे सिरियां खुद खेडांगी। जे हार वीजावांतांईह मेरी आपणीहार होवेगी। इक तरह मेरी आपणी जीत। मेरा आपणाइरादा, आपणी दलील, आपणीमर्जी।[5] (तुम मुझे भी अपने जैसा बनाना चाहती हो। अपनी ही मूरत, अपनी हारी हुई बाज़ी मेरे सिर मढ़ना चाहती हो। लेकिन मैं अपनी बाज़ी नए सिरे से खुद खेलूंगी। अगर हार भी गयी तो यह मेरी अपनी हार होगी। एक तरह से मेरी जीत। मेरा अपना इरादा,अपनी दलील, अपनी मर्जी।

लोहा कुट्ट की नायिका संती अपने जज्बातों को दबाते हुए काकू लोहार के साथ जीवन व्यतीत करती है। उनकी बेटी बेनो घर के लोहे सामान कठोर वातावरण का विरोध करती है। उसकी माँ उसके इस विरोध से क्रोधित होती है लेकिन धीरे–धीरे वह अपने जीवन के बारे में सोचने लगती है। फिर उसे सहसा लगता है कि बेनो सही है। बल्कि उसका ही प्रतिरूप है जो विरोध करना जानती है। उसकी अपनी ही कोख की आवाज़। फिर वह बेनो का रूप बन जाती है और काकू लोहार के कड़े स्वभाव के विरोध में खड़ी हो जाती है।

अपने इस नाटक के माध्यम से गार्गी ने स्त्री को उसके स्वतंत्र व्यक्तिगत अस्तित्व की प्रेरणा दी है जिसमें संती अपनी बेटी का अनुकरण करती है और गज्जन के साथ भाग जाती है। नाटक विचं मैं विरसे दी तुरी आउंदी भावना नू उल्टा पेश कित्ता है। स्वभाविक तौर ते धी आपणी माँ दा प्रतीकरण है .....पर मैं नाटक विचं मानसिक बगावत दी चिंग माँ तो धीवल नहीं सुट्टी सगोंधी तो माँ वाल सुट्टी है।[6] (इस नाटक में मैंने बरसों से चली आ रही भावना को उल्टा पेश किया है। स्वभाविक तौर पर बेटी अपनी माँ का प्रतीकरण होती है..... पर मैंने इस नाटक में मानसिक बगावत की चिंगारी माँ से बेटी की तरफ नहीं बल्कि बेटी से माँ की तरफ फेंकी है। )

गार्गी का यह नाटक पूर्ण रूप से यथार्थवादी,प्रतीकात्मक नाटक है जिसमें स्त्री मन की मनोवैज्ञानिक परतों को बेहद खूबसूरती से प्रस्तुत किया है। नाटक के दृश्य में मौजूद प्रत्येक वस्तु प्रतीक है–भट्टी संती के दबे कुचले अरमानों का प्रतीक है,उसमें जलती सुलगती चिंगारियां गज्जन और संती के प्रेम की जलती हुई यादें हैं,हथौड़ा लोहार समाज के संवेदनहीन रिश्तों का प्रतीक है जिसमें लोहे जैसी कड़क हीनता भरी है।

गार्गी के जीवन में प्रेम एक गहन अनुभव रहा है, उनके नाटकों में प्रेम के कई रूप देखने को मिलते हैं लोहा कुट्ट, कणक दी बल्ली, धुनी दी अग्ग, सोहणी, सुल्तानरजिया, अभिसारिका सभी में प्रेम की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। उनके नाटक प्रेम से जुड़े लगाव, अलगाव, विसंगत और द्वंद पूर्ण स्थितियों को नाटकीय ढंग से पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। धुनी दी अग्ग नाटक में भी गार्गीने स्त्री–पुरुष संबंधों की परतों को उधेड़ा है। इसकी स्त्री प्रचंड रूप में बदला लेती है। धुनी दा अर्थ इथ्थे काम दी धुनी है जिसविचं स्त्री इक तत रूप शक्ति है।[7] (धुनी का अर्थ यहाँ काम की धुनी है जिसमें स्त्री एक तत्व स्वरूप शक्ति है।) वह (स्त्री) जीवन शक्ति की मालिक भी है और नाशक भी। नाटक में दो नायिकाएं एक नायक को प्रेम करती है और उसके बीज (गर्भ) को पाना चाहती हैं। एक औरत गर्भवती होकर ही पूर्ण स्त्री कहलाती है इसके बिना वह अधूरी है। इस पूर्ण अवस्था को दोनों नायिकाएं पाने का प्रयास करती हैं।

दूसरी तरफ पुरुष भंवरे की तरह हर कली को चूसता है और फिर उनसे छुटकारा पाना चाहता है। मैं उस नाल कोई संबंध नहीं रखना चाहूंदा। बच्चे दे बहाने सदा लई अपने आप नू मेरे नाल जोड़ना चाहूंदी है।पहिला असी जद मिलदे सी तां ऊह उडीक करदी सी, उस विचं उदारता सी इस घटना पिदो ऊह खुदगर्ज हो गई है।[8] (मैं उसके साथ कोई सम्बंध नहीं रखना चाहता। वह बच्चे के बहाने सदा के लिए खुद को मुझसे जोड़ना चाहती है। पहले जब हम मिलते थे तो वह मेरा इंतजार करती थी, उसमें उदारता थी, लेकिन इस घटना के बाद वह खुदगर्ज हो गयी है।) वीणा और रीटा दोनों अजीत को प्रेम करती हैं। रीटा एक अंग्रेज लड़की है जो अजीत के लिए हजारों मील की दूरी तय करके भारत आई है जबकि वीणा उसकी मंगेतर है। रीटा गर्भवती हो जाती है। वह नायक की इच्छा के विरुद्ध बच्चे को जन्म देने का निर्णय लेती है। विश्वास मेनू जिंदगी विच है, धड़क दी होई जिंदगी।[9] (मेरा विश्वास जिंदगी में है, धड़कती हुई जिंदगी में ) लेकिन उसका बच्चा नहीं बचता और फिर वह इंग्लैंड वापस जाने का निर्णय लेती है। इस नाटक में गार्गी स्वयं एक पात्र है जो नायिकाओं को समझाने का प्रयत्न करता है। मर्द दी जात ही बकवास है। ऊहसहिजेही किसी घटिया गश्ती नाल रात गुज़ार सकदा है ....ऊह न तेनु प्यार करदा है न वीणा नू। बस तुहाडे दोहा दे प्यार दी गर्मी उस नू पिघला देंदी है।[10] (मर्द की जात ही बकवास है। वह सहज ही किसी घटिया गश्ती के साथ रात गुज़ार सकता है...वह न तुमसे प्यार करता है न वीणा से। बस तुम दोनों के प्यार की गर्मी उसे पिघला देती है।)

लेकिन रीटा गार्गी की बातों पर ध्यान न देते हुए एक बार फिर पूर्ण स्त्री बनने का प्रयास करती है और वह एक बार फिर अजीत का बीज अपने अंदर धारण करती है, अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर इस बार वह अजीत को जान से मार देती है।

वीणा अपनी शादी के दिन जब उसे ढूंढने के लिए रीटा के घर आती है और अजीत को संदिग्ध हालत में देखती है तो वह उसे कहती है डायन तू उस नूमार दित्ता।[11] (डायन तूने उसे मार दिया)रीटा अपने पेट पर हाथ फेरते हुए कहती है नहीं, मैं नहीं मारिया। मैं उसनू सांभलेया।[12] (नहीं मैंने उसे नहीं मारा बल्कि सम्भाल लिया है ) इस प्रकार इस नाटक में प्रेम का प्रचंड रूप देखने को मिलता है।

सोहणी गार्गी का एक अन्य प्रेम प्रधान नाटक है। यह नाटक लोक कथाओं की परंपराओं पर आधारित है इसमें मानव की प्रसिद्ध प्रेम कथा है। नाटक का मूल विषय सोहणी महींवाल के प्रेम का चित्रण करना है। जिसको लेखक ने अलग–अलग उपमाओं और रूपकों से सजाकर पाठक के समक्ष प्रस्तुत लिया हैं "मैंने बंजारों के गीतों का प्रयोग किया है जो कि जीवन पर समालोचना हैं और उस भावी की गूंज है जो पात्रों के चारों ओर मंडराती है। उपमाएं तथा रूपक पात्रों के जीवन से लिए गए हैं। नदी, कुम्हार का चाक और बंजारों के गीत बार–बार आते हैं। नदी बहती है,कुम्हार का चाक घूमता है और बंजारे गाते हैं सभी जीवन के प्रतीक हैं"।[13]

सोहणी को बुखारा के इज्जत (अन्य नाम महींवाल) नामक एक युवक से प्रेम हो जाता है। यह नाटक प्रेम के प्रगाढ़ भाव को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है"प्रेम देश और स्थान की सीमा नहीं मानता मनुष्य के स्वार्थ से देश पराए होते हैं पहाड़ों और नदियों से नहीं सौंदर्य ऐसी पवित्र ज्योति है जो भेदभाव के अंधकार को दूर कर देती है"।[14] लेकिन उसकी शादी उसकी मर्जी के खिलाफ फत्तू से हो जाती है। महींवाल सोहणी से बिछड़ कर साधु हो जाता है। सोहणी उदास रहने लगती है। लेकिन एक दिन वह फिर महींवाल से मिलती है और फिर उनका प्रेम पुनः जागृत हो जाता है। अपने पति की सेज़ छोड़ कर वह नदी पार करके महींवाल से मिलने जाती है।"महींवाल :किसी देवी से मुझे इतना प्रेम नहीं हो सकता । प्रेम के योग्य कोई मानव ही हो सकता है, देवी देवता नहीं। तू धरती की बेटी है । तुझमें कच्ची मिट्टी की गंध है।सोहणी : हां मैं धरती की बेटी हूँ। तुम अब नदी पार करके आने न पाओगें । मैं नदी को जानती हूँ । यह मेरी है ....अपने घड़े की सहायता से नदी पार करके तुम्हारे पास पहुचं जाऊँगी"।[15]

यह सब ससुराल में पता लग जाने के कारण उसकी ननद एक दिन वह घड़ा बदल देती है जिसके सहारे सोहणी महींवाल से मिलने जाया करती है। घड़ा कच्चा होने के कारण वह चुनाव की लहरों में डूब जाता है और सोहणी भी डूब जाती है। दूसरी ओर से महींवाल भी नदी में कूद जाता है और दोनों अमर हो जाते हैं।

इस प्रकार नाटक के अंत में नायक और नायिका दोनों मर जाते हैं और प्रेम में असफल होते हुए भी सफलता के चरम बिंदुओं को स्पर्श करते हैं। इस नाटक में भी गार्गी के अन्य नाटकों के भाँति नारी की प्रेम भावनाओं की अभिव्यक्ति और समाज की मान मर्यादाओं के प्रति उसके विद्रोह को दर्शाया है।

अभिसारिका गार्गी का एक ऐसा नाटक है जिसमें नाटक के अंदर एक अन्य नाटक भी चल रहा है। नाटक में स्त्री पुरुष के रिश्तों का आकलन है। जब स्त्री पुरुष के रिश्ते से प्रेम

समाप्त हो जाता है तब वह रिश्ता, रिश्ता ना रहकर एक रिश्ते की लाश रह जाता है। जिसे बहुत दिनों तक स्त्री पुरुष नहीं ढो सकते। प्रदीप और मालती का रिश्ता ऐसे ही पति पत्नी का रिश्ता है। जिसमें प्रदीप का आकर्षण रचना की तरफ होने के बाद पति पत्नी का आपसी प्रेम समाप्त हो जाता है। दोनों अपने रिश्ते की लाश को उठाए रखते हैं। ईह पलंग ताबूत है जिसविचं अस्सी दो लाशावांगपए हां।[16] (यह पलंग इक ताबूत की तरह है जिसमे हम दोनों दो लाशों की तरह पड़े हैं।) दोनों अलग होने का निर्णय लेते है। प्रदीप रचना के साथ रहना शुरू कर देता है। रचना प्रदीप से प्रेम करती है। केवल स्त्री पुरुष का प्रेम और उससे भी प्रेम चाहती है। वह पति पत्नी के रिश्ते में बंधना नहीं चाहती। वह एक स्वतंत्र स्त्री है जिसे प्रदीप से प्रेम हो जाता है और वह इसे स्वीकार भी करती है।

प्रदीप एक प्रोडयूसर है जिसके साथ नाटक करते हुए उसे नाटक के नायक याकूब यानी रणदीप से प्रेम हो जाता है। वह उसकी जिंसी सोहबत के लिए बेकरार हो उठती है और प्रदीप को छोड़ देती है। वह अपने इस भाव को भी अपने भीतर नहीं दबाती, बेझिझक प्रदीप को सब बता देती है मेरा सारा जिस्म तड़प रिहा,उस वास्ते... मैं उसनू इस शिद्दत नाल मोहब्बत कर दी हां.. मैनू माफ कर दे प्रदीप..सोचिया सी तू ही मेरी मंजिल है ....तू ही मेरा आदर्श.... [17](मेरा सारा जिस्म उसके लिए तड़प रहा है ....मैं उसे पूरी शिद्दत से मोहब्बत करती हूँ...मुझे माफ़ कर दो प्रदीप....सोचा था तुम ही मेरी मंजिल हो....तुम ही मेरा आदर्श) रचना का एक समय में दो पुरुषों से प्रेम ही इस नाटक का मुख्य विषय है जिसे गार्गी इस प्रकार व्यक्त करते हैं मैं अपने नाटका विचं अभिसारिका दा आधुनिक संकल्प दित्ता है। सवाल उठदा है कि तीवीं मर्द दी जागीर है ? क्या उसनू मर्द वांगहक है की ऊहवी अपने मन विचं अपने पति तों छूट किसे होरनू प्यार कर सके,तेइ कोवेले दोहा नू स्वीकार करें ?[18] (मैंने अपने नाटको में अभिसारिका का आधुनिक संकल्प दिया है। सवाल यह उठता है की क्या स्त्री मर्द की जागीर है ? क्या उसे मर्द की तरह यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने पति को छोड़ कर किसी अन्य पुरुष से प्यार कर सके और एक ही समय में दोनों को स्वीकार भी करे।)

प्रदीप रचना और रणदीप के प्रेम की बात सुन कर उसकी तुलना कोठे की रंडी से करता है। जिससे रचना की भावनाओं को ठेस पहुंचती है और वह उसे छोड़ कर चली जाती है। उसके गर्भ का भी नाश कर देती है। जब प्रदीप का अंश उसके भीतर से कट कट कर बाहर निकल रहा होता है तो उसे लगता है जैसे प्रदीप उसके जीवन से भी टुकड़े–टुकड़े होकर निकल रहा है। इस नाटक विच समस्या सिर्फ पति तो बगावत दी गल नहीं सगो इको वेले दो प्रेमियों नू इको स्थल उत्ते स्वीकार करन दा सुवाल है।[19] (इस नाटक में समस्या सिर्फ पति से बगावत की नहीं है बल्कि एक ही समय दो प्रेमियों को एक ही स्थान पर स्वीकार करने का प्रश्न है।)

रचना के अलग होने के बाद प्रदीप बहुत अकेला महसूस करता है। रचना भी एक बार फिर उसे अपने जीवन में वापिस पाने के लिए बेचैन हो उठती है लेकिन इस बार प्रदीप फैसला करता है की वह उसके पास नहीं जायेगा। गार्गी का यह नाटक प्रेम की आधुनिकता को अपने में

समेटे हुए प्रेम के पुराने आदर्शों को तोड़ता हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है की गार्गी ने रचना में पौराणिक पात्र की परिकल्पना की है। "अभिसारिका दी हीरोइन दा चरित्र वखरा है।तीवीं दा इक होर रूप। या ईह आखों तत्वरूपीतीवीं दी चेतना विचं बदली किसे पराए मर्द लई इच्छा। उसदा तेज तप इसे दोहरे वेग ते विरोधाभावी स्वभाव विचं झलकदा है"।[20] (अभिसारिका की नायिका का चरित्र बिल्कुल अलग है। स्त्री का एक ओर रूप। या यह कह सकते है की तत्व रूपी स्त्री की चेतना में किसी अन्य पुरुष की इच्छा। उसका तेज़ तप इसी दोहरी गति और विरोधाभासी स्वभाव में दिखता है।)

सुल्तान रज़िया नाटक की भूमिका में बलवंत गार्गी स्पष्ट करते हैं कि अब तक केवल पंजाब से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं को ही नाटक का आधार बनाया गया लेकिन यह नाटक समूचे भारत के इतिहास का एक कालखंड है। नवतेज सिंह के अनुसार "सुल्तानरज़िया पंजाबी दा पहिला ऐतिहासिक नाटक है जिस नू कुल हिंदुस्तान विचंकलात्मक परवानगी मिली है। इसदी शैली सुंदर ते नाटकी बणतर खूबी है। बलवंत गार्गी ने ईह नाटक लिख के साड़े मंच नू उच्चा कित्ता है"। सन 1236 में दिल्ली के सिहासन पर एक औरत बादशाह बनी। इस नाटक में उसके राज्य, काल उसके व्यक्तित्व और उसके जीवनका सशक्त चित्रण है। जिसने बहुत सूझबूझ और शौर्य के साथ शासन व्यवस्था को चलाया लेकिन वह अपने ही परिवार की साजिश का शिकार हो गई और अंत में उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। अपने इस नाटक में बलवंत गार्गी ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि जब मनुष्य की निजी भावनाएं उसकी व्यावहारिक जिम्मेदारियों के विरुद्ध हो जाए तो जीवन निश्चित रूप से दुरूह बन जाता है। रज़िया की प्रेम भावनाएं सुल्तान के रूप में कर्त्तव्य पर हावी हो जाती हैं। उसके याकूत से प्रेम संबंधों के कारण सभी उससे ईर्ष्या करने लगते हैं लेकिन वह किसी की भावनाओं की परवाह नहीं करती" मैं केवल मलिका नहीं एक औरत वी हां। इस औरत नू मैं ज़रा बकतर विचं लुको के रखिया, पर इस दी अग्ग मेरे शरीर नू झुल्सौंदी रही अते मैं अंदर हि अंदर जलदी रही"।[22] ( मैं केवल मलिका नहीं एक औरत भी हूँ। अपने भीतर की इस औरत को मैंने पर्दे में छुपो कर रखा, पर इसकी आग मेरे शरीर को झुलसती रही और मैं भीतर ही भीतर जलती रही।)

सुल्तान रज़िया नाटक तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के संदर्भ में समसामयिक भारतीय राजनीति की ओर संकेत करता है।नाटक में विशुद्ध रूप से इतिहास सम्मत घटनाओं को स्थान देते हुए नाटककार ने रज़िया के प्रेम प्रसंगों को ही अधिक उभारा है किंतु उस में अनायास ही हमें वर्तमान व्यवस्था के दर्शन होते हैं। नाटक की मूल समस्या पुरुष प्रधान समाज द्वारा स्वयं को नारी द्वारा संचालित या शासन व्यवस्था में डालने का प्रयत्न है। यह समस्या आधुनिक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में उतनी ही ज्वलंत है जितनी रज़िया के समय में भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, चाटुकारिता, अमीरों में आपसी सत्तासंघर्ष समसायिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में चरितार्थ होता है।

गार्गी के समस्त नाटकों में उनकी सृजन प्रतिभा की अनोखी झलक देखने को मिलती है। रंगमंच की दृष्टि से भी उनके नाटक उत्तम कोटि के नाटक हैं। गार्गी के अनुसार रंगमंच और नाटक का चोली दामन का साथ है मंच की अनुपस्थिति में नाटक मैं सोच भी नहीं सकता।[23] संवादों का नाटक विन्यास और घटनाओं का स्थान उनके प्रत्येक नाटक में देखने को मिलता है गार्गी छोटी–छोटी घटनाओं में स्थित व्यंग्य और विडंबना को बेहद खूबसूरती से उभारते हैं। उन्हें अपने नाटकों की विषय वस्तु की प्रेरणा सामाजिक ताने–बाने के साथ साथ धार्मिक कथाओं, इतिहास और लोक कथाओं से प्राप्त होती थी। अपने दर्जनभर संपूर्ण नाटकों तथा एकांकियों के पांच संकलन की रचना और प्रदर्शन के सिलसिले में प्रोफेसर गार्गी ने अपने रंग फलक को यथार्थ की ठोस धरातल से लेकर धार्मिक कथाओं तक के इंद्रधनुषी रंगों से रंगा। गार्गी के नाटक उनके सृजनात्मक शक्ति के विभिन्न पहलुओं के परिचायक है। उनका समस्त साहित्य सशक्तता की विराट चेष्टा कहा जा सकता है। उनकी साहित्यिक धरोहर उन्हें संपूर्ण विश्व में सदा जीवित रखेगी।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. गार्गी, बलवंत, सोहणी, नयी दिल्ली : उत्तर चंद कपूर एंड संस प्रकाशन, 1990, पृ० सं० 5
2. गार्गी, बलवंत, अभिसारिका, नयी दिल्ली : नवयुग प्रकाशन, 1990,पृ० सं० 5
3. वही, पृ० सं० 8
4. गार्गी, बलवंत, लोहा कुट्ट, नयी दिल्ली : नवयुग प्रकाशन, 2011, पृ० सं० 8
5. वही, पृ० सं० 37
6. वही, पृ० सं० 8
7. गार्गी, बलवंत, धुनी दी अग्ग, नयी दिल्ली : नवयुग प्रकाशन, 1968, पृ० सं० 10
8. वही, पृ० सं० 50
9. वही, पृ० सं० 38
10. वही, पृ० सं० 61
11. वही, पृ० सं० 89
12. वही, पृ० सं० 89
13. गार्गी, बलवंत, सोहणी, नयी दिल्ली : उत्तर चंद कपूर एंड संस प्रकाशन, 1968, पृ० सं० 10
14. वही, पृ० सं० 39
15. वही, पृ० सं० 106
16. गार्गी, बलवंत, अभिसारिका, नयी दिल्ली : नवयुग प्रकाशन, 1990, पृ० सं० 21
17. वही, पृ० सं० 49
18. वही, पृ० सं० 7–8
19. वही, पृ० सं० 8

20. वही, पृ० सं० 8
21. गार्गी, बलवंत, सुल्तान रज़िया, नयी दिल्ली : नवयुग प्रकाशन, 1968, पृ० सं० भूमिका से
22. वही, पृ० सं० 80
23. गार्गी, बलवंत, सोहणी, नयी दिल्ली : उत्तर चंद कपूर एंड संस प्रकाशन, 1968, पृ० सं० 5

# 'भू–देवता' किसान जीवन का सशक्त दस्तावेज

डॉ. राजेन्द्र कुमार सेन*

भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ कृषि की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। कृषि को भारतीय अर्थ–व्यवस्था की रीढ़ भी माना जाता है। भारत के सकल घरेलू उत्पाद और भुगतान संतुलन में भी कृषि की अपनी विशेष भूमिका रही है। भारत में कृषि उत्पाद आधारित उद्योग देश की संवृद्धि और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। देश की बढ़ती हुई आबादी के लिए खाद्यान संकट की स्थिति उत्पन्न होने पर हरित क्रांति ने देश को आत्म निर्भर बनाया।परन्तु विडंबना यह है कि कृषि के इतने महत्त्व के बावजूद कृषि क्षेत्र का आधार स्तम्भ किसान सदैव हाशिए पर रहा और जीवन की मूलभूत सुविधाओं के लिए संघर्षरत रहा है। औपनिवेशिक शासन के दौरान किसान सूखा, बाढ़, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं के साथ–साथ महाजनी और साहूकारी तथा जमींदारी शोषण से जूझता रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत सरकारों ने कृषि क्षेत्र में अनेक सुधार किए यथा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तथा कृषि सम्बन्धी ऋण उपलब्ध करवाने हेतु सहकारी बैंको का विकास–विस्तार आदि। कृषि की उन्नति के लिए भूमि सुधार किए तथा कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना करके नवीन कृषि योजनाओं को लागू किया। सिंचाई के क्षेत्र में भी सरकारों ने महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए देश में नहरी सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि के साथ–साथ ट्यूबवेल, कुएं तथा तालाबों का जीर्णोधार एवं विस्तार किया। उन्नत बीज, खाद और कीटनाशकों के प्रयोग से कृषि के उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए तथा सराकारों ने भंडारण पर भी विशेष ध्यान दिया। परन्तु इतना परिवर्तन होने के बावजूद किसानों की स्थिति में संतोषजनक परिवर्तन नहीं हो सके। किन्तु आज भी किसान कर्ज की समस्या से जूझते हुए आत्महत्या करने को विवश है। भारतीय साहित्य में किसानों की इन समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। किसान देश के किसी भी कोने में हो परन्तु उसकी समस्याएँ एक समान हैं। भारतीय भाषायों में देश के अलग–अलग भाग में रहने वाले किसानों के जीवन को आधार बनाकर साहित्य की रचना की गयी है। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' की भांति उड़िया में फ़क़ीर मोहन सेनापति का 'छह बीघा जमीन' और पंजाबी में गुरदयाल सिंह का 'मढ़ी का दीवा' उपन्यास आता है। इसी शृंखला में तेलगू भाषा में केशव रेड्डी द्वारा रचित उपन्यास 'भू देवता' एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद जे. एल रेड्डी ने किया है। इस उपन्यास की प्रशंसा करते हुए अमरकांत ने कहा है कि 'तेलगू उपन्यास भू देवता बहुत अच्छा है' और यह पंक्ति उपन्यास (हिंदी अनुवाद) के आवरण पर उद्धृत है। उपन्यास के सम्बन्ध में अनुवादक का कथन है 'भू–देवता' एक किसान की मृत्यु और उसके पुनरुत्थान की गाथा है। उस किसान के प्रयत्न से लेकर उसकी विफलता तक की,

* सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा

असुरक्षा से उन्माद तक की और उन्माद से मृत्यु तक की यात्रा का यहाँ अंकन है। कथा में अंततः प्राण त्याग करने की विधि के द्वारा वह कर्मवीर बनता है, अमर बनता है और अंततः एक पुराण–पुरुष बनता है। उसके गाँव में प्रचलित एक स्थलपुराण का नायक बनता है।"[1]

विवेच्य उपन्यास के लेखक केशव रेड्डी तेलुगु कथा साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। 'उसने जंगल को जीता', दाग़ी तिकोन', तथा 'सिटी ब्यूटीफुल' आदि इनके चर्चित उपन्यास हैं। इनकी कृतियों का हिंदी, अंग्रेजी तथा कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनके रचना जगत में किए गए कार्यों के लिए विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया।

भारतीय परिवेश में कृषि और किसान के महत्त्व को उजागर करते हुए प्रेमचंद ने लिखा " भारत के अस्सी फ़ीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फ़ीसदी वह हैं जो अपनी आजीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फ़ौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्र दाता हैं, पेट भर अन्न को तरसते हैं, जाड़े–पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं।"[2]

विवेच्य उपन्यास में प्रेमचंद के इस कथन की पुष्टि होती है। अन्न दाता होने पर भी किसान गरीबी और भुखमरी से त्रस्त हैं। इस सम्बन्ध में लेखक अपने विचार साझा करते हुए लिखते हैं "मेरे परिचित संसार में गरीबी और भुखमरी है। मैं कोई भी उपन्यास लिखूं, उसी प्रकार के जीवन को अपना विषय बनाता हूँ। मैं दीन–दलित लोगों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता हूँ। इसलिए उन्हीं के बारे में लिखता हूँ। आँख खोलते ही भूख और दरिद्रता ही जहाँ दिखाई पड़ती हो, तब उसे छोड़कर और किस विषय पर लिखूं? मैं जन्म से दलितेतर हूँ; परन्तु अपनी आर्थिक स्थिति की दृष्टि से मैं दलित ही हूँ।"[3]

भारतीय किसान का जीवन संघर्षों से भरा हुआ है। अन्न दाता होने पर भी उसे अन्न मयस्सर नहीं होता। कोल्हू के बैल की तरह निरंतर कार्यरत होने पर भी अभावग्रस्त जीवनयापन करना पड़ता है। भारतीय किसान की इस दशा का चित्रण करते हुए दिनकर जी ने कहा है :–

"जेठ हो या पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है
छूटे बैल का संग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है
वसन कहाँ, सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है"[4]

प्रेमचंद का मानना था कि राष्ट्र के विकास के लिए किसानों और मज़दूरों का विकास होना अनिवार्य है। कठिन परिश्रम के बावजूद भी यह वर्ग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा रहा है। उनको किसानों के लिए गहन सहानुभूति थी। उन्होंने ज़मींदारी प्रथा को समाप्त करने की बात भी उठाई। उन्होंने अपने लेख 'ज़बरदस्ती' के माध्यम से क़र्ज़ में डूबे भारतीय किसानों की दशा को चित्रित करते हुए लिखा है, ''भारतीय किसानों की इस समय जैसी दयनीय दशा है, उसे कोई शब्दों में अंकित नहीं कर सकता। उनकी दुर्दशा को वे स्वयं जानते हैं

या उनका भगवान जानता है। ज़मींदार को समय पर मालगुज़ारी चाहिए, सरकार को समय पर लगान चाहिए, उधर किसान को खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न चाहिए, पहनने के लिए चीथड़ा चाहिए, चाहिए सब कुछ पर एक ओर तुषार तथा अतिवृष्टि फसल को चौपट कर रही है, एक ओर आंधी उनके रहे–सहे खेत को भी नष्ट कर रही है। जिस तरह लहलहाता खेत अभी छः दिन पूर्व के पत्थर पाले से जल गया। गन्ना पैदा हो रहा है पर भाव इतना मंदा है कि कोई दो वक़्त का भोजन भी नहीं कर सकता। स्त्री के तन पर जो दो चार गहने थे, वो साहूकार के पेट से बचकर सरकार की मालगुज़ारी के पेट में चले गए। नन्हें बच्चे जो चीथड़ा ओढ़कर जाड़ा काटते थे, वही अब उनका पिता पहन कर तन की लाज ढँक रहा है। माता के पास केवल इतना ही वस्त्र है, जितने से वह घूंघट काढ़ सके, धोती चाहे ठेहुने तक ही क्यों न खिसक आये।''[5]

विवेच्य उपन्यास का कथाकाल 1950 है। कथा के आरम्भ में लेखक ने गाँव के पास एक विशेष प्रकार के जंगल का उल्लेख किया है–"गाँव से आधा किलोमीटर दूर सड़क किनारे एक छोटा–सा जंगल मिलेगा। जंगल में बरगद, पीपल, कीकर आदि के खूब मोटे तनों और शाखा–प्रशाखाओं वाले पेड़ दिखाई पड़ेंगे। तरह–तरह की लताएँ आपस में गुँथी होंगी। घने पेड़ों के उस विशाल समूह को जो पहली बार देखता है, सिहर उठता है। आपको यह सोचकर आश्चर्य हो सकता है कि पांच सौ मकानों वाले इस गाँव के इतने नज़दीक एक घना जंगल कहाँ से आ गया?"[6] यहीं से कथा के नायक बक्की रेड्डी के जीवन संघर्ष का पता चलता है। रेड्डी मूलतः किसान परिवार होते हैं। बक्की रेड्डी के पास 14 बीघा जमीन होती है और उसे अपनी जमीन से विशेष लगाव भी है। बक्की रेड्डी के पिता को अंतिम समय में चिंतित देखकर उसके मामा ने कहा "सोना उगलने वाली ज़मीन तुम्हारे पास है। इस ज़मीन के सहारे हाथ पर हाथ धरकर तुम्हारा बेटा जिंदगी गुज़ार सकता है।"[7] तब अपनी जमीन की चिंता प्रकट करते हुए बक्की रेड्डी के पिता ने कहा "मेरी मिट्टी जाने कब उठेगी। मेरे परान तो उस ज़मीन में ही बसे रहेंगे। यह लड़का अभी नादान है। अच्छा–बुरा नहीं समझता।"[8] उसके पिता को यह चिंता थी कि बक्की रेड्डी जमीन को गँवा न दे। तब बक्की रेड्डी ने अपने पिता को आश्वस्त करते हुए कहा "ज़मीन पर मैं क्यों आंच आने दूँगा? पलक आँख की जिस तरह हिफाज़त करती है उसी तरह हिफाज़त करूँगा। मैं किसी रेड्डी का जना हुआ हूँ या किसी ऐरे–गैरे का जना हुआ?"[9]

इस बात से स्पष्ट होता है कि किसान के लिए जमीन केवल एक भूमि का टुकड़ा मात्र नहीं होता बल्कि उसकी अंतरात्मा उसमें रची बसी रहती है। बक्की रेड्डी अंत समय तक अपने पिता को दिए गए इस वचन को याद रखता है। हमारे देश के किसान अपने कार्य के लिए पूर्ण समर्पित हैं परन्तु कृषि संसाधनों का पूर्ण विकास न होने के कारण किसान प्राकृतिक आपदाओं का शिकार हो जाता है। बक्की रेड्डी भी इन आपदाओं से अछूता नहीं है। निरंतर सूखा पड़ने के कारण उसके खेत का कुआँ भी सूख जाता है और वह कुएं को अधिक गहरा करवाने का विचार करता है। इसके लिए वह बैंक से कर्ज लेने का विचार बनाता है और पटवारी से बैंक कर्ज के लिए अर्जी लिखने के लिए कहता है तो पटवारी उसे कर्ज न लेने की सलाह देता है। "बैंक वाले लाशों तक को खा जानेवाले लोग होते हैं भाई! इतने हज़ार रुपए वापस करने की जिम्मेदारी जाने कैसे

निभाओगे।"[10] परन्तु बक्की रेड्डी पटवारी की बात नहीं मानता क्योंकि वह किसान है और किसान बिना खेती नहीं रह सकता, इसलिए उसे कर्ज के लिए आवेदन लिखने के लिए कह देता है। जब पटवारी उसे कहता है कि यदि तब भी पानी नहीं निकला तो क्या करोगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बक्की रेड्डी कहता है– "सब उसकी माया है लेकिन मुझे जो करना है, वह न करूँ, तो कल पेट में दाना कहाँ से जाएगा? कुएं को सूखा ही छोड़ दूँ और ज़मीन को जोतूं ही नहीं, इस तरह हाथ मलता हुआ मैं भी कितने दिन बैठा रह सकता हूँ बताओ?"[11] यह किसान का वह जज्बा है जो उसे अकर्मण्य होने से रोकता है। वह हर प्रकार का जोखिम उठाकर भी अपने कृषि कर्म को करने से पीछे नहीं हटता। प्रेमचंद ने किसानों की स्थिति का वर्णन करते हुए अपने एक अन्य लेख 'कृषि सहायक बैंको की जरूरत' में लिखा है "कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, पर उसे नोचने वाले तो सब हैं, उसको प्रोत्साहन देने वाला कोई नहीं। उसे भूखों मरकर, पैसे–पैसे के लिए महाजन का मुंह देखकर, अपना जीवन काटना पड़ता है।"[12] परन्तु बैंकों द्वारा किसानों को वो राहत नहीं मिली जो प्रेमचंद की संकल्पना थी। बैंकों द्वारा कर्जा न लौटाने पर किसान की जमीन की नीलामी साहूकारी और जमींदारी प्रथा से भिन्न नहीं है। बैंकों के वीभत्स रूप का वर्णन करते हुए पटवारी स्वयं बक्की रेड्डी को कर्ज न लेने की सलाह देते हुए कहता है "ये बैंक वाले लाशों तक को खा जानेवाले लोग होते हैं भाई! इतने हज़ार रुपए वापस करने की जिम्मेदारी जाने कैसे निभाओगे।"[13] और वही हुआ जिसकी आशंका पटवारी ने प्रकट की थी– "कर्जा लेकर पैसा कुएँ पर लगाया था उसने। अकाल पड़ा और लम्बे अर्से तक बारिश नहीं हुई, तो कुआँ सूख गया। धांगड़ ने कहा कि कुएँ को दस फुट और गहरा कर लो तो पानी निकलेगा। धांगड़ ने कुएं को दस फुट और गहरा तो किया, मगर पानी न निकला।[14] कर्ज न चुका पाने के कारण बक्की रेड्डी की जमीन बैंक द्वारा नीलाम कर दी गयी। जहाँ एक ओर छोटे किसान कर्ज की समस्या में डूबकर किसान से मजदूर बनने को विवश हो जाते हैं वहीं दूसरी ओर बड़े भूमिपति धीरे–धीरे किसानों की भूमि के स्वामी बन जाते हैं। विवेच्य उपन्यास में इसका जीवंत विवरण मिलता है– "उस कचहरी में हुई नीलामियों में कितने ही किसानों ने अपनी ज़मीन खोई थी। नम्बरदार उन सबको नाम से भी जानता है। उनमें से कुछ लोग दिहाड़ी के मजदूरों की जिंदगी जी रहे हैं। कुछ लोग बटाईदार बने हुए हैं। कुछ लोग तो गाँव छोड़कर चले भी गए हैं। इतना ही नहीं, वह कुछ ऐसे किसानों को भी जानता है, जिन्होंने ज़मीन चली जाने के बाद अपने जीवन को निरर्थक माना था।[15] प्रेमचंद अपने निबंध 'महाजनी सभ्यता' में इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं– "मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू–रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इस लिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।"[16]

विवेच्य उपन्यास में नम्बरदार सभी कर्जग्रस्त किसानों की जमीन धीरे–धीरे अपने खेतों में विलय कर रहा है। यह एक दूसरे प्रकार की महाजनी सभ्यता है "कभी–कभी गाँव के किसान

अपने चक छोड़कर दूसरी जगहों में चले जाते हैं। चकों की बिक्री के लिए औपचारिक रूप से नीलामी होती है। नीलामी में भाग लेने को तो बहुत से लोग भाग लेते हैं। पर अंतिम बोली नम्बरदार की ही होती है। उन चकों को नम्बरदार की ज़मीन में ही मिल जाना होता है।"[17] किसान का अपनी भूमि से लगाव इतना गहरा होता है कि वह भूमि कुर्क होने अथवा नीलाम होने के मानसिक आघात को सहन नहीं कर पाता। विवेच्य उपन्यास में बक्की रेड्डी की जमीन नीलाम होने के बाद वह उन्माद की अवस्था में पहुँच जाता है। उपन्यास में पटवारी जिसने बक्की रेड्डी को कर्ज न लेने की सलाह दी थी और उसके कर्ज हेतु आवेदन को भी लिखा था, जब उसे बक्की रेड्डी की उन्माद ग्रस्त होने और उसकी मृत्यु की खबर मिलती है तो वे बहुत मायूस हो जाता है। वह महसूस करता है– "जिस तरह श्रीराम को अयोध्या से अलग कर दिया गया था, उसी तरह एक किसान को उसकी जमीन से अलग कर दिया गया था। इसका वह साक्षी है। जिस तरह पुत्र शोक से दशरथ की मृत्यु हो गई थी, उसी तरह भूमि शोक से एक किसान की मृत्यु हो गई थी। इसका वह साक्षी है।[18]

पीढ़ी दर पीढ़ी कठिन परिश्रम के बावजूद किसान फटेहाल और दो जून की रोटी के लिए संघर्षरत रहता है। साहित्य में किसानों की इस दयनीय स्थिति का चित्रण कथाकारों ने बहुत सूक्ष्मता से किया है। प्रेमचंद के गोदान का होरी जीवन पर्यंत केवल एक गाय की इच्छा रखते हुए सभी कार्य करता रहता है और अंततः गाय की इच्छा और उसकी पूर्ति उसे किसान से मजदूर बना देती है। किसान का यही फटेहाल जीवन आज भी है। विवेच्य उपन्यास का नायक बक्की रेड्डी भी इसी प्रकार की दयनीय स्थितियों से गुजर रहा है। "बक्की रेड्डी के घर के अगले हिस्से में ढोरों की मड़ई है। मड़ई बहुत बड़ी नहीं है। वह फूस से छाई हुई है। उसके तीनों तरफ मिट्टी की दीवारें हैं। चौथी तरफ पूरा खुला है। मड़ई में एक तरफ़ एक जोड़ी बैल हैं। बैल खूंटों के पास पड़े जुगाली कर रहे हैं। चरनी में पुआल अभी बचा हुआ है। मड़ई में हल, जुआ, फावड़ा, कुदाल आदि खेतों का सामान रखा है। उनके बीच एक झिंगली खटिया बिछी है।[19]

किसान की पत्नी विपन्नताग्रस्त जीवन में उसकी एक मात्र सच्ची सहायक होती है। वह हर प्रकार के दुःख झेलते हुए भी किसान को शिकायत का मौका नहीं देती है। न तो उसके पास अपेक्षाएँ होती हैं और न ही वह उनकी मांग करती है। किसान के सीमित संसाधनों से जीवनयापन करने में ही वह जीवन की सच्ची खुशी ढूंढती है। वह भी अपनी जमीन से उतनी ही ममता रखती है, जितनी उसकी अपनी संतान के प्रति होती है। बक्की रेड्डी की पत्नी ने जीवन के हर दुःख को हँसकर सहन किया परन्तु जमीन नीलाम होने की बात को सुनकर वह अपनी पीड़ा रोक नहीं पायी–"कितने आश्चर्य की बात है! उसने कभी नहीं सोचा था कि उसकी पत्नी इतनी जोर से चीख़–चीख़कर रो सकती है। उसके साथ वह चालीस साल से गृहस्थ–जीवन जीता रहा है। पत्नी ने अनगिनत तकलीफें झेली हैं। बक्की रेड्डी ने आँखें अंगारों की तरह लाल होने तक रोते हुए उसे देखा है। सामने वाले आदमी को कुछ अंदाजा न हो, इस तरह अन्दर–ही–अन्दर घुट–घुटकर बिसूरते देखा है। दस हाथ परे बैठे आदमी को भी न सुनाई पड़े, इस तरह चुपचाप सुबक–सुबककर रोते देखा है। दिनों तक दाना–पानी छोड़ना देखा है। लेकिन इतने जोर से,

इतने भयंकर रूप से और इतने विकृत रूप से उसे क्रंदन करते हुए आज पहली बार देख रहा है।"[20]

किसान की अपनी जमीन पर ममता अपने परिवार के सदस्य की भांति होती है। बक्की रेड्डी भी जमीन नीलाम होने की बात से अत्यंत आहत होता है। "हरिश्चंद्र ने जिस तरह अपनी पत्नी की नीलामी कर दी थी, उसी तरह मैंने अपनी जमीन की नीलामी कर दी है।"[21] कचहरी में जब नीलामी के कागज़ उसे दिए जाते हैं तो उसके कदम आगे नहीं बढ़ पाते और लड़खड़ाने लगते हैं और जब वह अपने घर की ओर बढ़ने लगता है तो मानो उसके पैरों में जान नहीं महसूस होती– "बरामदे की सीढियाँ उतरकर बक्की रेड्डी गली में अपने घर की ओर क़दम बढ़ाने लगा। विकृत चाल से वह ऐसे बढ़ा जा रहा है, जैसे उसके टखनों के ऊपर की नसों के टुकड़े–टुकड़े कर दिए गए हों।"[22] नीलामी के कागज पर लिखे वह शब्द जिसमें वह भूमि पर अपने अधिकार नीलाम कर देता है, बार–बार पढ़ता है और मानो वही शब्द उसके लिए प्राण घातक सिद्ध होते हैं– "मुझे प्राप्त समस्त अधिकारों समेत आज मैंने इस ज़मीन को आपके अधिकार में दे दिया है।[23] जमीन हाथ से निकल जाने के बावजूद बक्की रेड्डी के अन्दर का किसान छटपटाता है। मौसम में बढ़ती उमस को देखकर वह अपने खेतों की चिंता करने लगता है, उसे बारिश आने और उसके परिणाम स्वरुप खेतों की जुताई आदि की फिक्र मन में सताने लगती है। मौसम को देखकर वह सोचता है कि "दो दिन से उमस बढ़ गई है कल या परसों मौसम की पहली बारिश शुरू हो सकती है। बादल ईशान कोण से उतर सकते हैं या आग्नेय कोण से। बारिश कितनी होगी? उतनी हो सकती है, जितनी से हल की फाल ज़मीन में बालिश्त भर धंस जाए या नदी–नाले उमड़कर बहने लगें, उतनी भी हो सकती है। तालाब परिवाह तक भर जाए, इतनी हो सकती है या पानी परिवाह से ऊपर जाकर ज़ोर–शोर से बहे, इतनी भी हो सकती है।"[24]

उसे यह फिक्र होने लगती है कि बारिश होने पर उसे किस किस्म का धान बोना है और वह धान के प्रकारों पर विचार करने लगता है– "इस मौके पर किस किस्म का धान बोना अच्छा रहेगा? फलाने किस्म के धान की डंडियाँ कितनी लम्बी हो जाती हैं? उस धान में दूधिया दाना लगने में कितना बक्त लगता है? उसके दूधिया दाने को पकने में कितने हफ्ते लगते हैं? फसल काटकर ओसाई करें तो एक एकड़ में कितना धान उतरेगा? फसल काटकर ओसाई करें तो एक एकड़ में कितना धान उतरेगा?"[25] लेकिन जब वह उन्माद की अवस्था से थोडा सचेत होता है तो उसे अपनी नीलाम हो चुकी जमीन का ज्ञान होता है और वह इस बात से शर्म महसूस करता है कि अब दूसरे किसान उससे न तो बात करेंगे और न ही उसके साथ उठना–बैठना पसंद करेंगे। "लेकिन अब मैं किसान नहीं हूँ। मेरी ज़मीन कुर्की में चली गयी है। गंगी रेड्डी के साथ बैठने लायक अब मैं नहीं हूँ।"[26] उसको लगता है कि सब लोग उसकी हँसी उड़ा रहे हैं और अपने से मिलने आने पर वह सब को शक की दृष्टि से देखता है– "बक्की रेड्डी ने अपने साथियों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा सिर झुकाए बैठा रहा। ये लोग उसकी हँसी उड़ाने आए हैं। उस पर ताना कसने आए हैं। इन लोगों के हाथों में चूनादानियाँ हैं। उसने सिर उठाया नहीं कि उसके

चेहरे पर चूना लगा देंगे। उन लोगों की मुट्ठियों में मिर्ची का चूरा है। उसका सिर उठा नहीं कि उसकी आँखों में चूरा झोंक देंगे।"[27]

ग्रामीण परिवेश में सभी वर्ग किसान से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं। नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार और कुम्हार आदि किसान के सहायक होते हैं और पूर्णतः किसान पर ही निर्भर होते हैं। किसान की खुशहाली से ही यह वर्ग भी खुशहाल रहता है। जब किसान के पास कार्य होता है तो इनके पास भी कार्य रहता है। बारिश के मौसम की सम्भावना को देखते हुए उन्माद ग्रस्त बक्की रेड्डी बढ़ई कदिरप्पा के पास जाने का विचार करने लगता है–"कदिरप्पा, कल शाम तक हल बनाकर देना है तुमको। आसमान में घिरती घटा को देखो, तो लगता है कि मौसम की पहली–पहली बारिश कल या परसों शुरू हो ही जाएगी। बूँद जमीन पर गिरते ही मुझे हल जोतना होगा। नमी सूखने से पहले दो–एक बार तो जुताई करनी होगी।"[28]

बक्की रेड्डी जमीन नीलाम होने के बाद एक भयंकर मानसिक भय से ग्रस्त हो जाता है। उसे लगता है कि उसका जीवन निरर्थक हो गया है। वह अपने आपको हर प्रकार से अशुभ मानने लगता है और सोचता है कि लोग अब उससे भेदभाव भरा व्यवहार करने लगेंगे। "अब उसे किसी से काम नहीं है। अब वह किसी को अपना मुंह दिखा नहीं सकता उसका इस दुनिया से कोई नाता–रिश्ता नहीं है। चराचर इस संसार में उसके योग्य भूमिका कोई नहीं है। ...गाँव में आज से वह एक अशुभ शकुन की तरह बचा रहेगा। शुभ काम से निकले हुए लोगों के सामने वह पड़ जाए, तो लोग अपनी यात्रा का विचार छोड़ देंगे। अब गाँव में कोई भी आगे चार पीढ़ियों तक अपने बच्चों का, उसका या उसके नाम से मिलता–जुलता नाम नहीं रखेगा।"[29] बक्की रेड्डी के मित्रों को जब इस बात का पता चलता है कि उसकी जमीन नीलाम हो गयी है तो वे उसे सांत्वना देने के लिए आते हैं। उसे मानसिक पीड़ा से उबारने के लिए सामाजिक यथार्थ से अवगत करवाते हुए कहते हैं "ज़मीन नहीं रही, तो क्या हो गया है रे बक्का? दुनिया ही खत्म हो गयी है क्या? या दुनिया में ज़मीन खो बैठने वाली अनहोनी बात एक तुम्हारे साथ ही आज हुई है?[30]

परन्तु विषादग्रस्त बक्की रेड्डी अपने मित्रों के आश्वासन पर भी अपनी पीड़ा से उबर नहीं पाता और अपने जीवन को निरर्थक बताता हुआ कहता है "ज़मीन हाथ से निकल जाने के बाद अब करने को क्या रह गया है? चूहों की दवाई खानी रह गई है, या फिर पेड़ से फांसी लगानी रह गई है! कोई एक तो करूँगा ही ! ज़मीन जब हाथ से निकल ही गई, तो अब इस धरती पर मेरा क्या काम?"[31] किसान अपनी जमीन के मोह को मरकर भी नहीं छोड़ पाता। पंजाबी के प्रसिद्ध साहित्यकार गुरदयाल सिंह के उपन्यास 'मढ़ी का दीवा' में जगसीर का पिता अपनी मृत्यु के उपरान्त खेत में अपनी 'मढ़ी' बनवाने की इच्छा प्रकट करता है। 'मढ़ी' के द्वारा मृत्यु उपरांत भी वह सदैव उस खेत से जुड़ा रहना चाहता है, कुछ ऐसी ही अभिलाषा बक्की रेड्डी में भी है। वह नम्बरदार से अनुरोध करता है–"एक–दो दिन में मेरा चोला छूटने वाला है भैया! अब मेरा यहाँ क्या काम? ज़मीन जाने के बाद इस धरती पर मेरा क्या काम? परान निकलने के बाद इस चोले को मेरी ज़मीन में उस पेड़ के नीचे गाड़ देना। यह काम तुमको ही पास खड़े होकर करवाना होगा। मुझसे वादा करो भैया ! वादा करो कि यह काम करा दूँगा।"[32]

जीवनपर्यंत किसान कर्मशील रहता है और जीवन के अंत समय में भी वह कर्म करते हुए ही प्राण त्यागना चाहता है। प्रेमचंद का नायक होरी जिस प्रकार खेत में लू लगने से मृत्यु को प्राप्त हुआ उसी प्रकार विवेच्य उपन्यास के नायक ने प्राण त्यागे। बारिश शुरू होने पर उन्मादग्रस्त बक्की रेड्डी बैलों को खोलकर, हल कंधे पर लादकर अपने नीलाम हो चुके खेतों की ओर चल पड़ा। बारिश में वह अपने खेतों में पहुँचकर हल जोतने लगता है और वहीं उसकी मृत्यु हो जाती है– "दो चकों की जुताई पूरी करके वह तीसरे चक में घुसा। उसके पूरे शरीर पर धीरे–धीरे कमजोरी छाने लगी। हल के पीछे एक–एक पैर उठाकर चलना दूभर होता गया। कमर और रीढ़ के जोड़ों में ऐसा दर्द उठने लगा जैसे शूल चुभ रहे हों। पैना थामें हाथ को कंधे से ऊपर उठाना तक दूभर हो गया। थकान के मारे उसके उच्छ्वास और निःश्वासों की आवाज बैलों के हाँफने की आवाज से ऊपर सुनाई पड़ रही थी। धीरे–धीरे हल का वेग मंद पड़ने लगा। लेकिन हल की मूठ को कसकर पकड़ी हुई बक्की रेड्डी की मुट्ठी ज़रा भी ढीली नहीं पड़ी।"[33] जब अगले दिन गाँव के लोगों को इस बात का पता चलता है तो पूरा गाँव बक्की रेड्डी के खेत में पहुँच जाता है, जहाँ हल की मूठ थामें बक्की रेड्डी का निश्चल शरीर पानी में पड़ा होता है–"खेत के बीच दोनों बैल खड़े–खड़े जुगाली कर रहे हैं। हल की मूठ एक तरफ गिर गई है। बक्की रेड्डी के बाएँ हाथ की मुट्ठी हल की मूठ के चारों ओर कसी हुई है। दायाँ कन्धा और चेहरा आधा–आधा कीचड़ में धंसे हुए हैं।"[34]

इस प्रकार भू–देवता उपन्यास मूलतः एक किसान की अपनी भूमि के प्रति अथाह आस्था और जुड़ाव तथा भूमि के नीलाम हो जाने की पीड़ा से उत्पन्न विषाद की कारुणिक कथा है। बक्की रेड्डी एक व्यक्ति विशेष न होकर भारत के हर उस किसान का प्रतिनिधित्व करता है जो जीवन पर्यंत अपने कृषि कार्य में पूर्ण निष्ठा और तन्मयता से कार्यरत रहता है। बक्की रेड्डी की मृत्यु एक व्यक्ति की मृत्यु न होकर मेहनतकाश किसान वर्ग की कारुणिक स्थिति का द्योतक है। जब तक हमारी व्यवस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन नहीं होते तब तक बक्की रेड्डी जैसे समर्पित किसान इसी व्यवस्था की भेंट चढ़ते रहेंगे।

**सन्दर्भ सूची :–**


1. रेड्डी केशव, भू–देवता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2019) पृष्ठ संख्या 8
2. कालिया, रवींद्र (प्रधान संपादक), प्रेमचंदः किसान जीवन सम्बन्धी कहानियां और विचार, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण (2013) पृष्ठ संख्या 05
3. रेड्डी केशव, भू–देवता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2019) पृष्ठ संख्या 07
4. पटेल विश्वनाथ, भारतीय उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्रण, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं 16
5. कालिया, रवींद्र (प्रधान संपादक), प्रेमचंदः किसान जीवन सम्बन्धी कहानियां और विचार, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण (2013) पृष्ठ संख्या 8–9
6. रेड्डी केशव, भू–देवता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2019),पृष्ठ संख्या 16–17
7. वही, पृष्ठ संख्या 24

8. वही, पृष्ठ संख्या 25
9. वही, पृष्ठ संख्या 25
10. वही, पृष्ठ संख्या 43
11. वही, पृष्ठ संख्या 47
12. कालिया, रवींद्र (प्रधान संपादक), प्रेमचंदः किसान जीवन सम्बन्धी कहानियां और विचार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण 2013), पृष्ठ संख्या 05
13. रेड्डी केशव, भू–देवता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, (2019) पृष्ठ संख्या 43
14. वही, पृष्ठ संख्या43
15. वही, पृष्ठसंख्या 51
16. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास. सुमित प्रकाशन इलाहाबाद (2014), पृष्ठ संख्या 34
17. रेड्डी केशव, भू–देवता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2019)पृष्ठसंख्या 67
18. वही, पृष्ठ संख्या 72
19. वही, पृष्ठ संख्या 20
20. वही, पृष्ठ संख्या 29
21. वही, पृष्ठ संख्या 33
22. वही, पृष्ठ संख्या 19
23. वही, पृष्ठ संख्या 26
24. वही, पृष्ठ संख्या 32
25. वही, पृष्ठ संख्या 33
26. वही, पृष्ठ संख्या 33
27. वही, पृष्ठ संख्या 36
28. वही, पृष्ठ संख्या 33
29. वही, पृष्ठ संख्या 34
30. वही, पृष्ठ संख्या 37
31. वही, पृष्ठ संख्या 38
32. वही, पृष्ठ संख्या 58
33. वही, पृष्ठ संख्या 63
34. वही, पृष्ठ संख्या 65

# दूतकाव्य की ऐतिहासिकता और मेघदूत

डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'*

संस्कृत अनेक भाषा और साहित्य की आधारशिला है जिसमें अनेक विधाओं की स्रोतस्विनी प्रवाहित है। दूतकाव्य की परम्परा दूतकाव्य की परम्परा के अग्रिम पंक्तियों में वाल्मीकि, भास, घटकर्पर और कालिदास का नाम लिया जा सकता है किंतु हिन्दी साहित्य की अपेक्षा संस्कृत की दूतकाव्य परम्परा अधिक संवृद्ध है जिसमें मेघदूत, हंसदूत, पवनदूत, चंद्रदूत, कोकिलदूत, पिकदूत, बकदूत, कपिदूत, सिद्धदूत, मनोदूत, भक्तिदूत, उद्धवदूत, उद्धव सन्देश, भ्रमरसंदेश, हंससंदेश आदि नाना प्रकार के दूत और सन्देशकाव्य लिखे गए हैं। इस परम्परा की शुरुआत आदिकालीन हिन्दी में ग्यारहवी शताब्दी का लोकभाषा का काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' माना जा सकता है। आदिकाल में ही अब्दुल रहमान का 'सन्देश रासक' प्रमुख रचना मिलती है। कालान्तर में इसका स्वरूप मध्यकाल में सूरदास के भ्रमरगीत में मिलता है किंतु आधुनिक काल में हरिऔध का प्रियप्रवास, जगन्नाथदास रत्नाकर का उद्धवशतक, सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरदूत, प्रकाश द्विवेदी का पारावार ब्रज कौं, कवि कमलाकर कमल का भावात्मक उद्धव शतक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

दूतकाव्य की परम्परा में मेघदूत महाकवि कालिदास की उत्कृष्ट कृति है जिसे मनीषियों ने खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, मुक्तक माना है। कतिपय विद्वान इसे संदेशकाव्य की संज्ञा देते हैं। मेघदूत अपने संज्ञार्थ से स्पष्ट करता है कि मेघदूत एक दूतकाव्य है। यह दूतकाव्य काव्यशास्त्रीय काव्य प्रतिमानों में खण्डकाव्य सिद्ध होता है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में खण्डकाव्य की परिभाषा में मेघदूत का उदाहरण दिया हैं–

''खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च ।।३२६।। यथा– मेघदूतादि[1]

प्रबंध और मुक्तक काव्य भेद के अनुसार– प्रबंध के उपभेद महाकाव्य एवं खण्डकाव्य ही होते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने मुक्तक का उपभेद करते हुए लिखा है– ''लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बंध रखते हैं।.....गीतियों का उदय स्थान तो स्वयं वेद ही है।''[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने मेघदूत को लौकिक गीतिकाव्य की कोटि में रखते हुए पुनः लिखा है– ''संस्कृत के गीतिकाव्यों का आदिग्रंथ महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' है। आचार्य जी इसे गीति काव्य रूपों में एक उत्कृष्ट काव्य रूप मानते हैं– ''संस्कृत में गीतिकाव्य मुक्तक तथा प्रबंध दोनों प्रकार से उपलब्ध होता है।''[3]

मेघदूत को संदेशकाव्य एवं दूतकाव्य मानने की अवधारणा है, तो यह अधिक औचित्यपूर्ण है, क्योंकि सौंदर्यकाव्य के प्रबंध एवं मुक्तक दोनों रूप मिलते हैं। वस्तुतः मेघदूत अपनी गाम्भीर्य एवं

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला

वस्तु व्यंजना में गुम्फित प्रकर्ष का दौत्यकर्म आद्यन्त पूर्णतः सफल सिद्ध होने के फलस्वरूप विशुद्ध दूतकाव्य एवं प्रबंधात्मक काव्य रूपों की अग्रिम सुपंक्ति में सुसंस्थापित की जा सकती है ।

मेघदूत में मेघ के दौत्यकर्म को आचार्य भामह ने आक्षेप लगाते हुए काव्यालंकार में लिखा हैं– अवाचोडव्यक्त वाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्तया न पुज्यते।।[4]

वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मेघ दूतकर्म के योग्य नहीं है। ऐसे आलोचकों से सुभिज्ञ कालिदास ने प्रकारान्तर से युक्तिसंगत उत्तर दे चुके हैं कि कामोन्मादित जीव जड़–चेतन की मानसिकता नहीं रखता है–
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।[5]

मेघदूत की लोकप्रियता का संकेत करते हुए डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने दूतकाव्य को परिभाषित किया है– "कालिदास की भाषा–शैली, भाव–व्यंजना, अलंकार निवेश, प्रणयाभिव्यक्ति, मार्मिक संदेश तथा प्राञ्जल चित्रण कला ने इसे ऐसे पथ पर स्थापित कर दिया कि इसने एक पृथक साहित्य प्रकार को जन्म दिया जिसे 'दूतकाव्य' को 'संदेश काव्य' कहा जाता है।"[6] पाश्चात्य विद्वानों में ए. बी. कीथ महोदय ने गेट के विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'किसी अन्य भारतीय काव्य की अपेक्षा मेघदूत को अंग्रेजी शोककाव्य के अधिक समीप बतलाया गया है।' इस कथ्य की निर्मलता यक्ष ने स्वयं स्पष्ट कर दी है कि हे प्रिये! चार माह शेष किसी भी प्रकार बिता लो, शरदऋतु में फिर आनन्द ही आनन्द होगा–
शापान्तो मे भुजगशयिनादुत्थिते शाङ्र्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।।[7]

इस काव्य में श्रृंगार अंगी रस है जिसका उपभेद विप्रलम्भ श्रृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। प्राचीन परम्परा से अर्वाचीन परम्परा तक दूतकाव्य के विविध आयाम मिलते हैं। संदेश सम्प्रेषण में रचनाकारों ने प्राकृतिक उपादानों को माध्यम बनाया जिसकी विस्तृत श्रृंखला में मेघ, पवन, शुक, मयूर, हंस, कोकिल, कोक, भृंग, मन, जड़, चेतन दूत के अतिरिक्त इन्द्र, हनुमान आदि देवदूत के साथ ही नेमि, सिद्ध आदि मानवदूत भी बनाये गये हैं।

कालिदास भी आर्षकाव्य वाल्मीकि रामायण के अघमर्ण हैं, क्योंकि मेघदूत में रामकथा के तीन अंश प्राप्त होते हैं– इसमें प्रथम श्लोक के दो पद हैं–
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरूषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।[8]

'जनकतनया' से जनक की पुत्री सीता का संदर्भ मिलता है। किन्तु 'रामगिरि आश्रम' के भाष्य में बल्लभ एवं मल्लिनाथ टीकाकारों ने स्पष्ट 'चित्रकूट' का अर्थ ग्रहण किया है जिसे पाश्चात्य मनीषी विल्सन ने महाराष्ट्र प्रान्त में नागपुर के निकट 'राम टेक' को माना हैं। परन्तु अधुना समय में पुरातत्वशास्त्रियों की मान्यता हैं कि नागपुर में अवस्थित रामगढ़ ही रामगिरि के नाम से जाना

जाता है। पूर्वमेघ का बारहवाँ श्लोक की अर्द्धावली– ''रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु'।।[9] अर्थात् 'रामचन्द्रजी के चरणों द्वारा चिन्हित' पद भी रामायण की उपजीव्यता को संकेतित करती हैं। तीसरा संदर्भ– इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।[10] इस प्रकार कहा जाने पर ऊपर की ओर मुख किये हुए (और) उत्कंठा से विकसित चित्त होकर, वह (मेरी प्रिया) पवन पुत्र (हनुमान) को सीता के समान .....। रामायण का संदर्भ इंगित करने वाला चौथा श्लोक– 'एतस्मान्मां कुशलिनयभिज्ञानदानाद्विदित्वा'।[11] यक्ष मेघ के द्वारा राम के समान बल्लभा सीता के पास अभिज्ञान भेजकर अपने कुशल क्षेम की सूचना देता है।

मेघदूत के मुख्यश्लोकों में अल्पांशतः भागवत के दशमस्कन्ध में उद्धव द्वारा गोपियों को श्रीकृष्ण का संदेश भी है, जो संस्कृत–हिन्दी के परवर्ती दूतकाव्य में प्रवाहित हुई है। संस्कृतज्ञ आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा हैं–ऋग्वेद में श्यावाश्व आत्रेय अवधान तपस्या द्वारा प्रेम की साधना का एक पूर्ण उज्ज्वल दृष्टांत है।[12] उनकी कथा ऋग्वेद के पंचम मंडल के ६१वें सूक्त में संकेतित है।[13] इस आख्यान में रात्रिदेवी को दूत बनाया गया है। अतः आचार्यश्री मानते हैं कि कालिदास ने यहीं से प्रेरणा ली होगी।

मेघदूत कालिदास की अप्रतिम प्रौढ़ रचना है। कवि ने केवल शब्द की मौलिक सम्पदा से मेघदूत के विस्तृत कलेवर में प्राकृतिक उपादानों, दृश्यों का मनोहारिक जीवन्तता प्रदान की है। मेघदूत जीवन के विराट सच का वैविध्यपूर्ण विकास है। जीवन के विविध पक्षों में प्रकृति का उद्दाम–ललाम, भौगोलिक स्थितियों की मूर्तिमत्ता, ऐतिहासिकता, संश्लिष्ट परिचय, धार्मिक–सांस्कृतिक–सामाजिक मूल्यपरक वैशिष्ट्य अपने में काव्योत्कर्ष पर पहुंची है। इसमें लोक संवेदनाओं से संयुक्त भावों का सहज उच्छलन परिपुष्ट है।

मेघदूत में भाव का गांभीर्य है तो विचार की मौलिकता भी, वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है, तो निर्वैयक्तिकता का प्रसार भी, मर्मस्पर्शिनी विरह की करुणावस्था है तो अहर्निश विरह तप्तावस्था में स्थिरता भी, परम्परा का अनुकार्य है, तो परम्परा का विकसन भी, अभिजात्य वर्ग की संस्कृति की बहुरूपता का उत्कर्ष है, तो लोक जीवन की बहुरंगी छटाओं का प्रकर्ष भी, अनुभूति की सूक्ष्मता है तो अभिव्यक्ति की विशालता भी, विप्रलम्भ श्रृंगार की सजीवन छटा, संभोग श्रृंगार की हृदय सरलता, आन्तरिक भाव की ग्राह्यता है तो बाह्य कलात्मकता का वैशद्य दिग्दर्शन। इन सभी गुणागारों से मेघदूत पूर्व–परवर्ती दूतकाव्यों की मानक–कसौटी सिद्ध होती है।

मेघदूत में डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव यौन भावना की दोनों शक्तियों में ऊर्ध्वगा मानते हैं।[14] कालिदास मनस्तत्वों के कुशल प्रयोक्ता है। जड़–अचेतन धर्मसंचयिता मेघ का दूत बनाना ही यक्ष की परम कामोन्मादिता को प्रकाशित करता है, क्योंकि उसे मेघ के दौत्यकर्म की कुशलता का विवेक नहीं था– सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः।[15]

मेघदूत की धुरी विरह के उत्थान में सम्पूर्ण काव्य की सफलता अन्तर्निहित है। कालिदास की चार काव्य एवं तीन प्रामाणिक रचनाओं में श्रृंगार–भक्ति ही प्रमुख रस है किन्तु विप्रलम्भ श्रृंगार की अद्भुत कृति मेघदूत अपनी महत्ता को चरमोत्कर्ष पर ले गया है क्योंकि विरह प्रेमास्वाद परम मधुर

एवं त्रिभुवन व्यापी हो जाता है। विरह से विरह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है किन्तु इस स्थिति में प्रेम प्रगाढ़ एवं दृढ़ता के साथ ही हृदय निष्कलुष एवं निर्मल हुआ दिखाई देता है।

कालिदास ने मेघदूत में लगभग भारत के सभी मध्योत्तर की सांस्कृतिक स्थलों का अद्भुत चित्रण किया है, जो इनके पूर्व आदिकवि वाल्मीकि के रामायण में ही मिलता है। साहित्य में भारत का विस्तृत वर्णन रामायण के बाद संस्कृत के कुछ ग्रंथों के अतिरिक्त कालिदास के साहित्य में ही उपलब्ध मिलता है।[16] मेघदूत–कृति यायावर के लिए स्थलदिग्दर्शिका है जिसमें अनेक स्थानों का अनुपम सौंदर्य चित्रण है। इन स्थानों के प्राचीन व आधुनिक नाम अवन्ती, विशाला (उज्जयिनी) कनखल, कुरुक्षेत्र, दशपुर, दशार्ण, देवगिरि, प्रस्यावर्त्त, मालवा, विदिशा का सुन्दर कलात्मक वर्णन है। भारत का मुकुटमणि हिमालय पर्वत एवं भारत का कटि–प्रदेश विन्ध्य के अलावा छोटे–पर्वत, छोटे शिखरों, दर्रो का भी वर्णन कालिदास के यायावरी जीवन को बताता है। इनमें कैलास आदि अनेक पर्वतों का मनोहारिक भव्य वर्णन है। भारत के प्राचीन प्रसिद्ध एवं अविश्रुत नदियों का भी रोचक वर्णन है जिनमें जाह्नवी (गंगा), यमुना, सिन्धु, शिप्रा नदियों के साथ वेत्तवती (बेतवा,), वननदी, रेवा, गंधवती, गंभीरा, निर्विंध्या और चर्मदण्डवती (चम्बल नदी) नदियों का कल–कल जलधारा का जीवन्त चित्रण मिलता है। कैलास के निकट हिमालय में उपस्थित भारतीय संस्कृति का धर्म क्षेत्र 'मानसरोवर' का भी वर्णन है, जो आधुनिक मानसरोवर के रूप में विद्यमान है । इनमें वर्णित सरस्वती नदी आज विलुप्त है।

मेघदूत सार्वकालिक प्रासंगिक ग्रंथ है। विद्वान समीक्षकों ने मुखर कण्ठ से इसकी महनीयता की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। यद्यपि रामायण ही मेघदूत का अघमर्ण है परन्तु कतिपय विद्वान बौद्ध पालि साहित्य को इसका उत्स मानते हैं एवं अनेक समीक्षक ऋग्वेद के रात्रिदूत, रामायण के हनुमानदूत, महाभारत के कृष्णदूत को आधार मानते हैं। मेरे विचार से कालिदास ने भास के नाटक 'वासवदत्ता' से प्रभावित होकर मालविकाग्निमित्र की रचना की है और 'दूत घटोत्कच' से प्रभावित होकर मेघदूत लिखा है ।

कालिदास की रचनाओं में मेघदूत की प्रसिद्धि कथाशिल्प एवं मानवीय संवेदना का चरमोत्कर्ष है। मेघदूत का अनेक भाषाओं में अनुवाद एवं काव्यानुवाद हुए हैं। आज भी अन्यान्य टीकाएं, भाष्य, चूर्णिकाएं इसकी महत्ता को बढ़ाती हैं।

**सन्दर्भ सूची–**


1. आचार्य विश्वनाथ–साहित्यदर्पण–षष्ठ परिच्छेद–329
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय–संस्कृत साहित्य का इतिहास–330
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय–संस्कृत साहित्य का इतिहास–331
4. आचार्य भामह–काव्यालंकार–1/43
5. महाकवि कालिदास मेघदूत–पूर्वमेघ श्लोक–05
6. डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'–संस्कृत साहित्य का इतिहास–340
7. महाकवि कालिदास–मेघदूत–उत्तरमेघ–47
8. महाकवि कालिदास–मेघदूत–पूर्वमेघ–01

9. महाकवि कालिदास–मेघदूत–पूर्वमेघ–12
10. महाकवि कालिदास–मेघदूत–उत्तरमेघ–37
11. महाकवि कालिदास–मेघदूत–उत्तरमेघ–49
12. आचार्य बलदेव उपाध्याय–संस्कृत साहित्य का इतिहास–330
13. ऋग्वेद–5/61/7
14. श्रीरंजन सूरिदेव–मेघदूतः एक अनुचिन्तन–119
15. महाकवि कालिदास मेघदूत–पूर्वमेघ श्लोक–7
16. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय–कालिदास का भारत (विशेष के लिए देखिए)

# तुकाराम की भक्ति भावना

डॉ. मंजु पुरी*

मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन ने भारतीय जन–जीवन को जहाँ प्रेरित किया है, वहीं प्रभावित भी किया है। यह मध्ययुग का वह सांस्कृतिक जागरण है। जिसका प्रभाव न केवल धर्म के क्षेत्र में पड़ा है, बल्कि इससे समाज और संस्कृति भी प्रभावित हुई है। मध्ययुग के सामाजिक चिन्तकों तथा सन्तों ने ऐसी विचारधारा सृजित की, जिसमें केवल मनुष्य मात्र की सत्ता प्रतिष्ठा हो सके न कि धर्म, वर्ग या वर्ण की। धार्मिक बाह्य आडम्बर न वर्ण शृंखला को ध्वस्त कर मध्ययुग के सन्तों ने जन–मानस में सामाजिक सांस्कृतिक चेतना की लहर फैला दी। महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को बुलंद करने वाले संत भारत में पहली बार शूद्र, दलित, शोषित तथा समाज के पीड़ित वर्ग से आये थे। शिवकुमार मिश्र का मानना हैं कि– "भारत में सांस्कृतिक इतिहास में पहली बार शूद्रों, अंत्यंजों और सताए हुए वर्गों ने अपने संत दिए और इन संतों ने पहली बार जाति, धर्म, वर्ण और संप्रदाय की चारदीवारी तोड़ते हुए मानव धर्म, एक मानव संस्कृति का नारा बुलंद किया।"[1]

कबीर, नानक, रैदास, दादू, मीरा, जायसी, सूर, तुलसी आदि इसी युग की देन है। उत्तर भारत की तरह महाराष्ट्र में भी भक्ति की प्रबल धारा प्रवाहित हुई, जिससे उच्चकोटि के संत, विचारक, भक्त और महात्मा उत्पन्न हुए। वारकरी संप्रदाय जिसे कालकरी पंथ अथवा 'भागवत पंथ' के नाम से जाना जाता है को व्यवस्थित करने का श्रेय 'ज्ञानदेव जी' को है, इसी परंपरा ने महाराष्ट्र को नामदेव, एकनाथ व संत तुकाराम जैसे महात्मा, भक्त और कवि दिए।

मराठी भक्ति साहित्य की विशाल परंपरा में संत तुकाराम सर्वाधिक लोकप्रिय संत कवि है। 'तुकाराम गाथा' को महाराष्ट्र में 'पंचम–वेद' की संज्ञा दी जाती है, उनके 'अभंग महाराष्ट्र की जनता व संपूर्ण राष्ट्र के लिए शाश्वत धरोहर है। क्योंकि उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन आध्यात्मिक साधना और तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगत तत्वों को समाप्त कर धर्म की पुनः स्थापना हेतु व्यतीत किया था।

भगवान विठ्ठल के अनन्य उपासक बोल्होबा तथा माता कनकाई के घर संत तुकाराम का जन्म 'देहू' में हुआ था। उनके पूर्वज वैश्य जाति के थे। उनके कुल को 'मोरे' तथा 'आंबिले' नाम से जाना जाता था। अपनी जाति को स्वयं ही स्पष्ट करते हुए तुकाराम कहते हैं–

"शूद्र वंशी जन्म लों म्हॅणोनि मोकलिलों। अरें तू चि माझा आतां।
मायबाप पंढरीनाथा। धोकाया अक्षर। मन नाहीं अधिकार।।
सर्वभावें दीन। तुकाम्हणे यातिहीन।।"[2]

* सहायक प्रोफेसर (हिंदी), हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

अर्थात् हे ईश्वर, तुम्हारा धन्यवाद जो तुमने मुझे नीच कुल में पैदा किया। शूद्रों की जाति में अर्थात् कुणबी वंश में मेरा जन्म हुआ, इसलिए मुझे अहंकार को त्यागना होगा, क्योंकि अब मेरे पंढरीनाथ ही माता–पिता है। वेदों में लिखें अक्षरों को पढ़ना मेरा अधिकार नहीं है, मैं सभी तरह से दीन होकर शूद्र–हीन जाति में पैदा हुआ हूँ।

माता–पिता के सद्संस्कारों का प्रभाव तुकाराम के मन पर पड़ना स्वभाविक था। 'अध्यात्म' का बीज जो उनको अपने माता–पिता के संस्कारों से मिल चुका था। लेकिन पारिवारिक कलह व व्यापारिक घाटे से उत्पन्न मानसिक झंझावातों के बीच 'अध्यात्म' का बीज प्रस्फुटित हुआ। एक अभंग में तुकाराम कहते हैं– "सांसारिक प्रपंचों में मुझे अब कोई आकर्षण दृष्टिगत नहीं होता, अतः प्रभु विठ्ठल की शरण में जाना चाहिए।"

अल्पायु में माता–पिता की मृत्यु, अकाल, अन्न के अभाव में पहली पत्नी और पुत्र की मृत्यु, व्यापारिक घाटा व दूसरी पत्नी का कर्कश स्वभाव इत्यादि घटनाएँ थी जिन्होंने तुकाराम जी को विरक्त बना दिया था। इसलिए वह ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि–

"अनाथ परदेशी हीन–दीन भोले। उगले चि लोळे तुम रंगी।
आपुले म्हाणवे भज नपुक्षावें। प्रेम सुख द्यावे मायबापा।।
– – – – – – –
तुका म्हाणे तुझा जालों शरणागत। काया वाचा चित्त दुर्जे नाहीं।"[3]

अर्थात् मैं दीन–हीन और भोला हूँ अतः हे प्रभु तू मेरी उपेक्षा न कर, प्रेमानंद से मुझे अभिव्यक्ति कर और आत्मज्ञान प्रदान कर, मेरी देयदृष्टि, वाचा और मन में आपके अतिरिक्त और किसी का वास नहीं। मैं आपकी शरण में हूँ।

सर्वगुण सम्पन्न प्रभु को पाने की, उसके साथ एकाकार होने की कामना तो सभी भक्तों को होती है, परंतु उसे पाना इतना सहज नहीं है। तुकाराम कहते है कि मुझ अकिंचन को तो इतना भी ज्ञान नहीं है कि प्रभु पर ध्यान कैसे केन्द्रित किया जाता है। उसकी भक्तिभाव से कैसे अर्चना की जाएँ। निम्नलिखित अभंग में वह प्रभु से आग्रह करते हैं कि–

"कैसे करूं ध्यान कैसा पाहों तुम। वामे दावी भज याचकासी।।
कैसी भक्ति करू सांग तुमी सेवा।कोठ्या भावे देवी आतुडसी।।
कैसी कीर्ती बाषुकैसा लक्षा आणु। जाणु हा कवणु कैसा तुज।।
कैसा गाउगीती कैसा दयाऊं चित्ती। कैसी स्थिति मती दावी मज।।
तुका मह्णे जैसे दारा केलें देवा। तैसें हैं अनुभवा आगी मज।।"[4]

इस अभंग से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तुकाराम जी प्रभु को पूर्णतः पाने के लिए कितने उत्सुक थे। इस संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल का निम्नलिखित मत, तुकाराम जी के भक्ति भाव को पुष्ट करता हैं– "जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ,श्रद्धाजन सामीप्य लाभ की प्रवृति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।"[5]

सन्त तुकाराम के भक्तिरिअभंगों में यद्यपि भक्ति के सभी भेदों की सांगोपांग व्याख्या नहीं हुई, तथापि वे नवधा भक्ति के पोषक दृष्टिगोचर होते है। जैसे–

"नवविधीचा निषेध। जेणेमुखे करिती वाद। जन्मा आले निंदा। शूकरपाती संसारा।।"[6]

अर्थात् जो व्यक्ति नवधा भक्ति को निषेध करता है। वह दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर भी शूकर के समान है। तुकाराम की भक्तिभावना में भारतीय परंपरा के अनुकूल नवधा भक्ति का रूप दिखाई देता है।

**श्रवणः**

संत तुकाराम ने कबीर की भांति ही ईश्वर के नाम, यश, महत्ता, गुण व उनकी लीलाओं को श्रद्धापूर्वक सुनकर श्रवण भक्ति का परिचय दिया। ईश्वर के वर्णानातीत गुणों का परिचय देते हुए वह कहते है कि हे ईश्वर! यदि मैं आपकी महिमा का बखान करने लगूं तो सारा ब्रह्माण्ड उसके लिए छोटा होगा। समस्त धरा रूपी फलक पर मेरू पर्वत रूपी लेखनी को सागर रूपी स्याही में डुबोकर यदि आपकी महिमा या गुण श्रवण लिखा जाए तो वह भी कम पड़ जायेगी।

कहीं पर तुकाराम धर्म–रक्षणार्थ और अधर्म का नाश करने के लिए जो प्रभु अनेक बार अवतरित हुए उनकी महत्ता, कृपालुता गुणों की चर्चा करते नहीं थकते।

"दया तिचें नावं भूतांचे पारूप। आगिक निर्दलणा कंटाकाचे

– – – – – – –

पाप त्याचें नावं न विचरितां नीतभलते चि उनमक्त करी सदा।

तुका महण धर्म रक्षावया साठी। देवास ही आटी जन्मा धेणें।"

**कीर्तनः**

'नामलीलागुणा दीनामुच्चैर्थेषां तु कीर्तनम्।' अर्थात् भगवान के नाम, गुण, महात्म्य, लीला आदि का वर्णन, गान तथा उच्च स्वर से पाठ कीर्तन कहलाता है। संत तुकाराम ने ईश्वर भवसागर पार करने के लिए कीर्तन–भक्ति को साधना बतलाया है। हरिकीर्तन से भक्त को समाधि जैसी एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। हरिकथा जीव के सब दुःखों का नाश कर देती है क्योंकि यह भगवान, भक्त और उनके पवित्र नाम का त्रिवेणी संगम है। तुकाराम कहते है कि नाम स्मरण से तो केवल व्यक्ति विशेष का उद्धार होता है। लेकिन कीर्तन से संपूर्ण समाज लाभान्वित होता है।

**स्मरणः**

मराठी साहित्य के भक्त कवियों ने नाम–स्मरण पर विशेष बल दिया है। हरिनाम स्मरण पर तुकाराम की अटूट श्रद्धा है। वे मानते है कि वही जीव मुक्त है, जो नित्य राम नाम का जाप करता है। रामनाम की महिमा अनुपम है, वर्णनातीत है, इसके समकक्ष अन्य कुछ नहीं है। "जिसके मुख से विठ्ठल नाम नहीं निकलता उसे प्रेत–रूप समझना चाहिए, क्योंकि मृत्यु के पश्चात ऐसे जीव, घोर नरक में जातें है।"[7]

योग, कर्म, वैराग्य इत्यादि ईश्वर प्राप्ति के अनेक साधन है। परंतु उनका पालन नाम स्मरण की अपेक्षा कठिन है। क्योंकि चंचल मन को वश में किए बिना यह संभव नहीं है। इसलिए हरिनाम स्मरण ही सर्वाधिक सुगम साधन है।

**पादसेवाः**

तुकाराम की यही कामना है कि उनके नेत्र सदैव प्रभु की मोहिनी मूर्ति का दर्शन करते रहे क्योंकि उसी के चरणों में भक्त को सभी सुख प्राप्त हो जाता है। पादसेवा के लिए भगवान का बाह्य स्वरूप अथवा मानस प्रत्यक्ष स्वरूप का होना आवश्यक है। उनका दृढ़ विश्वास है कि एक बार जब हम प्रभु के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देते है तो प्रभु कभी भी अपने भक्त की उपेक्षा नहीं करते है।

**अर्चनः**

नवधा भक्ति के अन्तर्गत अर्चन भक्ति के विषय में तुकाराम मानसिक पूजा पर विशेष बल देते हैं। उनका विश्वास है कि मूर्ति तो चंचल मन को स्थिर करने का माध्यम मात्र है। वास्तविक वस्तु तो भाव है। जिस प्रकार मिट्टी के भगवान बनने से देवत्व नहीं आता लेकिन श्रद्धाभाव अवश्य अर्पित हो जाता है।

"पाषाण देव पाषाण पायरी। पूजा एकाकरी पाय ठेवी।।
सार तो भाव सार तो भाव।। अनुभवी देव ते चि जाले।।"8

अर्थात् पत्थर की सीढ़ी है और पत्थर से ही प्रभु मूर्ति बनी है, परंतु एक पर पैर रखते हैं और दूसरे की पूजा करते हैं। सार वस्तु है भाव, इसी अनुभव में भक्ति प्रकट हो सकती है। अर्थात् प्रभु के निमित्त जो भी पूजा आदि की जाती है, वह चाहे किसी भी ढंग से की जाए, प्रभु की ही प्राप्ति होती है।

**वंदनः**

तुकाराम मानते है कि भगवान के माहात्म्य को हृदय में धारण कर नतमस्तक होकर उनकी स्तुति वन्दन भक्ति है। वे प्रभु से प्रार्थना करते है कि– "मैं तेरे शरण में हूँ, अतः तू ही मेरी सुरक्षा कर और अपनी चरण सेवा का सुख प्रदान कर।"[9] उनका दृढ़ विश्वास है कि प्रभु की चरण रज की वंदना करने से ही भवसागर से पार जाया जा सकता है।

**दास्य भक्तिः**

दास्य भक्ति के अंतर्गत संत तुकाराम एक को सेवक और प्रभु को अपना स्वामी मानते है और अपना सर्वस्व उसे सौंप देते हैं। एक अभंग में वह कहते है कि भले ही मेरा यह तन नष्ट हो जाए परंतु मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास बना रहे कि मैं राम का दास हूँ।

"तुकाराम राम का। मन मे एक हि भाव। तो न पालटू आव । ये हि तन जाव।"[10]

दास्य भक्ति में शरणागति की भावना अत्यन्त प्रबल होती है। तुकाराम ईश्वर से यही कहते हैं कि भला–बुरा जैसा भी हूँ मैं तो आपकी शरण में हूँ, अतः चाहे जैसे भी हो मेरा उद्धार करो। अर्थात् वह अपना बोझ प्रभु के ऊपर डाल स्वयं निश्चित हो जाते हैं।

**सख्य भक्ति :**

सख्य भक्ति की अनुपालना करते हुए संत तुकाराम कहते हैं कि वेदों में जिस ईश्वर की महिमा का वर्णन किया गया हैं वही मेरा मित्र है। क्योंकि जब ईश्वर के प्रति सख्य भाव उत्पन्न हो

जाता है तब बड़े–छोटे का भेद समाप्त हो जाता हैं। सखा भाव भक्ति में भक्त अपने हृदय की सारी भली–बुरी बातों को निःसंकोच भगवान के सन्मुख व्यक्त कर देता है।

**आत्मनिवेदन :**

आत्मा निवेदन का अर्थ है काया–वाचा–मनसा से प्रभु के प्रति समर्पित हो जाना। विनयशील भाव से प्रभु से अपने अपराधों के लिए क्षमा याचना, अपने को मूर्ख, अल्पांश मानकर भगवान की शरण में जाना, निष्काम भाव से प्रभु की भक्ति करना और उसी में तन्मय होने की अभिलाषा संत तुकाराम के अभंगों में दिखाई देती हैं। अपनी एकनिष्ठ भक्ति का उदाहरण देते हुए वह कहते हैं कि– "यदि आपके अतिरिक्त किसी अन्य की महत्ता का गुणगान करूं तो मेरी जिह्वा टूटकर गिर पड़े, यदि अपने चित्त में किसी ओर को बसाऊ तो मेरा मस्तिष्क फूट जाए। यदि मेरे नेत्र किसी और को निहारे तो मेरे नीच नेत्र नष्ट हो जाए। यदि मेरे कान आपकी कथा श्रवण न करे तो इनका क्या उपयोग?"[11]

नवधा भक्ति के अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद–सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के अतिरिक्त तुकाराम जी के अभंगों में वात्सल्य और दाम्पत्य भाव के भी दर्शन होते हैं। अन्ततः स्पष्ट है कि संत तुकाराम बार–बार इस बात पर बल देते है कि भक्ति –भाव के बिना ईश्वर प्राप्ति असंभव है। नामस्मरण और शरणागति से भक्त भव–बंधन से मुक्ति पा सकता है। वह मानते है कि भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है, भगवान के द्वार पर वर्ग भेद, जाति–पाति, धनी–निर्धन का कोई भेद नहीं होता है। लेकिन भक्त पर ईश्वर की कृपा तभी होगी जब वह मन रूपी हाथी पर अंकुश रखना सीख जाएगा, क्योंकि भक्ति मार्ग श्रेष्ठ और सुलभ होते हुए भी दुर्लभ है। उनकी भक्ति भावना सगुण–निर्गुण दोनों भक्तिधाराओं को आत्मसात करके आगे बढ़ी है, वह मानते ही कि मंजीरे कितने भी हो लेकिन उनकी ध्वनि हमेशा एक सी ही होती है। उसी प्रकार निराकार ब्रह्म ही भक्तों के लिये साकार–रूप धारण करता है।

**संदर्भ सूची :–**


1. भक्ति काव्य और लोक जीवन, शिवकुमार मिश्र, पृ.13
2. श्री तुकाराम बावांची अभंगगाथा (2766) पृ.464
3. वहीं, (3898)
4. वहीं. (705)
5. चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 32
6. श्री तुकाराम बावांची अभंगगाथा, (1436)
7. तुकाराम एवं कबीर एक तुलनात्मक अध्ययन, रमेश सेठ, पृ. 145
8. अभंगगाथा. 2270
9. कबीर और तुकाराम के काव्य में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना का तुलनात्मक अनुशीलन, बालकवि लक्ष्मण सुरजे, पृ. 232
10. तुकाराम अभंगगाथा, 1162
11. तुकाराम एवं कबीर एक तुलनात्मक अध्ययन, रमेश सेठ, पृ. 153

# 'पहाड़िन' उपन्यास में आदिवासी विमर्श

डॉ. बन्ना राम मीना*

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक से भारतीय साहित्य में एक नए युग का आरंभ होता है। भारतीय साहित्य में अब अस्मितामूलक विमर्शों की उदघोषणा और अनुगूँज यत्र–तत्र सुनाई पड़ती है। इनके ज़रिये साहित्य में बिल्कुल अछूते, नए विषयों का प्रवेश होता है। इस दौर में स्त्री–अस्मिता, दलित अस्मिता और आदिवासी अस्मिता के प्रश्न यकायक महत्वपूर्ण हो उठते हैं। इन अस्मिताओं से भारतीय साहित्य एवं समाज गहरे रूप में आंदोलित है। इस तरह से यह अस्मिता–विमर्श धीरे–धीरे, छोटे–छोटे रूपों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। पिछले दो दशकों से स्त्री विमर्श और दलित विमर्श से संबंधित लेखन की भरमार है। ऐसे में यह लगभग ज़रूरी सा हो जाता है कि भारतीय समाज के विशिष्ट अस्मिता समूह 'आदिवासियों' की अस्मिता पर भी पैनी नज़र दौड़ाई जाए। आदिवासी अस्मिता के सवाल पर पिछले कई वर्षों से बहुत से लेखक/विचारक कार्य कर रहे हैं लेकिन फिर भी भारतीय इतिहास और साहित्य की परंपरा में आदिवासी अस्मिता की पहचान की कोशिश की जानी अभी बाकी है। "आज आदिवासी साहित्य विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखा जा रहा है। हिन्दी में अनुवाद होकर हमारे सामने आ रहा है। यहाँ तक कि यह लेखन हिन्दी में भी प्रचुर मात्रा में हो रहा है। इससे न केवल हिन्दी समृद्ध हुई है, बल्कि आदिवासी जीवन–शैली, समानता, भाईचारा और आज़ादी के सूत्रों को हिन्दी पट्टी और हिन्दी भाषी मानस ने भी कुछ हद तक ग्रहण किया है। ये हिन्दी भाषी मानस में दृष्टिकोणात्मक बदलाव लाने में काफी सहायक हो रहा है।"[1]

हिन्दी की तरह अन्य भारतीय भाषाओं तमिल,मराठी तथा मलयालम भाषा में आदिवासियों को केन्द्र में रखकर साहित्य सृजन हो रहा है। मलयालम भाषा में आदिवासी विमर्श को लेकर प्रमुख रूप से उरूब, नारायन, मलयाटूर रामकृष्णन, टी.सी.जॉन, श्रीकण्ठन नायर, आदि लेखक लिख रहे हैं। 'नारायन' पहले मलयालम रचनाकार है जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से केरल के आदिवासियों के जीवन, संस्कार एवं समस्याओं को उजागर किया है। 'कोचारेत्थि' (पहाड़िन ) 'नारायन' का पहला संपूर्ण उपन्यास है। लेखक का यह पहला उपन्यास केरल साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाज़ा जा चुका है। हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के अलावा इस कृति का दक्षिण की अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद पहले ही हो चुका है और फ्रेंच भाषा में अनुवाद होने से लेखक के स्वर को नई पहचान मिली है। हिन्दी में 'नारायन' के इस उपन्यास का अनुवाद (पहाड़िन नाम से) श्री वी. के. रविन्द्रनाथ ने किया है।

* सहायक प्रोफेसर, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–65

'नारायन' ने मलयालम भाषा में लिखा, लेकिन उनकी रचनाओं का भारतीय और विदेशी भाषाओं में वृहद स्तर पर अनुवाद हुआ। उपन्यास, 'पहाड़िन' में उनकी आत्मानुभूति की गहराइयाँ समग्रता के साथ दिखाई पड़ती है। यह उपन्यास मलयालम भाषा की परिधियों से बाहर निकलकर सम्पूर्ण भारत के आदिवासियों के जीवन,उनके सुख–दुख की समस्याओं को इस तरह प्रस्तुत करता है कि समीक्षकों को इसे मलयालम साहित्य का गौरव ग्रंथ कहना पड़ा। श्री वी.के.रविन्द्रनाथ द्वारा किया गया उपन्यास का हिन्दी अनुवाद भी मूल रचना के अनुकूल है, सहज है। हिन्दी पाठकों को यह उपन्यास अपनी कथा में शामिल करके अपना सहयात्री बना लेता है। लेखक की वर्णन शैली प्रभावशाली है। हिन्दी पाठक को कहीं अपरिचय, कहीं भी परायापन का अहसास नही होता। इस लिहाज़ से भी यह उपन्यास हिन्दी को समृद्ध करता है। यह उपन्यास 'नारायन' के द्वारा लिखा जाना बेहद ज़रूरी था। "क्योंकि दूसरों द्वारा अपने दुख की चर्चा की बजाय, अपना दुख खुद व्यक्त करने की चेतना के साथ–साथ ही जगी सदियों की चुप्पी तोड़कर प्रस्थापितों द्वारा घेरे गए दायरे और लक्ष्मण रेखाएँ तोड़ने की चेतना। अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपना भूगोल सब जानने, सबकी पड़ताल करने और उसे उस बाह्य जगत से रू–ब–रू कराने की चेतना का उभार आदिवासी सृजकों/विचारकों/लेखकों में ज़रूरी है।"[2] यह इतिहास की मुख्यधारा की शक्तियों के ख़िलाफ़ उस आदिवासी प्रतिरोध का उपन्यास है जिसने पिछले एक दशक से दुनिया भर का ध्यान अपनी ओर खींचा है। हर जुल्म, शोषण का पुरज़ोर विरोध, स्वायत्तता के लिए संघर्ष 'नारायन' के लिए राजनैतिक मुहावरे भर नही है, बल्कि इससे जुड़े समाजों की जीवित रहने की अनिवार्य शर्त भी है। उपन्यास में सामाजिक सरोकार भी दिखता है जो इसको भारतीय साहित्य की विराट परंपरा से भी जोड़ता है। यह उपन्यास केरल के 'अरियन' आदिवासियों की कहानी भर नहीं कहता अपितु भारतीय समाज का भी प्रतिनिधि भी बन जाता है।

मलयालम साहित्य में पहली बार किसी आदिवासी सृजक ने आदिवासी दर्शक की जगह भोगे हुये यथार्थ को स्वानुभूत लेखन के तौर पर पाठक के सामने लाने की कोशिश है। अपने आदिवासी जीवन के प्रति गहरी आस्था एवं इस जीवन को संपूर्णता में, गहराई के साथ धारण करने की क्षमता रचनाकार की रचना को विशेष बनाती है। उपन्यास में आदिवासियों के जज़्बातों और अधिकारों को उचित स्थान दिया गया है। उनके जीवन–संघर्ष, उनकी उलझनों को समझा–परखा गया है। सत्ता, शोषण, बर्बरता आदि आदिवासियों की अस्मिता को नष्ट करने वाले औज़ार हैं। इन सबका नग्न यथार्थ यहाँ चित्रित हुआ है। यह उपन्यास दक्षिण भारत में किसी भी आदिवासी रचनाकार द्वारा अपने समुदाय पर लिखी गई पहली प्रामाणिक कृति है। आज तक बौद्धिक जगत से लेकर एकेडमिक संस्थानों में आदिवासी समाजों को नकारात्मक रुप में पेश किया जाता रहा है। हम उस जमात के सदस्य हैं जो यह मानकर चलते हैं कि 'आदिवासी हमसे भिन्न किन्तु कमतर सभ्यता और संस्कृति वाला समाज है। ग़ैर–आदिवासी लेखकों व इतिहासकारों की नज़र में आदिवासी असभ्य व जंगली है'। अब सवाल उठ खड़ा होता है कि जब मुख्यधारा का समाज उनके बारे में ग़लत व्याख्या करके भ्रम फैलायेगा तो आदिवासी समाज के साथ न्याय कैसे होगा? इसलिए हिन्दी समाज को आदिवासी समाजों को लेकर अपनी दृष्टि बदलनी होगी और

उन्हें अपने इस दंभ व भ्रम से बाहर निकलना होगा कि वे सभ्य हैं और आदिवासी असभ्य। दरअसल,यह उपन्यास आदिवासी समाजों के विषय में मिथ्या प्रस्तुति के ख़िलाफ़ एक प्रतिरोध का माध्यम भी है।

प्राचीन समय के सेठ, साहूकारों, ज़मींदारों, प्रशासन तथा राजस्व विभाग ने आदिवासियों को बहुत लूटा, इनकी ज़मीनें छीनीं तथा इन्हें घर से बेघर किया। इस तरह से अंग्रेज़ों ने भी इनकी संस्कृति के साथ खिलवाड़ किया तथा आज़ादी के बाद हमारी सरकारों ने भी यही नीति जारी रखी है। उपन्यास के हिन्दी अनुवादक श्री वी. के. रविन्द्रनाथ अपनी भूमिका में लिखते हैं–"ज़मींदार के गुंडे कोच्चीपन के नेतृत्व में 'अरयन' बस्तियों में लूटमार मची, तो उसके प्रतिरोध में बग़ावत पर उतारू होने वाले अरयनों का क्रोध भड़कता है।" इस तरह से आदिवासियों का अंतहीन शोषण अंग्रेज़ों से पहले तथा बाद में भी जारी रहा। इनकी बस्तियों तथा वनों पर इनके अधिकारों को ख़त्म करने से लेकर इनके आर्थिक आधार को तहस–नहस करने तक कि प्रकिया आज़ादी के बाद भी चलती रही। लेखक उपन्यास के माध्यम से इस सच्चाई को सामने लाते है कि आज़ाद भारत में भी लूट का नया मुखौटा पहनकर आदिवासी इलाक़ों में ठेकेदार, वहाँ के ज़मींदार एवं पुलिस विभाग के अधिकारी इन्हें उत्पीडित करने में पीछे नहीं हैं।

उपन्यास में आदिवासी अपने जीवन में किसी बाहरी घुसपैठ एवं झूठे वादों को ख़ारिज करते हैं। वे नहीं चाहते कि बाहरी समाज उनका मज़ाक़ उड़ाए। यहाँ एक ओर 'अपने होने का अहसास' है वहीं दूसरी तरफ 'एक सोची–समझी साज़िश का अहसास' भी लेखक की कथा शैली में मौजूद हैं। "मालिक वर्ग की दूरगामी शोषण को 'अरियान' समझने लगे थे। एक साथी कहता भी है, जानते हो कोच्चुरामन भैया, ये मालिक इस समय क्यों इतना प्यार जता रहा है? नहीं तो! पूरी पहाड़ी हमारे नाम लिख देगें और लगान देते अपने प्राण निकल जाएँगे ,हाँ रे केला। बात तुम सही कह रहे हो।"[3] उपन्यास में आदिवासी क्षेत्रों में शोषण, अन्याय, अत्याचार के नए–नए दुष्चक्रों के जाल में फँसे आदिवासी मानस को सजग करने की दास्तान है।

आदिवासियों के शोषण हेतु वहाँ के स्थानीय छुटभैया नेता, जंगल के फ़ोरेंस्ट अफ़सर, ठेकेदार, दलाल तथा सत्तापक्ष ज़िम्मेदार हैं। लेखक धीरे–धीरे मौजूदा व्यवस्था के दावों व हक़ीक़त को उजागर करता है। जंगल विभाग की साँठगाँठ और पुलिस प्रशासन की मिलीभगत को लेखक सामने लाते हैं। "जंगल विभाग की जिस विसंगतियाँ, विद्रूप और अत्याचारीपन सामने आता है उसका स्वरुप अख़िल भारतीय रूप से एक जैसा नहीं हैं। पेड़ काटने के प्रति इतनी निर्ममता है कि वन अधिकारी उगी हुई फ़सल के नुक़सान को भी नहीं देखते, बल्कि बिना वृक्ष वाली ज़मीन को देख आरोप लगा देते है कि तुमने वन के पेड़ जला डाले। अंततःवन अधिकारियों को भी भारी रिश्वत देकर छूटते हैं। क़ानून और उसकी व्यवस्था का साम्राज्य शोषक, विध्वंसक निज़ाम सामने आता है।"[4] आदिवासियों के जीवन में जल जगंल और ज़मीन का महत्वपूर्ण स्थान है। वे जंगल का सिर्फ उपयोग ही नहीं करते बल्कि उसका संरक्षण एवं संवर्धन भी करते हैं। जल जंगल और ज़मीन आदिवासियों को सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करते हैं। जंगल के साथ आदिवासियों का अटूट रिश्ता हैं। उपन्यास में आदिवासी, जंगल और जीवन को गहराई से समझाने की कोशिश है।

जगंलों के भीतर मुनाफ़ा कमाने की होड़ के चलते वन अधिकारियों व पुलिस प्रशासन की साँठगाँठ को नारायन सामने लाते हैं।

आदिवासी समुदाय अपनी अलग पहचान स्वायत्तता संस्कृति एवं सभ्यता के लिए जाने जाते हैं। "अपनी नई पीढ़ी से मैं कहना चाहूंगा कि चाहे आदिवासी हो या कि गैर आदिवासी सभी की अपनी संस्कृति है। दुनिया में संस्कृति के दो भाग हैं। आदिवासियों की संस्कृति दूसरे भाग में है और दोनों संस्कृतियों का अपना–अपना जीवन मूल्य है। गैर आदिवासी संस्कृति भोगवादी जीवन मूल्य वाली है तो आदिवासी संस्कृति सहजीवी है। समता, विश्वास, बंधुता, प्रेम इसके जीवन मूल्य हैं। भोगवादी संस्कृति के मूल्य शोषण, दमन, वर्चस्व, विषमता आदि हैं। इन दोनों संस्कृतियों के बीच संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष धर्म के स्तर पर भी है और यह राज्यसत्ता की भी लड़ाई है। क्योंकि धर्म और राज्यसत्ता दोनों संस्कृति के अंग हैं। दो संस्कृतियों की इस लड़ाई के बारे में हमें अपने समाज को जागरूक करना पड़ेगा। हमें विचार करना होगा कि हमको कौन–सी संस्कृति बचानी है। हमको कौन–सा जीवन मूल्य अपनाना है। इसे अगर हमारी नई पीढ़ी समझ सकेगी तो वे उस दिशा में बढ़ सकते हैं और अपनी आदिवासी संस्कृति बचा सकते हैं।"(वाहरू सोनवणे, सुप्रसिद्ध आदिवासी साहित्यकार)

आदिवासी समाज की अपनी अलग दुनिया होती है।यह समाज उसी प्रकार की सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया से प्रभावित रहते हैं। अपने अनूठे लोक में अपने जीवन के मापदंड निश्चित करते हैं। आदिवासी समाज अपने आँचल विशेष से ही खुश रहता है। उसे बाहरी लोगों की संस्कृति ने कभी प्रभावित नहीं किया। यह समुदाय अपनी विविधता से भरी संस्कृति के आलोक में ही अपने जीवन पथ को संचालित करना चाहता है। इस प्रकार आदिवासी समाज अपनी विशिष्ट जीवन शैली के चलते स्वाभिमानी समाज रहा है। यह समुदाय कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी प्रकृति को नष्ट नहीं करता है अपितु उसके सानिध्य में रहता है, मुख्यधारा के समाज की भाँति प्रकृति को नष्ट नहीं करता है। उपन्यास में आदिवासियों के प्रकृति प्रेम को उनकी शिक्षा को लेकर चर्चा की गई है। "हाँ ,कोच्चीपन। इन अरियनों को अगर थोड़ी शिक्षा भी मिले,तो ये किसी से कम न रहेगें। सामाजिक दृष्टि से वे उतने नीचे नही हैं। प्रकृति की स्वस्थ शरीरवाली संतान। मेरे कहने का मतलब है कि उनके साथ व्यवहार में तुम्हें सावधानी बरतनी चाहिये।"[5] उपन्यास में प्रकृति की लय–ताल और संगीत के अनुसरण के साथ सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव मिलता है। आदिवासियों के सभी तीज त्यौहार प्रकृति केन्द्रित है। यह संस्कृति पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर है और जल,ज़मीन एवं जंगलों के बिना इसकी कल्पना भी नही की जा सकती है।

उपन्यास में उपेक्षित और शोषित आदिवासी स्त्री का अपना रंग–बिरंगा संर्धषमयी संसार है। यहाँ राग–विराग की बदस्तूर आवाजाही है। आदिवासी स्त्री के शोषण की दास्तान भी अनूठी है। आदिवासी होने के कारण सदियों से शोषण का शिकार होना पड़ा और आदिवासी में भी स्त्री हो तो यह शोषण दोहरा हो जाता है। एक तरफ तो अपने समाज ने उसे इज़्ज़त ,मान–सम्मान नहीं दिया दूसरी तरफ शेष समाज के लोगों ने उसे कामिनी ,कमज़ोर और भोग्या माना। उपन्यास

में आदिवासी स्त्री की कहानी पुरूष द्वारा शोषण से शुरू होकर पुरूष द्वारा उत्पीड़न पर ही समाप्त हो जाती है। "कुंजादिच्चन और पाप्पी का विवाह हो गया पाप्पी को इस बात की उम्मीद नहीं थी। ननद के चेहरे पर अजीब सी नाखुशी झलक रही थी। उसने फिर कहा, लड़कियों में दम हुआ, तो क्या फ़ायदा? बाप और भाई ने मिलकर अगर किसी को उसका हाथ पकड़ा दिया, तो उसके साथ चली जाने के सिवा लड़की के पास और चारा ही क्या है?"[6] अशिक्षा, अंधविश्वास और उत्पीड़न आदिवासी स्त्री–जीवन का रोज़नामचा हैं। उपन्यास में आदिवासी जीवन के प्रति विकल आत्मीयता और दैनंदिन संघर्ष के प्रति अविचल आस्था की मौजूदगी भी है। विद्रोह और बदलाव के लिए पहलकदमी करती स्त्री एवं स्वतंत्रता और संघर्ष की नई ज़मीन तैयार करती 'इटयाति' नामक स्त्री उपन्यास में मौजूद हैं।

अपनी सांस्कृतिक विरासत को आदिवासी बेहद प्यार करते हैं। आदिवासियों में सामाजिक–सांस्कृतिक–आर्थिक स्तर पर बहुत सारी समानताएँ होने के अलावा बहुत ही भिन्नताएँ भी उपस्थित हैं। इसी के परिणामस्वरूप इनकी संस्कृति शेष 'सभ्य समाज' से भिन्न प्रकार की रही है। अलग–थलग पड़े ये भारतीय समाज का एक ऐसा भाग है जो अपनी संस्कृति, अपनी विरासत, अपने संस्कारों तथा रीति–रिवाजों से संचालित होकर इनको बचाए रखने की जद्दोजहद में लगे हुए हैं। उपन्यास में 'अरियन' आदिवासियों के लिए बाहरी समाजों के प्रभाव से दूर रह पाना नामुमकिन था। 'अरियन' आदिवासी अपनी जीवन–शैली की जिन ख़ासियतों को सुरक्षित और संरक्षित करने के लिए वह मुख्यधारा के समाज से दूरी बनाता रहा,उन्हीं विशेषताओं और संरचनाओं को विज्ञान,तकनीक और विकास ने तहस–नहस कर डाला। साथ ही,धीरे–धीरे इस समुदाय के अंदर भी विचलन पैदा हो गया। परिणामस्वरूप आज आदिवासी समाज का अस्तित्व और अस्मिता संकट में हैं। उपन्यास बतलाता है कि आदिवासी समाजों को मुख्यधारा में शामिल करने की होड़ में उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के साथ किसी तरह की छेड़छाड़ नहीं की जाय।

उपन्यास में 'अरियन' समाज की उपेक्षा से उपजा आक्रोश और अपने अनुभवों की विरासत मौजूद है। यह मलयालम भाषा में लीक से हटकर लिखा गया उपन्यास है। नारायन की चिंता यह है कि 'अरियन'आदिवासी जमातों का हक, अधिकार, मान–सम्मान संविधान की दृष्टि से तो मौजूद है पर व्यावहारिक धरातल पर नकारा जा रहा है। नारायन आदिवासी समुदाय में पहली पीढ़ी के शिक्षित थे और परिवर्तन के दौर के रचनाकार थे जो आदिवासी अस्मिता को बचाये रखने की जद्दोजहद कर रहे थे। लेखक ने इस उपन्यास के द्वारा संक्रमण के दौर से गुज़र रहे आदिम जमातों की संस्कृति को सरल किन्तु प्रभावशाली और अनूठी शैली में चित्रित किया है। उनके जीवन,संस्कार एवं समस्याओं को अनुभव के धरातल पर अभिव्यक्त किया है। नारायन ने जल जगंल और ज़मीन के साथ आदिवासियों के लगाव को पूरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया है। शास्त्रीय एप्रोच वाले आलोचक इस उपन्यास में कमियाँ बता सकते हैं लेकिन अनुभव की प्रामाणिकता का ताप इतना है कि ख़ामियों की कीलें भी पिघल जाती है। उपन्यास के हिन्दी अनुवादक श्री वी.के.रविन्द्रनाथ की महत्ता इस मायने में विशिष्ट है कि उन्होंने केरल के 'अरियन' आदिवासियों के जीवन–संघर्ष को हिन्दी के पाठक को परिचित करवाया। भारतीय साहित्य की

समृद्धि में केरल एवं मलयालम भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है। मलयालम भाषा के साहित्यकार नारायन का यह उपन्यास केरल के आदिवासियों के बारे में ही नहीं बल्कि आदिवासी जीवन संदर्भों की समझ के लिए भी यह अनिवार्य व ज़रूरी है।

**संदर्भ–सूची :–**


1. आदिवासी साहित्य यात्रा, रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण–2012, नई दिल्ली, पृ.5.
2. आदिवासी साहित्य यात्रा, रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2012, नई दिल्ली, पृ.6
3. पहाड़िन , नारायन, हिन्दी अनुवादक : श्री वी. के. रवीन्द्रनाथ, साहित्य अकादमी, संस्करण, 2013, दिल्ली, पृ.110
4. पहाड़िन , नारायन , हिन्दी अनुवादक :श्री वी. के. रविन्द्रनाथ, साहित्य अकादमी, संस्करण, 2013, दिल्ली, पृ.112
5. पहाड़िन , नारायन, हिन्दी अनुवादक : श्री वी. के. रविन्द्रनाथ, साहित्य अकादमी, संस्करण, 2013, दिल्ली, पृ.108.
6. पहाड़िन , नारायन, हिन्दी अनुवादक : श्री वी. के. रविन्द्रनाथ, साहित्य अकादमी, संस्करण, 2013, दिल्ली, पृ.8.

# 'मछुआरे' उपन्यास में मूल्य–बोध

डॉ. सुनीता शर्मा*

समाज, मनुष्य के लक्ष्यों एवं आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु दीर्घ विकास प्रक्रिया द्वारा विकसित एक समष्टिगत व्यवस्था का नाम है। यह व्यवस्था मानव जीवन को संचालित व व्यवस्थित करने हेतु कुछ मानदंड़ एवं धारणाएँ निर्धारित करती है। यह मानदंड एवं धारणाएँ समय के साथ–साथ प्रचलित होती जाती है और अंततः अपने संपूर्ण अस्तित्व के साथ रूढ़ हो जाती हैं। इनका मुख्य प्रयोजन तथाकथित समाज में मानव व्यवहार को नियंत्रित एवं नियमित करना होता है। इन मानदंड़ों के अनुरूप मनुष्य विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक कार्यों की पूर्ति करने का प्रयास करता है। इन मानदंडों को ही समाज व्यवहार में मूल्यों के नाम से जाना जाता है। मूल्य किसी भी समाज और संस्कृति का अभिन्न अंग होते हैं। यह किसी एक विशेष व्यक्ति के लिए निश्चित नहीं किए जाते अपितु पूर्ण समाज के व्यवहार और कर्तव्यों के निर्धारक होते हैं। मानव जीवन के निर्धारक यह मूल्य मानव और सामाजिक व्यवस्था को केंद्र में रखकर केवल निर्मित ही नहीं किए जाते बल्कि विपरीत परिस्थितियों में मानव को उनके अनुसार व्यवहार करने हेतु बाध्य भी करते हैं। साधारण शब्दों में कहा जाए तो मूल्य प्रत्येक समाज की आधारशिला होते हैं। डॉ. देवेन्द्र सिंह समाज और व्यक्ति के अस्तित्व में मूल्यों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं, "तेल (समाज) के बिना बत्ती(व्यक्ति) अधूरी है और ज्योति (मूल्यों) के बिना बत्ती (व्यक्ति) और तेल(समाज) दोनों ही अर्थहीन हैं अर्थात् अंतिम रूप में सार्वभौमिक मानवीय मूल्य ही समाज व व्यक्ति के जीवन में ज्योति प्रज्ज्वलित करते हैं।"[1] इस तरह स्पष्ट है कि मूल्य व्यक्ति और समाज के जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मानव व्यवहार इन्हीं मूल्यों के माध्यम से संचालित होता है। संक्षिप्त रूप में कहा जाए तो मूल्य एक तरह से जीवन जीने का निश्चित क्रम ही है। सामाजिक जीवन में आदर्शों को प्रतिष्ठित करने में जीवन मूल्यों का अहम् योगदान रहता है। एक अस्तित्वशील समाज मूल्य रूपी आधारभूमि पर ही टिका रहता है और यही मूल्य संपूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्ता प्रदान करते हैं, "मूल्य का संबंध मन से होता है, विश्वास से होता है। ऐसा विश्वास जिन पर किसी कार्य विशेष की वांछनीयता या अवांछनीयता का निर्णय आधारित होता है"[2] अर्थात् मूल्य जीवन के प्रति वह दृष्टिकोण हैं जो मानव के सामाजीकरण में सहायक है तथा उसके भीतर अच्छे और बुरे की समझ उत्पन्न कर उसका मार्गदर्शन करता है। अज्ञेय मानते हैं कि इन मूल्यों का स्त्रोत मानव का विवेक है। उनके शब्दों में, "सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है। वही उसे सत्य का ज्ञान देता है। फिर उस सत् और असत् का क्षेत्र चाहे जो हो।"[3] संभवतः कहा जा सकता है

*सहायक प्रोफेसर, हिंदी, राजकीय महाविद्यालय दिग्गल, जिला सोलन (हि.प्र.)

कि किसी वस्तु या विचार के प्रति अनुकूल धारणाओं से ही मूल्यों का आविर्भाव होता है। प्रत्येक समाज की अपनी मान्यताएँ, विचार एवं परंपराएँ होती है और इन्हीं के आधार पर मूल्यों का गठन और विघटन होता है। यह मूल्य सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होते हैं जो मानवीय व्यवहार में एकरूपता लाते हैं। किसी भी समाज में पीढ़ी–दर–पीढ़ी चली आ रही परंपराएँ ही इन मूल्यों को सहेज एवं संजोकर रखती हैं। इनके निर्माण के पीछे केवल मानव के उत्थान और पतन की धारणा विद्यमान रहती है। इनका विकास विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में होता है। डॉ. बैजनाथ सिंहल के अनुसार, "प्रत्येक उपलब्धि जीवन को प्रभावित करती है। उपलब्धियों का यह प्रभावशाली रुप ही मूल्य है।"[4] यह उपलब्धियाँ मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, वैयक्तिक आदर्शों से अभिप्रेरित होती हैं। जब मनुष्य अपने क्षेत्र या समाज के आदर्शों के अनुरूप अपने कर्तव्यों का निर्वहन करता है तो उसे ही मूल्यबोध कहा जाता है। नैतिकता, सदाचार, पवित्रता, सत्यनिष्ठा, कर्तव्यबोध, प्रेम, त्याग आदि मानव जीवन के आधारभूत जीवन मूल्य कहे जा सकते हैं। 'मछुआरे' उपन्यास में तकषी शिवशंकर पिल्लै द्वारा मछुआरा समाज व संस्कृति में प्रचलित इसी तरह के मूल्य–बोध को प्रदर्शित किया गया है, जहाँ मछुआरा समुदाय के जीवन का प्रत्येक क्रियाकलाप विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के साथ विकसित एवं विघटित होता दिखाई देता है।

तकषी शिवशंकर पिल्लै का भारतीय साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। तकषी मलयालम भाषा के विश्वविख्यात यथार्थवादी कथाकार हैं। उन्हें मलयालम भाषा का प्रेमचंद कहा जाता है। लंबोंधरन पिल्लै बी. अपने एक लेख में तकषी और प्रेमचंद के लेखन में साम्य स्थापित करते हुए लिखते हैं, "प्रेमचंद और तकषी शिवशंकर पिल्लै विश्वविख्यात उपन्यासकार हैं। प्रेमचंद भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी में साहित्य रचना कर पूरे संसार के आदर पात्र हुए तो तकषी केरल की राज्यभाषा मलयालम को माध्यम बनाकर वही स्थान पा गए।"[5] अर्थात् प्रेमचंद की भांति तकषी ने भी अपने संपूर्ण कथा साहित्य का कलेवर समाज के संघर्षरत मानव को केंद्र में रखकर निर्मित किया है। डॉ. अरविंदन एम. के शब्दानुसार, "प्रगतिशील उपन्यासकारों में तकषी शिवशंकर पिल्लै सबसे प्रमुख हैं। आप सामाजिक जीवन के निम्न स्तर के लोगों के सशक्त प्रवक्ता हैं। उन लोगों के जीवन की मान्यताओं तथा यंत्रणाओं को पूरी सच्चाई के साथ वाणी देने में तकषी पूर्णतः सफल हुए हैं।"[6] स्पष्टतः कहा जा सकता है कि उनकी लेखनी मानव जीवन की वास्तविकताओं को यथार्थ के धरातल पर उकेरने का सार्थक प्रयास करती है। उनका साहित्य समाज के उन लोगों की समस्याओं और मूल्यबोध से जुड़ा है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े है तथा अपने समय की विषम परिस्थितियों एवं विसंगतियों से जूझते हुए जीवन यापन कर रहे हैं, "जब वे लेखन में निर्धन वर्ग की समस्या को सामने रखते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा समाज ही नायक के रूप में काम कर रहा है।"[7] मछुआरे उपन्यास में भी लेखक ने केरल राज्य के समुद्र तटीय परिवेश तथा वहाँ रहने वाले मछुआरा समाज की वास्तविकताओं, उनकी आशा–निराशा, सुख–दुख, विश्वास–अंधविश्वास आदि से जुड़े मूल्य बोध को कथा में बुना है। 'मछुआरे' उपन्यास मलयालम के 'चेम्मीन' उपन्यास का हिंदी अनुवाद है। 'मछुआरे' अर्थात् 'चेम्मीन' उपन्यास तकषी की राष्ट्रीय

एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि का आधार रहा है। यह साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत उपन्यास है, जो लगभग 19 भाषाओं में अनूदित हो चुका है। तकषी का बचपन तटीय समुदायों के संपर्क में बीता, अतः उनके जीवन पर उन समुदायों के जीवन से जुड़े मूल्य बोध एवं परंपराओं का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। यह उपन्यास उनके इसी यथार्थबोध का प्रतीक है। प्रमोद मीणा अपने एक लेख में लिखते हैं, "समाज और संस्कृति बहुत जटिल विषय हैं। अपितु यह इसलिए भी जरूरी है कि भिन्न–भिन्न संस्कृतियाँ यथार्थ के भिन्न–भिन्न आयामों की व्यंजक भी होती हैं। यथार्थ की कोई एक आयामी अवधारणा नहीं होती, हर संस्कृति का अपना एक विशिष्ट यथार्थ होता है।"[8] भाव यह है कि किसी भी समाज या संस्कृति के यथार्थ को प्रस्तुत करने से पूर्व उसके भीतर की गहराईयों तक पहुँचना अत्यावश्यक होता है। तकषी ने मछुआरा संस्कृति के यथार्थ की गहराईयों को केवल नापा ही नहीं अपितु उससे जुड़ें विभिन्न आयामों को आत्मसात् करने के उपरांत ही 'मछुआरे' की कथावस्तु को व्यापक फलक दिया। 'मछुआरे' उपन्यास की कथा नीर्क्कुन्नम और तृक्कुन्नपुषा दो समुद्र तटीय समुदायों की कथा है, जहाँ का प्रत्येक व्यक्ति मछुआरा संस्कृति के मूल्यों से आबद्ध है। सामाजिक मूल्य हों या सांस्कृतिक मान्यताएँ, आर्थिक क्रियाएँ हो या प्रणय भावनाएँ, मछली पकड़ने के नियम हों या नाव और जाल रखने वाली जातियों में भेद, घटवार की महत्ता का बोध हो या समुद्र में जाल डालने की निश्चित अवधि और उससे जुड़े संस्कार, स्त्रियों के जीवन से संबंधित मूल्य हों या फिर उनसे जुड़ी समुद्री किनारे की पवित्रता, लड़की के विवाह से संबंधी रूढियाँ हों या स्त्री धन से जुड़े मूल्य आदि सभी को उपन्यासकार ने यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्ति दी है। उपन्यास के आरंभ से ही मूल्यों के निर्वहन का संघर्ष स्पष्टतः परिलक्षित होने लगता है और यह अंततः बना रहता है।

तकषी ने समुद्र से जुड़े मछुआरों के मूल्यबोध को बड़ी संजीदगी के साथ अभिव्यक्त किया है। मछुआरा समुदाय के लोगों के लिए समुद्र ही उनका जीवनाधार है। समुद्र के साथ उनका अस्तित्व जुड़ा हुआ है। वे समुद्र को 'माँ' की संज्ञा देते हैं तथा समुद्र माता से जुड़े विविध मूल्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाते चलते हैं। समुद्र माता से जुड़ी उनकी धारणाएँ, मिथक एवं अंधविश्वास उनके जीवन के प्रत्येक पहलु को प्रभावित करते हैं। समुद्र रत्नों का भंडार है, परंतु उसके भीतर जाने तथा मछली पकड़ने हेतु जाल डालने की भी एक निश्चित अवधि मानी गई है। 'चाकरा' (समुद्र में अधिक मछली संग्रहण का समय) के समय ही मछुआरे अपनी नाव समुद्र में ले जाते हैं क्योंकि उस समय ही उसमें भिन्न–भिन्न प्रजाति की मछलियों की भरमार होती है। इन्हीं मछलियों के सहारे पूरा मछुआरा समुदाय ही नहीं अपितु तट पर आकर बसे और अन्य जातियों तथा धर्मों के थोक व्यापारी भी अपनी आजीविका चलाते हैं। जबकि 'पोला' (समुद्र माता के मासिक धर्म का प्रतीक) के समय जब समुद्र रंग बदलता है तो इस समय समुद्र में नाव उतारना, जाल डालना या मछली पकड़ना उचित नहीं माना जाता। यह समुद्री नियमों के विरूद्ध माना जाता है। यह समय मछुआरों के लिए अकाल जैसा हो जाता है। उन्हे दो वक्त की रोटी का प्रबंध करना भी असंभव सा हो जाता है। तकषी 'चाकरा' से जुड़ी मछुआरों की आशाओं तथा आकांक्षाओं का अत्यंत संवेदनशील चित्रण करते हुए लिखते हैं, "समुद्र तट पर लोग प्रतीक्षा में ही दिन काट रहे थे। रात

के भोजन में मरचीनी और कंजी लेते समय हरेक घर में लोग समुद्र माता को स्मरण करके यह प्रश्न करते कि, 'हे समुद्र माता, एक मुट्ठी अन्न खाने का अवसर फिर कब मिलेगा?' उसका उत्तर भी स्वयं ही देते थे, 'चाकरा के साथ।'....चायवाले जब चाय देने से इन्कार करते तब मछुआरे कहते थे कि 'अरे चाकरा आएगा जी!'.....घरों में औरतों के कपड़े गंदे होकर फटने लगे और उनमें पैबंद लगने लगे। तब भी लोग यही कहते, " 'चाकरा' आने दो! मलमल और महीन कपड़े सब खरीदेंगे।" उस समय सब इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।"[9] चेम्पन और चक्की भी तरह–तरह के सपने संजोते हैं। चक्की को अपनी जमीन और घर लेना है। बेटियों के विवाह हेतु पैसा जुटाना है, वहीं चेम्पन को एक और नाव और जाल खरीदकर खूब धन बटोरना है। चेम्पन और चक्की की बड़ी बेटी करुत्तम्मा भी चाकरा के समय पैसा जुटाने की बात चक्की से कहती है, क्योंकि उसके पिता ने परीकट्टु से नाव और जाल के लिए धोखे से जो उधार लिया है, उसे चुकाकर वह ग्लानिबोध से निजात पाना चाहती है, क्योंकि खेल–खेल में उसने ही परी से पैसे की मांग की थी और यह मांग पूरे उपन्यास में काली छाया की भांति मंडराती रहती है। करुत्तम्मा और परीकट्टु बचपन के साथी हैं तथा एक दूसरे से प्रेम करते हैं, परंतु उनका प्रेम जाति और धर्म के बंधनों में बंधकर समाप्त हो जाता है। उनके प्रेम बोध के साथ ही उपन्यास में समुद्र की दंड प्रक्रिया से जुड़ें पवित्रता संबंधी मूल्यबोध की जागृति होती है। समुद्री तट की पवित्रता को लेकर मछुआरा समुदाय पूर्णतः सतर्क है। विशेष रूप से यह पवित्रता की धारणा स्त्री के चरित्र से जुड़ी है। शिवानंद उपाध्याय के अनुसार, "चेम्मीन उन गरीब मछुआरों के जीवन पर केंद्रित उपन्यास है जो अपने जीवन निर्वाह के लिए समुद्र पर ही आश्रित होते हैं। समुद्र तटीय मछुआरा समाज एक बंद समाज है जो परंपराओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और मान्यताओं से इस कदर जकड़ा हुआ है कि वह अपने सदस्यों को और खासतौर से समुदाय की महिलाओं को इसकी रत्ती भर भी छूट नहीं देता है। समुदाय के नियमों और मर्यादाओं का उल्लंघन करने वालों का तिरस्कार करता है।"[10] मछुआरा समाज में यह मान्यता है कि जब कोई मल्लाह समुद्र की लहरों में अपनी नाव उतारता है तो उसकी जीवन रक्षा का पूरा दायित्व किनारे पर खड़ी उसकी पत्नी के सतीत्व पर होता है। चक्की करुत्तम्मा को समुद्र का यह तत्त्व ज्ञान समझाते हुए इस परंपरागत मूल्य का वर्णन करती है, "प्रथम मल्लाह जब पहले–पहल लकड़ी के टुकड़े पर चढ़कर समुद्र की लहरों और ज्वार भाटे का अतिक्रमण करके क्षितिज के उस पार गया तब उसकी पत्नी ने तट पर व्रत निष्ठा के साथ पश्चिम की ओर देखकर खड़े–खड़े तपस्या की। समुद्र में तूफान उठा, शार्क मुँह बाए नाव के पास पहुँचे, व्हेल ने नाव को पूँछ से मारा और जल की अंतरधारा ने नाव को एक भंवर में खींच लिया। लेकिन आश्चर्यजनक रीति से वह मल्लाह सब संकटों से बचकर एक बड़ी मछली के साथ किनारे पर लौट आया। उस तूफान के खतरे से वह कैसे बचा? शार्क उसे क्यों नहीं निगल गया? व्हेल की मार से उसकी नाव क्यों नहीं डूब गई? भँवर से उसकी नाव कैसे निकल आई ? यह सब कैसे हुआ? समुद्र तट पर खड़ी उस पतिव्रता नारी की तपस्या का ही वह फल था।"[11] इस मिथ को समस्त मछुआरा समुदाय स्वीकारता है, विशेष रूप से समुद्र माता की पुत्रियों को तो इस तपश्चर्या का आजीवन पाठ करना पड़ता है। चक्की करुत्तम्मा से कहती है कि यह समुद्र सब रत्नों

का भंडार है तथा सारी आशाओं की पूर्ति करता है, परंतु यह तभी अपनी संतान को हर सुख–सुविधा प्रदान करता है जब वे मर्यादा में रहकर मूल्यों के अनुरूप अपना जीवनयापन करते हैं। जो समुद्र माता की मर्यादाओं का उल्लंघन करता है उसके लिए निश्चित दंड प्रक्रिया का भी प्रावधान है। वह कहती है, "समुद्र माता क्रोध आ जाने पर एक साथ सब नष्ट कर डालती है।..... पवित्रता ही सबसे बड़ी चीज है, बेटी। मल्लाह की असली संपति मल्लाहिन की पवित्रता ही है।"[12] इस पवित्रता संबंधी मूल्य बोध को लेखक ने अंततः सिद्ध करके भी दिखाया है। ऐसा लगता है मानों वह मछुआरों के इस विश्वास को तोड़ना नहीं चाहते। करुत्तम्मा का विवाह पलनी नामक मछुआरे से हो जाता है। परी और उसके प्रणय संबंधो के किस्से नीर्क्कुन्नम तट से चलकर तृक्कुन्नपुषा तट तक आ पहुँचते हैं। पलनी और करुत्तम्मा का वैवाहिक जीवन संदेहों के काले साये में विशृंखलित होने लगता है। पलनी करुत्तम्मा पर विश्वास करना चाहता है परंतु समाज के पवित्रता संबंधी मूल्यों के प्रहरी ऐसा होने नहीं देते। उपन्यास के अंत में परी और करुत्तम्मा का मिलन और पलनी का नाव के साथ भंवर में फंसकर समाप्त हो जाना मछुआरों के पवित्रता संबंधी इस तत्त्व ज्ञान की पुष्टि करता है। पलनी द्वारा समुद्री भंवर में उलझकर करुत्तम्मा को पुकारना यही संकेत करता है कि उसे कहीं न कहीं यह विश्वास था कि उसकी मल्लाहिन उसकी रक्षा का व्रत धारण किए तट पर खड़ी होगी। उपन्यासकार के शब्दों में, "उसने करुत्तम्मा को क्यों पुकारा? उसमें कोई उद्देश्य था न? समुद्र में जाने वाले मल्लाह की रक्षा करने वाली देवी के घर में बैठी मल्लाहिन ही है न? उसने करुत्तम्मा से उस आदि मल्लाहिन की तरह तपस्या करने की मांग की। वह प्रथम मल्लाह आँधी–पानी में फंस जाने पर भी, अपनी मल्लाहिन की तपस्या के फलस्वरूप बचकर लौट सका था। पलनी को भी उसी प्रकार रक्षा पाने का विश्वास था। उसकी भी मल्लाहिन थी। उसने पिछले दिन भी तो प्रतिज्ञा की थी। वह जरूर तपस्या करती होगी।"[13] इससे एक बात तो स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज के मूल्यों की धूरी कहीं न कहीं स्त्री की पवित्रता के इर्द–गिर्द ही घूमती रहती है। समाज का प्रत्येक मूल्य स्त्री जीवन के साथ ही जुड़ा होता है। त्याग और बलिदान की कामना स्त्री से ही की जाती है। आदर्शों का पाठ उसे ही सिखाया जाता है। उसकी ही इच्छाओं और भावनाओं का गला घोंट उससे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा भी की जाती है। 'मछुआरे' उपन्यास में भी लेखक ने प्रेम, त्याग और बलिदान जैसे मूल्यों के बीच करुत्तम्मा को आजीवन संघर्ष करते हुए चित्रित किया है। वह परी से प्रेम करती है परंतु वह विधर्मी है। उसके समाज में उसके इस प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं है। उसकी प्रणय भावना जाति और संप्रदाय के भेंट चढ़ जाती है। उसका विवाह एक ऐसे युवक से कर दिया जाता है जो परिवार और रिश्तों के महत्त्व से कोसो दूर है। जिसका कोई सगा–संबंधी नहीं है। वह अपने पिता चेम्पन की महत्त्वाकांक्षा की वेदी पर स्वाह हो जाती है। वह अपने प्रेम का बलिदान कर पतिव्रता धर्म को अपनाती है तथा पति के प्रेम और विश्वास को जीतने का हर संभव प्रयास करती है। नीर्क्कुन्नम तट पर तथाकथित मर्यादाप्रिय समाज को उसके पथभ्रष्टा होने का भय था, तो एक परिवारविहीन युवक के साथ उसका विवाह तथा पिता का उसे त्यागना तृक्कुन्नपुषा तट पर भी उसे पथभ्रष्टा की संज्ञा से अभिहित करवा देता है। उसका प्रणय जीवन तो समाप्त हो ही जाता है

परंतु वैवाहिक जीवन भी शांतिपूर्ण एवं आश्वासन के साथ व्यतीत नहीं हो पाता। राजेंद्र यादव ने अपने उपन्यास 'शह और मात' में लिखा था, "औरत की हालत सब जगह एक सी है चाहे वह राजकुमारी हो या नौकरानी, वह हमेशा पुरूष के तेवर देखकर चलती है, उसकी इज्जत उसके चाहने न चाहने पर है। उसकी प्रतिष्ठा, उसकी शरीर शुद्धता परंपरागत मान्यता पर है"[14] ऐसी ही स्थिति 'मछुआरे' की करुत्तम्मा की है। वह पति का विश्वास जीतना चाहती है। वह भी मल्लाहिन की भांति अपना घर संवारना चाहती है, परंतु रूढियों के बंधन में बंधे समाज को यह स्वीकार्य नहीं हो पाता। करुत्तम्मा अपनी माँ चक्की के स्वास्थ्य के प्रति चिंतित रहने के बाबजूद और यहाँ तक कि उसकी मृत्यु का समाचार पाने के बाद भी वह उसे देखने मायके नहीं आ सकती थी क्योंकि पलनी को यह कतई मंजूर नहीं था। वह विवाह के बाद हर घड़ी पलनी को विश्वास दिलाती रही, "समुद्र तट के अयोग्य नहीं होउँगी। उसने उस पर विश्वास करने को कहा। पति समुद्र में जाए तो उसके न लौट सकने लायक वह कोई काम नहीं करेगी। समुद्र में तूफान उठाने वाला व्यवहार उसका नहीं होगा। जहरीले सांप जमीन पर लोटने लगे, ऐसा काम वह नहीं करेगी। उसने वचन दिया कि वह एक पतिव्रता मल्लाहिन होकर रहेगी।"[15] फिर भी वह सदैव इसी अंतर्द्वंद्व में रही कि उसकी बातों का विश्वास पलनी को हुआ या नहीं।

माना जाता है कि प्रेम समाज का शाश्वत एवं उदात्त मूल्य है। 'मछुआरे' उपन्यास में लेखक ने इस मूल्य को भी गहरी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है। मूल रूप से यह उपन्यास एक ऐसी प्रेम कथा कही जा सकती है जो सामाजिक मूल्यों की बेड़ियों में बंधकर धीरे–धीरे दम तोड़ती जाती है। मछुआरा जाति की करुत्तम्मा और मुस्लिम धर्म का परीकट्टु दोनों के प्रणय बोध से आरंभ होने वाली यह कथा विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा विसंगतियों का सामना करती हुई समुद्री जल प्लावन के आगोश में समाप्त हो जाती है। करुत्तम्मा एक दिन हंसी मजाक में परी से अपने पिता चेम्पन की नाव और जाल के लिए पैसे उधार मांगती है। चेम्पन को इस बात का ज्ञान नहीं होता परंतु वह परी से ही नाव और जाल खरीदने के लिए सहायता ले लेता है। जब उसके पास नाव और जाल आ जाता है तथा पैसा आने लगता है तो वह स्वार्थलिप्सा में अंधा हो जाता है तथा परी का उधार नहीं चुकाता। परी भी उससे पैसे नहीं मांगता, क्योंकि वह तो उसने करुत्तम्मा के कहने से दिए थे। परी का कारोबार बंद हो जाता है। उसके पिता उससे नाता तोड़ लेते हैं। करुत्तम्मा परी की इस हालत का जिम्मेवार स्वयं को ठहराती है। वह पलनी से विवाह की बात भी इसी शर्त पर मंजूर करती है कि पहले परी का कर्जा चुका दिया जाए। परंतु ऐसा नहीं हो पाता। वह अपनी माँ से एक बार यह प्रश्न भी करती है कि क्या स्त्री के सतीत्व को भंग करने से ही समुद्र माता क्रोधित होती है? अगर कोई किसी के साथ धोखा करे, अपने स्वार्थ पूर्ति हेतु उसका इस्तेमाल करे तो क्या समुद्र माता को क्रोध नहीं आता है? वह कहती है, "आधी रात के समय बोरे उठवाकर रखे जाते हैं। यह लौटा देने के लिए है? ऐसा है तो दिन के समय लाने में क्या हर्ज था? ऐसे ही कामों से समुद्र में तूफान उठता है।.....चक्की माँ के अधिकारपूर्ण स्वर में कहा, 'वह विधर्मी छोकरा तेरा कौन है री? तुझको क्यों इतना दर्द हो रहा है?'...'करुत्तम्मा कहना चाहती थी 'वह उसका कोई नहीं है। लेकिन उसके मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। उसे

लगा कि वह कहे कि परी उसका कोई नहीं है। क्या सचमुच वह उसका कोई नहीं है? उस समय उसे लगा वास्तव में परी उसका सब कुछ है।"[16] परी का प्रेम निस्वार्थ भाव से भरा है। उसे उस प्रेम के बदले कुछ नहीं चाहिए। जब करुतम्मा विवाह से पहले उससे मिलने आती है तो वह उससे वादा करता है कि वह उसके सुख में कभी बाधा नहीं बनेगा। वह अपना प्रेम गीत आजीवन गाता रहेगा जिसकी गूंज नीर्क्कुन्नम तट से चलकर तृक्कुन्नपुषा तट तक पहुँचेगी। वह करु से कहता है, "इस तरह गाते–गाते कंठ फट जाने से मैं मर जाऊँगा। तब इस तट पर चाँदनी में दो आत्माएँ मंडराती फिरेगी।"[17] करुत्तम्मा आजीवन अंतर्द्वंद्व में रही कि वह परी के प्रेम को महत्त्व दे या पलनी के प्रति अपने पति धर्म को, "परी का ख्याल उसके मन से हटता नहीं था। यह पाप है न? एक की पत्नी होकर वह पर पुरुष के बारे में सोचती है। उसका अंतःकरण गवाही देता है कि वह कभी परी को भुला नहीं सकती। यह पागलपन जीवनभर उसके साथ रहेगा।"[18] अंततः वह इस अंतर्द्वंद्व से मुक्ति पाती है और स्पष्टतः इस निर्णय पर पहुँच जाती है कि वह परी से प्रेम करती है। वह परी की है और परी उसका। केवल परी ही वह व्यक्ति है जिसे उससे कोई शिकायत नहीं, जिसे उसमें कोई दोष दिखाई नहीं देता। उपन्यासकार के शब्दों में, "उसकी आत्मा में अब एक विश्वास उत्पन्न हुआ। एक आदमी उससे प्रेम करता है और हमेशा करता रहेगा। और वह आदमी उसके सामने खड़ा है।"[19] उपन्यास के अंत में लेखक ने परी और करुत्तम्मा के मिलन को चित्रित कर प्रेम के महत्ता एवं अमरता को पूर्णतः प्रतिपादित किया है। धर्मवीर भारती के शब्दों में, "सच बात यह है कि प्रेम–भावना और उसका हल्का, सूक्ष्म और रोमानी स्वरूप न आज तक मर पाए हैं और न मर पाएँगे। यह एक शाश्वत भूख है।"[20] परी और करुतम्मा के जीवन की यह शाश्वत भूख अंततः पूरी हो जाती है और दोनों आलिंगनबद्ध अवस्था में समुद्र माता के जल में मुक्ति पा जाते हैं।

तकषी ने मर्यादा, प्रेम और पवित्रता के साथ–साथ मछुआरा समुदाय में प्रचलित बेटी के विवाह से जुड़ी मान्यताएँ, स्त्री धन की अवधारणा, जातिगत एवं धार्मिक मूल्यबोध को भी परिवेशगत वास्तविकताओं के साथ प्रस्तुत किया है। मछुआरा समाज ही नहीं अपितु पूरे भारतीय समाज में बेटी को पराया धन ही स्वीकार किया गया है। उसके विवाह की चिंता मानो सभी जिम्मेवारियों के मूल में है। 'मछुआरे' उपन्यास में करुत्तम्मा के विवाह की चिंता पूरे मर्यादाप्रिय समाज को है। यह चिंता मुख्य स्वर तब धारण करती है जब उसका पिता चेम्पन अपनी नाव और जाल खरीदने जाता है। अच्चन, रामन्, मूम्पन आदि जिन–जिन लोगों को चेम्पन की उन्नति से ईर्ष्या होती है, उन्हें समुद्र तट के कायदे और कानून याद आने लगते हैं और वे घटवार अर्थात् तटीय समुदायों के मुखिया से न्याय का गुहार लगाते हैं। वयस्क लड़की घर में अविवाहित बैठी है और चेम्पन नाव खरीदने गया है, यह बात समुद्री नियमों की अवमानना करती है, "पुराने जमाने में घटवार लड़कियों को ऐसे अविवाहित नहीं रहने देता था। घाट के नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था। घटवार इस संबंध में हमेशा सावधान रहा करता था। उन नियमों का विशेष उद्देश्य था। वे मल्लाहों के कल्याण के लिए बने थे।"[21] इन नियमों के अनुसार लड़की का विवाह दस साल की उम्र तक हो जाना चाहिए। करुतम्मा, चक्की, चेम्पन सब इन नियमों से परिचित थे

परंतु उन्हें इस बात का बोध नहीं था कि पूरा समुदाय उन्हें इस तरह उनके कर्तव्य का पाठ पढ़ाएगा। चक्की सोचती ही रही कि आखिर उन लोगों ने किसी का क्या बिगाड़ा है। अपना पेट काट–काट कर रुपया जमा किया ताकि अपनी नाव हो, जमीन हो जाए, अपना घर बन जाए, तब बेटियों का विवाह अच्छे घर में किया जाएगा। परंतु उनका यह सपना ही उनके अपराध का कारण बन गया। उसे लगा कि अब तो वे घटवार के दंड़ के पात्र बन जाएंगे। इससे अच्छा तो यह होता कि नाव के लिए जोड़ा पैसा बेटी के विवाह में लगा दिया होता। करुत्तम्मा बिना किसी अपराध के स्वयं को सबसे बड़ा दोषी मानने लग जाती है, "उन लोगों ने किसका क्या बिगाड़ा है।...स्त्रियों के बीच यह बात उठी कि वयस्क लड़की का ब्याह नहीं करा रहे है, यही उनका सबसे बड़ा अपराध है। करुत्तम्मा को अपने जीवन से विरक्ति हो गई। उसको लगा कि उसके कारण माँ–बाप को क्या–क्या परेशानी उठानी पड़ रही है। लड़की होकर जन्म लेना उसके वश की बात तो थी नहीं, घाट की पवित्रता को भी उसने नष्ट नहीं किया है। उसके अविवाहित रहने से किसी का क्या बिगड़ता है? लेकिन इस तरह का तर्क किसी को भी मान्य नहीं हो सकता था।"[22] जिस समाज में वह रहती है वहाँ उसे किसी तरह के तर्क–वितर्क की अनुमति ही नहीं है, क्योंकि वह समाज उन मूल्यों में बंधा हुआ है जो अंधविश्वास और रूढ़ियों के घेरे से बाहर ही नहीं निकलने देते। इस समाज में स्त्री के प्रति नियम–कानूनों की ऊँची–ऊँची दीवारे बनाई गई हैं। इन्हीं घटनाओं के बीच मछुआरा समाज में प्रचलित जातिगत एवं धार्मिक मूल्यबोध के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। करुतम्मा जिससे प्रेम करती है वह विधर्मी है, जिसे समुद्र तट के नियमों का ज्ञान नहीं है। किसी विधर्मी के साथ समुद्र की बेटियों का हंसना–बोलना उनके तट–भ्रष्टा होने का कारण बन सकता है। चक्की करुत्तम्मा को समझाते हुए कहती है, "कभी–कभी छोटे मोतलाती लोग समुद्र तट को अपवित्र बना देते है। पूर्व से स्त्रियाँ झिगी पीटने और सूखी मछली को बोरी में भरने के लिए आया करती है और वह तट को अपवित्र करती देती है। समुद्र तट की पवित्रता का महत्त्व उन्हें क्या मालूम। वे समुद्र माता की संतान तो है नहीं। लेकिन उसका फल भोगना पड़ता है मछुआरों को...।"[23] यही नहीं जब पलनी को परी और करुत्तम्मा के प्रेम के विषय में पता चलता है तो वह भी करुत्तम्मा से कहता है कि उसे मल्लाहिन होकर बचपन में किसी विधर्मी के साथ हँसने–खेलने की आवश्यकता ही क्या थी? यहाँ तक कि जब चक्की की मृत्यु की खबर लेकर परी करुत्तम्मा से मिलने जाता है तब भी तथाकथित समाज में यह प्रश्न उठता है कि दूसरे धर्म का व्यक्ति खबर देने क्यों आया। यह खबर तो किसी मल्लाह द्वारा ही दी जानी चाहिए थी। मछुआरा समाज का यह भेदभाव केवल अन्य धर्मों के लोगों के साथ ही नहीं है अपितु इनके अपने समुदाय में भी विभिन्न जातियों में लोग बंटे हुए हैं। घटवार, नाव और जाल रखने वाले, नाव की पतवार थामने वाले, जाल फेंकने वाले, मछली बटोर कर बेचने वाले अलग–अलग जाति के मछुआरे होते हैं। जब चेम्पन नाव और जाल खरीदता है तो सबसे पहला प्रश्न उसकी जाति को लेकर ही उठाया जाता है कि क्या वह खुद की नाव और जाल रखने का पात्र है या नहीं। उपन्यासकार के शब्दों में, "मछुआरे पाँच जाति के हैं, 'अरयन', 'जालवाला', 'मछुआ', 'मरक्कान' और एक 'पचम' जाति। इन सबके ऊपर पूरब के 'वालन' है। इनमें 'जालवाले' को ही नाव और जाल रखने का अधिकार

है।"[24] जबकि चेम्पन मछुआ जाति का है। इसी तरह जब चेम्पन पलनी से करुत्तम्मा के विवाह की बात चलाता है तो चक्की को केवल एक ही चिंता होती है कि उसकी जाति न जाने कौन सी होगी। यहाँ तक कि विवाह के समय गाँव की कुछ औरते बिना भोज के यह कहकर चली जाती है कि उन्हें पलनी की जाति के विषय में स्पष्टता नहीं होती। पलनी और करुत्तम्मा के विवाह के समय भी मछुआरा समाज की अनेक विवाह संबंधी प्रथाओं की अभिव्यक्ति तकषी द्वारा की गई है। पलनी स्त्री–धन अर्थात् दहेज लेना नहीं चाहता। परंतु चक्की बेटी को बिना स्त्री–धन के भेजना सामाजिक अपमान समझती है। पलनी के घर में कोई सगा–संबंधी नहीं है यह भी पूरे तट पर चर्चा का विषय बन जाता है। विवाह तय हो जाने पर चेम्पन चाहता है कि पलनी घर–दामाद बनकर उन्हीं के साथ रहे तथा उसके काम में उसका हाथ बटाए परंतु पलनी को यह मंजूर नहीं होता, "कौन ऐसा मल्लाह है, जिसने मल्लाहिन के घर में रहना पसंद किया हो"[25] वहीं दूसरी ओर करुत्तम्मा को भी यह शर्त मंजूर नहीं होती। विवाह के समय एक और प्रथा जो सामने आती है वह है करुत्तम्मा के प्रति पड़ोस की औरतों का कर्तव्य। लेखक इस कर्तव्यबोध को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं, "करुत्तम्मा पड़ोस की औरतों की स्नेहपात्र बन गई। पुराने जमाने से चला आ रहा एक रिवाज दुहराया गया। शादी तय हो जाने पर वधू को भार्या धर्म का उपदेश साधारणतः पड़ोस की स्त्रियाँ ही दिया करती है, यदि कोई वधू भूल करे तो उसके लिए पड़ोसियों को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है।"[26] अतः करुत्तम्मा की पड़ोसिने उसे समुद्र माता का पूरा तत्त्व ज्ञान समझाती हैं तथा मल्लाह की जीवन रक्षा के दायित्व के प्रति उसे सचेत करती हैं। तमाम वैवाहिक रस्मों का भी लेखक बड़ी संजीदगी के साथ वर्णन किया है। वैवाहिक रस्मों से पहले वर पक्ष को वधू पक्ष की मांग के अनुसार कुछ पैसे घटवार और वधू के पिता को देने का रिवाज है। उसके बाद मप्पन अर्थात् मछुआरों के पुरोहित द्वारा वैवाहिक रस्में प्रारंभ की जाती है। वर द्वारा वधू को वस्त्र ओढ़ाकर और मंगलसूत्र पहनाकर विधिवत् वर का हाथ वधू को सौंपा जाता है। पलनी के साथ बारात में कोई औरत न आने पर भी विवाद खड़ा होता है, "नलम्मा के मुँह से निकला, 'ये लोग कम से कम पड़ोस की ही किसी स्त्री को बुला लाते।' काली ने उसका समर्थन किया, 'हाँ जी। भला इन मर्दों के साथ लड़की को कैसे भेजेंगे?' नलम्मा ने कहा, 'यह कैसा रिवाज है? लड़की को लिवा जाने के लिए वर के साथ औरतों का आना जरुरी समझा जाता है।'"[27] इस तरह तमाम विवादों और अड़चनों के उपरांत करुत्तम्मा का विवाह संपन्न होता है।

वर्तमान समय में अर्थ जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण मूल्य बनता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानों संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था, नाते–रिश्ते, बंधन, परंपराएँ अर्थ प्राप्ति के लिए संघर्षरत है। अर्थ की महत्ता मूल्यों के गठन और विघटन को किस तरह प्रभावित करती है तथा अर्थ के फेर में पड़कर व्यक्ति अपना आप किस हद तक गंवा बैठता है, इस वास्तिवकता को भी तकषी ने अपने उपन्यास में बड़ी सजीवता के साथ चित्रित किया है। चेम्पन का जीवन में एक ही सपना रहा कि उसकी अपनी नाव और जाल हो। यह सपना वह पूरा भी करता है, इसके लिए वह किसी भी कीमत पर जाने को तैयार हो जाता है। वह परी से उधार लेता है पर चुकाने के समय स्वार्थी हो जाता है। वह इतना महत्त्वाकांक्षी हो जाता है कि पोला के समय भी समुद्र में नाव लेकर उतर

जाता है। यहाँ तक कि वह धन की लालसा में बेटी का विवाह भी परिवारविहीन एक युवक से कर देता है क्योंकि उसे स्त्री धन की लालसा नहीं होती। वह अकाल के समय लोगों की विवशताओं से लाभ कमाना चाहता है। वह कहता है, "भूखे पड़े रहने दो सबको। तभी हमारा काम बनेगा।...सबको ऐसे ही छटपटाने दो"[28] चेम्पन को पैसे के आगे और कुछ नजर नहीं आता। उसने अपने जीवन की संपूर्ण अर्थवत्ता अर्थ में ही सीमित कर डाली। डॉ. रामभजन सीताराम के यह शब्द चेम्पन के व्यक्तित्व को पूर्णतः उद्घाटित करते हैं, "हर व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने अस्तित्व की जड़ जमाना चाहता है। अपने अस्तित्व के संघर्ष में यदि परिवार और स्वजन बाधक है तो उनकी उपेक्षा भी अप्रत्याशित नहीं रह गई है।"[29] चेम्पन की स्वार्थलिप्सा तथा अति महत्त्वाकांक्षा ही शायद अंततः उसकी विक्षिप्तता का कारण बनती है। अर्थ के नाम पर शोषण तो प्रत्येक समाज में आम बात है। जिसके हाथ में ताकत है वह किसी न किसी तरह दूसरों का शोषण करने में ही अपनी महानता समझता है। रामभजन सीताराम के अनुसार, "शोषण आम बात हो गई है और समाज का हर तरह का वह तबका जिसके हाथ में किसी भी प्रकार का अधिकार है, संबंधित सामायिकों का शोषण करता जा रहा है।"[30] मछुआरा समाज में इस तरह के आर्थिक शोषण के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। मछुआरा समुदाय की यह प्रथा है कि घटवार को बिना बताए कोई भी व्यक्ति नया काम शुरू नहीं कर सकता। चेम्पन घटवार को सूचित किए बिना ही नाव और जाल खरीदने चला जाता है। समुदाय के लोग समुद्र की मर्यादाओं के उल्लंघन की दुहाई देते हुए घटवार को चेम्पन के विरूद्ध कर देते हैं। घटवार क्रोधित हो जाता है। जब चक्की और चेम्पन को इस बात का पता चलता है तो वह पुराने समय में घटवार द्वारा दिए गए दंड़ों के विषय में सोचकर घबरा जाते हैं, "घटवार के क्रोध का पात्र बनने से घर डुबा देने वाली कहानी उन्होंने सुनी थी। रातों–रात परिवार के परिवार घाट छोड़कर भाग भी गए थे। इस तरह घाट छोड़कर आने वाले दूसरी जगह जाकर मछुआरे के रूप में जम जाएँ और अपनी जीविका चलाएँ, ऐसा नहीं हो सकता था। वे जहाँ कहीं भी जाएँ सामाजिक नियमों का प्रतिबंध लगा ही रहता था।. ...घटवार हुक्म दे तो आज भी कोई काम पर नहीं जाएगा, ऐसी स्थिति हो सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि जन्म–मरण के अवसर पर कोई घर में न आए।...नाव और जाल लेने से पहले नजराना देकर अनुमति लेना आवश्यक है।"[31] इस तरह हर उस व्यक्ति को चाहे उसमें नजराना देने का सामर्थ्य हो या न हो उन्हें अपनी कमाई का हिस्सा घटवार को देना पड़ता ही है। चेम्पन ने भी उधार लेकर नजराना दिया तथा घटवार के क्रोध को शांत किया और घटवार ने उससे यह वचन भी लिया कि नाव और जाल से जो कमाई होगी उसमें से भी उसे नजराना देते रहना होगा। इससे स्पष्ट होता है कि जन्म–मरण, विवाह तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर घटवार को भेंट देने वाली मछुआरा समुदाय की मान्यता उनके शोषण का सबसे बड़ा कारण है। मछुआरा समाज में एक नियम यह भी है कि मछुआरे कभी कुछ संजोकर नहीं रख पाते। पूरा समुद्र उनकी सम्पति है और जब उन्हें मछली नहीं मिल पाती तथा भूखे–प्यासे रहकर दिन व्यतीत करने पड़ते हैं तो इसे वह अपने कर्मों का फल मानते हैं। पलनी इस तत्त्व ज्ञान के विषय में करुत्तम्मा से कहता है, "मल्लाह जो कमाएगा उसे जमा नहीं कर पाएगा। इसका कारण यह है कि वह

लाखों–करोड़ों प्राणियों को मारकर कमाता है। वह पानी में स्वतंत्र जीवन बिताने वाली असंख्य मछलियों को धोखे में फंसाकर पकड़ लेता है और उसी से पैसा कमाता है। उन अनगिनत प्राणियों को दम घुटा–घुटाकर छटपटाकर अगर मरते देखो तो जरुर विश्वास हो जाएगा कि ऐसी जीव–हत्या से होने वाली कमाई टिकने वाली नहीं हो सकती। उसे कोई जमा नहीं कर सकेगा।"[32] पलनी का यह तथ्य तथा समुद्र के प्रति मछुआरों की आस्था कहीं न कहीं मछुआरा समुदाय की प्रकृति के प्रति कृतज्ञता और उसके संरक्षण के मूल्यबोध को भी परिलक्षित करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तकषी ने मछुआरा समुदाय के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा प्राकृतिक मूल्य बोध को बड़ी संजीदगी और गंभीरता के साथ इस उपन्यास में उकेरा है। उनके मूल्य बोध से जुड़े उपरोक्त प्रसंगों के उल्लेख से संभवतः कहा जा सकता है कि यह उपन्यास मुख्यतः मछुआरा समाज में नहीं अपितु पूरे भारतीय समाज में मूल्य निर्वहन के नाम से विश्वासों, प्रथाओं एवं मान्यताओं के खोखलेपन को भी उद्घाटित करता है। एक ओर मूल्य जहाँ इस समुदाय में पवित्रता की धारणा को कायम रखने का प्रयत्न करते हैं तो वहीं दूसरी ओर यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को बाधित भी करते हैं। व्यक्ति न चाहते हुए भी इन्हें निभाने के लिए बाध्य है। मछुआरा समाज की हर छोटी–बड़ी स्थिति को लेखक ने यथार्थपरक अभिव्यक्ति दी है। यहाँ अगर विश्वास है तो अंधविश्वास भी है। यह अंधविश्वास व्यक्ति को मूर्खता की ओर ले जाता है तथा मूर्खता ही उसके शोषण का कारण बनती है। उसकी इस मूर्खता का लाभ उठाने वाले इस समाज में शोषक भी हैं, सूदखोर भी हैं और अवसरवादी भी हैं। ये सभी मूल्य और मर्यादा के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उपन्यास के पात्रों जैसे करुत्तम्मा, परीकुट्टी, चेम्पन, चक्की, पलनी आदि सभी के माध्यम से प्रत्येक वर्ग के निर्धारित एवं निश्चित मूल्यों को देखा जा सकता है। उपन्यास के अध्ययन के उपरांत यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्य हो या सांस्कृतिक मान्यताएँ, आर्थिक क्रियाएँ हो या प्रणय भावनाएँ सभी मछुआरा समाज द्वारा संपादित मूल्यों का निर्वहन करती सी नजर आती है। यह मछुआरा समाज अपने निर्धारित मूल्यों और परंपराओं के बंधन में पूरी तरह जकड़ा सा प्रतीत होता है और जो इन नियमों का उल्लंघन करने का प्रयास करता है उन्हें समाज से अलग–थलग करने में भी देरी नहीं लगाता है। अतः मूल्य–बोध की दृष्टि से इस उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् समुद्री किनारे बसे समुदायों के जीवन और संस्कृति के विविध पहलुओं को जाना व समझा जा सकता है।

**संदर्भ सूची :–**


1. डॉ. देवेंद्र सिंह, मूल्यों के अवमूल्यन में सामाजिक दबाव की भूमिका (लेख), प्रो. सिद्धनाथ उपाध्याय (सं.), मूल्य विमर्श (पत्रिका), वाराणसीः मानवीय मूल्य अनुशीलन केंद्र, वर्ष–4, अंक–7, जनवरी 2009, पृ.47
2. www-shwetashindi-blogspot-com@p@blog&page&29-html dated 6. 1.2020

3. सच्चिदानंद वात्स्यायन, हिंदी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, दिल्लीःराधाकृष्ण प्रकाशन, 1967, पृ.11
4. डॉ. बैजनाथ सिंहल, नई कविताःमूल्य मीमांसा, हरियाणाः मंथन पब्लिकेशनस, 1984, पृ. 98–99
5. www-yugmanas-blogspot-com@2013@11@blog&post&13html-dated 3.1.2020
6. डॉ. सियाराम तिवारी(सं.), भारतीय साहित्य की पहचान, नई दिल्लीःवाणी प्रकाशन, 2015, पृ. 508
7. www-bharatdiscovery-org@india@ तकषी–शिवशंकर–पिल्लै dated 30-12-2019
8. डॉ. अनुशब्द(सं.), लोक और शास्त्रःजनजातीय साहित्य, नई दिल्लीःवाणी प्रकाशन, 2017, पृ. 34
9. तकषी शिवशंकर पिल्लै, मछुआरे, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1959, पृ. 74
10. शिवानंद उपाध्याय, चेम्मीनःरोमांटिकता और सामाजिक यथार्थ का द्वंद्व www-dignifiedindia-blogspot-com@2016@12@blog&post-html dated 30-12-2019
11. तकषी शिवशंकर पिल्लै, मछुआरे, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1959, पृ.5
12. वही, पृ. 6
13. वही, पृ.244
14. राजेंद्र यादव, शह और मात, नई दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008, पृ.186
15. तकषी शिवशंकर पिल्लै, मछुआरे, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1959, पृ.148
16. वही, पृ.18
17. वही, पृ.111
18. वही, पृ.135
19. वही, पृ.240
20. धर्मवीर भारती, प्रगतिवाद एक समीक्षा, प्रयागः साहित्य भवन लिमिटेड, 1949, पृ.85
21. तकषी शिवशंकर पिल्लै, मछुआरे, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1959, पृ.28
22. वही, पृ.36
23. वही, पृ.6–7
24. वही, पृ.29
25. वही, पृ.101
26. वही, पृ.104
27. वही, पृ. 113
28. वही, पृ. 66

29. डॉ. रामभजन सीताराम, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में लघु मानव की परिकल्पना, दिल्लीः स्टार पब्लिकेशन, 2001, पृ.29
30. वही, पृ.14
31. तकषी शिवशंकर पिल्लै, मछुआरे, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1959, पृ.36
32. वही, पृ.146

# गीतांजलि : अज्ञात के ज्ञात बोध का गान

गीता कुमारी*

'गीतांजलि' अपने समय की एक ऐसी रचना है, जिसने पूरे विश्व में अपने होने को दर्ज किया है। यही वह कृति है, जिसने नोबेल पुरस्कार के इतिहास में एक नया मोड़ ला दिया था, क्योंकि पहली बार यह पुरस्कार एशिया महाद्वीप के किसी गैर गोरे नागरिक को मिला था। पुरस्कार ने 'गीतांजलि' को देश और समय की सरहदों के पार ला खड़ा किया। पुरस्कार मिलने पर विभिन्न प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत किसी ने इसे धार्मिक गीतों का संग्रह कहा, तो किसी ने रहस्यवादी गीतों का। इन्हीं में कुछ का मानना है कि यह कवि के सहज हृद्योदगार की परिणति है। निःसंदेह 'गीतांजलि' भी 'असाध्य वीणा' के सुरों की तरह है; जो जैसा सुनना चाहता है; इसमें वैसे ही सुर उसे सुनाई देते हैं। महान लेखक एजरा पाउंड को इसकी कविताएँ सामान्य पाठकों के अनुकूल प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ये धर्मनिष्ठ हैं। उनकी राय है, "अगर इन कविताओं में कोई त्रुटि है–मैं नहीं समझता कि ऐसी कोई बात है–और अगर इनमें कोई विशेषता है तो यह 'सामान्य पाठक' के लिए बहुत अनुकूल नहीं है क्योंकि ये बहुत धर्मनिष्ठ हैं।"[1] इसकी इसी धर्मनिष्ठता में एजरा पाउंड एक खास तरह का भावबोध भी महसूस करते हैं। वे साथ ही दोहराते हैं, "इस तरह का भावबोध मेरे लिए एक तरह की संयत स्तब्धता या ठहराव जैसा प्रतीत होता है जो मशीनीकरण की तेज झनझनाहट के बीच महसूस किया जा सकता है"[2]

दूसरी ओर, एंड्रयूज ब्रैडले ने इन कविताओं को पढ़कर यह महसूस किया कि अंततः उनके बीच कोई महान कवि मौजूद है। खैर प्रसिद्ध कवि येट्स तो इन कविताओं से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने कुछ समय के लिए इसमें शामिल कविताओं को अपने साथ ही रखा और जहाँ मौका मिला वहीं पढ़ने बैठ जाते। रवीन्द्रनाथ टैगोर लोगों के दिलों में अपने प्रति इस गहरी आस्था का श्रेय अपने उस 'अज्ञात' को देते हुए 'गीतांजलि' के ही एक गीत में लिखते हैं–

"कितने ही अनजानों से तूने मेरा परिचय कराया है।

कितने ही पराये घरों में तूने मुझे निवास का स्थान दिया है।

बन्धु ! तू दूरस्थों को निकट और परकीयों को आत्मीय बनाता है।"[3]

बहरहाल, इन उक्त लेखकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विद्वान हैं, जिन्हें इनमें कोई मौलिकता नहीं दिखती। उनके लिए "उनकी प्रेम कविताएँ हमारे वैष्णव कवियों की दयनीय अनुकृतियाँ हैं और उनका दर्शन उपनिषदों का दर्शन है।"[4] दूसरी ओर, शिशिर कुमार घोष को 'गीतांजलि' की करुणा के पीछे कवि के आत्मविश्लेषण की गहरी पीड़ा नज़र आती है। वे लिखते हैं, "उनकी

* सहायक प्रोफेसर, हिन्दी, अरुणा आसफ़ अली स्नातकोतर राजकीय महाविद्यालय, कालका

कविताओं की सिर्फ़ सतह मसृण है। उनका अंतःस्थल त्रास और क्लेश का पारावार है और उनकी सरलता भ्रामक। 'गीतांजलि' की करुणा के पीछे भी आत्मविश्लेषण की गहरी पीड़ा है।"[5] अर्थात् ये कविताएँ कवि की आन्तरिक बेचैनी का दस्तावेज़ हैं।

'गीतांजलि' को मूल बांग्ला से हिंदी में अनूदित करने वाले सत्यकाम विद्यालंकार ने इसके गीतों में जीवन का अमर संदेश देखा है। वे लिखते हैं, "रवीन्द्र के गीत अन्य संसारी कवियों के गीतों की तरह हृदय की निर्बलताओं का रंगीन चित्रण नहीं है; उनमें विरह, विषाद, विक्षेपग्रस्त मन का क्रन्दन नहीं है; बल्कि उनमें अलौकिक आशा, आह्लाद और आलोक की अमित आभा है। वे गीत मनुष्य की आत्मा को आवेशों की लहरों में डूबने के लिए संसार के भंवरों में नहीं छोड़ देते, बल्कि उसे उन लहरों से खेलते हुए पार उतरने की शक्ति देते हैं। उनमें जीवन का अमर संदेश है, जीवन की प्रेरणा है, और ऐसी पूर्णता है जो हृदय के सब अभावों को भर देती है।"[6]

यदि कुछ समय के लिए हम इस पक्ष–विपक्ष को एक तरफ रख कर 'गीतांजलि' के गीतों की मूल संवेदना का स्त्रोत ढूँढ़ने का प्रयास करें, तो अवश्य ही हमें कवि के जीवन में झाँकना होगा। निःसंदेह 'गीतांजलि' का रचनाकाल कवि के जीवन का सबसे संघर्षपूर्ण समय था। ये उनके पारिवारिक जीवन की शिखर त्रासदी का समय था। इसी समयावधि के दौरान कवि ने अपने जीवन के सबसे करीबी लोगों को एक–एक करके खो दिया। 1884 ई. में हुई अपनी प्रिय भाभी कादम्बरी की अत्महत्या को रवीन्द्र अपने मानस से हटा भी न पाए थे कि 1902 ई. में अपनी जीवन संगीनी मृणालिनी देवी, 1903 में अपनी प्रिय बेटी रेणुका, 1905 में अपने पिता और अंत में 1907 में अपने सबसे छोटे और प्रतिभाशाली बेटे शमीन्द्र को खो देना उनके लिए कैसा रहा होगा, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। ऐसी मनःस्थिति में सामान्य आदमी संभवतः निराशा और विषाद के गहरे अंधकार में खो जाता, पर रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन के इन कठोरतम क्षणों का भार उस अज्ञात सत्ता पर डालकर स्वयं को उसके प्रति पूर्णतः समर्पित कर दिया। ऐसा वे इसलिए कर पाए कि बहुत पहले ही उन्होंने उस आध्यात्मिक प्रकाश को पा लिया था, जिसने उनकी आत्मा पर पड़े निराशा और अवसाद के ढेर को समतल बना दिया। आगे चलकर यही प्रकाश 'गीतांजलि' में ईश्वर के प्रति समर्पण, मनुष्य तथा प्रकृति में गहरी आस्था, प्रेम, एक खास तरह के मृत्युबोध और लघु में विराट की चेतना की तलाश के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

'गीतांजलि' के ज्यादातर गीत 1909–10 के दौरान ही लिखे गए हैं। हालाँकि, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह महज उनके दो वर्षों का ही अनुभव है; गहराई से सोचा जाए तो यह इससे पहले के पूरे जीवन के दोधारी संघर्ष का निकष है। दोधारी इस अर्थ में कि परिस्थितियों के बीच कवि के अभ्यांतर जगत का अन्वेषण–विश्लेषण तो चल ही रहा था; बाह्य जगत् से भी मुठभेड़ जारी थी। कवि इसे अपनी जीवन–वीणा के दो ऐसे विपरित स्वरों के रूप में चित्रित करते हैं, जिनके बीच कोई संवाद नहीं है। वे 'गीतांजलि' के ही एक गीत में लिखते हैं–

"मेरी जीवन–वीणा में दो स्वर हैं, एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल।

वह संवादी स्वरों में नहीं बजती।

दोनों तारों का स्वर विषम विसंवादी है।"[7]

ऐसा नहीं है कि वे ईश्वर के समक्ष समर्पण करके इस संघर्ष से पलायन करना चाहते हैं, बल्कि वे इसके लिए पूर्ण रूप से तैयार थे। वे चाहते थे कि ईश्वर इस जीवन रूपी वीणा को और भी निष्ठुर स्वरों में बजाए। वे उसके अंतिम राग के बजने की प्रतिक्षा कर रहे थे–

"मेरी जीवन–वीणा की तारें और भी आघात सहन कर सकती हैं!

बजा, उसे और भी ऊँचे स्वरों की झंकार में बजा!

जो स्वर तूने मेरे जीवन में बजाने शुरु किए हैं, उनका अन्तिम अवरोह

अभी बजाना शेष है!

...अपना अन्तिम राग निष्ठुर स्वरों में बजने दे!"[8]

कवि को इस भौतिक संसार में रहते हुए जिन आघातों का सामना करना पड़ा, उसका प्रभाव उनके कोमल हृदय पर अवश्य पड़ा, पर उन्होंने उस प्रभाव से स्वयं को कमजोर न पड़ने दिया। दैवीय दुखों के साथ–साथ लोगों की कटु आलोचनाओं ने भी उन्हें उस परम सत्ता के और ज्यादा नजदीक ला खड़ा किया। इन आघातों ने उन्हें इतना मजबूत बना दिया कि अब अपने प्रभु से उन्हें यह नहीं कहना पड़ता कि तू इन विपत्तियों से मेरी रक्षा कर। वे केवल उस शक्ति को अपने भीतर संचरित करना चाहते हैं, जिसके बल पर इन सब से पार पाया जा सके।

"संसार के अनिष्ट–अनर्थ और छल–कपट ही मेरे भाग में आये हैं,

तो भी मेरा अंतर इन प्रतारणाओं के प्रभाव से

क्षीण न हुआ।

'मुझे बचा ले' यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे दर पर नहीं आया, केवल

संकट–सागर में तैरते रहने की शक्ति मांगता हूं।"[9]

कवि को विश्वास था कि जीवन के ये संघर्ष ही हैं, जो उन्हें तपा कर खरा सोना बना सकते हैं। यही कारण है कि उन्होंने समस्त विषाद, शोक तथा निराशा के बीच भी इस विश्वास को नहीं खोया कि जीवन का पुष्प जलकर ही सुगंधित होगा–

"तूने अच्छा ही किया, निष्ठुर! तूने अच्छा ही किया।

मेरे हृदय में तूने इतनी प्रचण्ड अग्नि जला दी इसकी आँच में यदि

मेरा जीवन–पुष्प न जलता तो उसमें सुगन्ध कैसे भरती?"[10]

दरअसल, इन गीतों में जीवन के अन्तः एवं बाह्य संघर्ष के बीच उस 'अज्ञात' की खोज लगातार चलती रहती है। अपने गीतों में सर्वोच्च सत्ता से संवाद रचाते हुए उन्होंने आत्मा के अंतरंग क्षणों में ही नहीं, बल्कि बाह्य जगत् के हर क्रिया–व्यापार में उसके होने की कामना की है।

"जन्म–भर अपने गीतों से मैं अपने अन्तःकरण व जगत् के दिशा–दिशान्तर

में तेरी खोज करता रहा हूँ!"[11]

वे अपनी अनवरत यात्राओं के दौरान धरती के जिस भी कोने पर गए, उन्हें उसकी ही लीलाओं का साक्षात्कार हुआ–

"मैं देश–विदेश सर्वत्र भटका;

विश्व–भर में तेरी आँख–मिचौनी चल रही है।"[12]

'गीतांजलि' के लगभग हर गीत में 'वह' उपस्थित हैं। वह कवि को कभी अजनबी के रूप में, तो कभी प्रेयसी के रूप में लुभाता रहा है। उसकी उपस्थिति को महसूस करते हुए कवि लिखते हैं, "मुझे लगता था कि कोई है जो मुझ पर और मेरी दुनिया पर एक आशीषकवच की तरह छाया है, मेरी अनुभूतियाँ ही उसकी अभिव्यक्ति हैं। मेरी रचना दरअसल उसके और मेरे अनुभवों का साझा है।"[13] पर जब लोग कवि से उसके विषय में पूछते हैं, तो वे उन्हीं की तरह अनजान बन जाते हैं–

"मुझे गर्व था कि मैं तूझे जानता हूँ।

मेरी सभी रचनाओं में दुनिया वाले तेरी छवि देखते हैं।

यहाँ आकर वे पूछते हैं, 'यह कौन है?'

मैं आवाक् रह जाता हूँ। 'कौन जाने' यही कह देता हूँ।"[14]

ऐसी ही बात उन्होंने उस समय कही थी जब शांतिनिकेतन में आए किसी आगंतुक ने उनसे यह पूछा था कि जिस ईश्वर के बारे में आप इतनी बाते करते हैं उनमें से कितनी बातें आप प्रत्यक्ष जानकारी के तौर पर जान पाए हैं? इसका जवाब देते हुए उन्होंने कहा था, "मैं बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैंने ऐसे कई अवसरों पर उनकी उपस्थिति का अनुभव किया है जिस घड़ी मैं बड़ी तन्मयता से और अंतरंगता से किसी विशिष्ट मनोदशा के साथ नए गान की रचना में प्रवृत्त होता हूँ।"[15] दरअसल, यह वही विशिष्ट मनोदशा है, जिसमें वे उस अज्ञात के ज्ञात बोध को अपने गीतों में ढालते हैं। वे लिखते हैं–

"लोक–लोक में, काल–काल में, नये–नये रूपों में मैंने तुझ अरूप का

रूप अपनी आँखों में संचित किया है।"[16]

'गीतांजलि' के कई गीत कवि की उस उत्कट अभिलाषा को व्यक्त करते हैं, जहाँ वे उस परम सत्ता का साक्षात्कार करना चाहते हैं। हालाँकि, जब कभी वे ऐसा नहीं कर पाते तो निराशा में डूबने लगते हैं।

"प्रभो! यदि अब इस जीवन में तुझे न देख पाया
यह बात मन में काँटे की तरह चुभती रहेगी कि तुझे नहीं देख पाया।
यह बात मैं भूल न सकूँगा; इसकी वेदना सोते–जागते, दिन–रात बेचैन
करती रहेगी।"[17]

रवीन्द्र मानते हैं कि ईश्वर निर्धन, वैभवहीन तथा अधिकारों से वंचित लोगों के बीच रहते हैं। वही उन्हें सबसे प्रिय हैं। उन्हें लगता है कि वे उन गरीब लोगों की तरह निरहंकार नहीं हो पाए हैं और इसलिए ईश्वर से उनकी दूरी बनी हुई है–

"उनके सब वस्त्राभरण तू पहले ही हर लेता है!
उनके घरों में तू धन–धान्य के भण्डार नहीं भरता, उन्हें निर्धन
निरभिमान कर देता है।"[18]

इसीलिए वे बार–बार इन गीतों में अपने अहंकार को नष्ट करने की याचना करते हैं–

"अपने झूठे महत्त्व की रक्षा करते हुए मैं केवल अपनी लघुता दिखाता हूँ।
अपनी ही परिक्रमा करते–करते मैं प्रतिक्षण क्षीण–जर्जर होता जाता हूँ!
मेरे समस्त अहंकार को आंखों के पानी में डुबा दे!"[19]

'गीतांजलि' के इन गीतों का एक स्वर ऐसा भी है, जहाँ कवि अपने शरीर होने को ही अपने प्रियतम (ईश्वर) के मिलन में बाधक पाते हैं। उन्हें लगता है कि दुनियावी बंधनों के बीच उससे मिलन संभव नहीं। इसीलिए बार–बार वे इन गीतों में इन बँधनों से स्वयं को मुक्त करने की कामना करते हैं। इन गीतों में एक खास तरह का मृत्यु–बोध परिलक्षित होता है। जहाँ वे मृत्यु का आलिंगन करने के लिए आतुर हैं –

"बस, अब मैं अपनी जीर्ण नौका को घाट–घाट पर नहीं ले जाऊँगा।
लहरों पर खेलने–मचलने की बेला समाप्त हो गई।
अब अमरता के अथाह सागर में लीन होना है।"[20]

रवीन्द्र मृत्यु को भयावह न मानकर इसे प्रेम–दूत की तरह स्वीकार करते हैं। ऐसी मनःस्थिति में उन्हें मृत्यु ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग दिखाई देती है–

"प्रेम के दूत को कब भेजोगे, नाथ!

उनके आने पर मेरे सब द्वन्द्व मिट जाएँगे।"[21]

हालाँकि, कवि मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करने को प्रस्तुत हैं, किंतु वे जीवन के मोह से पूर्णतः विरक्त नहीं हैं। वे अपने एक गीत में इसे स्वीकारते हुए कहते हैं–

"जो आवरण मेरे शरीर पर पड़ा है, हृदय पर पड़ा है वह धूलि–धूसर
है और मृत्यु के शाप से ग्रस्त है; मेरा मन उसे धिक्कारता है,
तो भी उससे मुझे लगाव है।"[22]

'गीतांजलि' में मुखरित प्रेम का स्वर सांसारिक प्रेम से भिन्न है। कवि को ऐसा प्रेम स्वीकार नहीं, जो बँधनों में बाँधता हो; जो प्रतिकार की इच्छा रखता हो। उनके लिए ऐसा प्रेम काम्य है, जो संपूर्णता में उन्हें स्वीकार करे और जिसमें द्वैत के सारे भेद समाप्त हो जाएँ। उन्हें सांसारिक प्रेम की अपेक्षा ईश्वर से प्रेम अधिक श्रेयस्कर लगता है, पर वे यह भी जानते हैं कि उस तक पहुँचने का मार्ग यहीं से होकर जाता है। वे अपने गीतों में कहते भी हैं–

"नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों को संयम के सींखचों में बन्द नहीं करूँगा।
मेरे दर्शन, श्रवण और स्पर्श में तेरा आनन्द भरा होगा!

मेरे सब भ्रम आनन्द यज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और
मेरी सब वासनाएँ प्रेम–फल के रूप में परिपक्व होंगी!"[23]

रवीन्द्र की ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य में गहरी आस्था है। 'गीतांजलि' का प्रत्येक गीत उनकी इसी आस्था का प्रमाण है। वे मनुष्य के सामान्य क्रिया–व्यापारों में प्रकृति की लय का साक्षात्कार करते हैं। उन्हें लगता है कि मनुष्य जिन भावों को व्यक्त करता है, वैसे ही भाव प्रकृति में भी प्रस्फुटित होते हैं। कवि इस रहस्य को समझ गए थे–

"जब मैं तुझे हँसाने को तेरा चुम्बन करता हूँ,
मैं समझ जाता हूँ कि प्रभात में आकाश से फूटती आनन्द–धाराओं
का रहस्य क्या है।"[24]

बहरहाल, रवीन्द्र अपने इन गीतों में आत्मान्वेषण तक ही सिमट कर नहीं रह गए थे। दरअसल, वे अपने देश की तात्कालिक परिस्थितियों से टकराते हुए उन कारणों की भी तलाश कर रहे थे, जो भारत की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार थे। संभवतः उन्हें इसका एक कारण यहाँ अनेक वर्षों तक मानवीय गरिमा के साथ होता रहा खिलवाड़ दिखलाई पड़ा था। वे एक गीत में देश को संबोधित करते हुए लिखते हैं–

"हे मेरे अभागे देश! तूने जिस जन–समुदाय का जैसा अपमान किया
था, उसका वैसा ही बदला मिला है तुझे! जिनके मानवीय अधिकारों
की अवज्ञा की थी, जिन्हें अपने साथ बैठने का मान नहीं दिया था,
उनके अपमान का प्रतिकार मिल गया तुझे!
मनुष्य को स्पर्श के योग्य न समझ
तूने मनुष्य में स्थित देवता का अपमान किया है।"[25]

मसलन, वे अपने अभागे देश की इस स्थिति पर आँसू बहाकर ही चुप नहीं रह गए थे, बल्कि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि ये स्थितियाँ स्थाई नहीं हैं। इस अंधकार को छटना ही है। उनके गीतों में भारत के उज्ज्वल भविष्य की आश लगातार बनी रहती है। उनका मानना था कि जिस दिन भारतीय नागरीक जाति–धर्म–संप्रदाय–क्षेत्र आदि की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर एक–दूसरे को मनुष्य के रूप स्वीकार करेंगे, उसी दिन यहाँ एक नए प्रभात का उदय होगा। दरअसल, यही उनके मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु था।

"रात्रि के बाद प्रभात का उदय होगा!
विशाल विश्व में भारत के महामानव–तट पर जननी जागी है!
आओ, हे आर्यो, हे अनार्यो, आओ अंग्रेज़ो, ईसाइयो, आओ!
हे ब्राह्मण, आ! मन शुद्ध कर और सबका हाथ पकड़!
हे हरिजन, आ! और अपने समस्त अपमान–भार को हल्का कर ले!"[26]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'गीतांजलि' जीवन की उन गहन अनुभूतियों का संवेदनात्मक स्पंदन है, जिसे कवि ने स्वयं महसूस किया है। आत्मविश्लेषण की गहनता ने उनकी दृष्टि को इतना अधिक पारखी बना दिया कि वे मनुष्य के भीतर के ईश्वरत्व को बिना किसी बाधा

के पहचान पाए हैं। जीवन के उतार–चढ़ावों के बीच अपनी आस्था को दृढ़ करते हुए रवीन्द्रनाथ एक ऐसे दर्शन तक पहुँचे, जो न पुराणपंथियों की तरह रूढ़ था और न ही नवीनता के आग्राहियों की भाँति उग्र। हालाँकि, उनका यह दर्शन दोनों को ही स्वीकार नहीं। उनका यह दर्शन 'गीतांजलि' में उतना मुखर नहीं हो सका है, पर इसमें ईश्वर, प्रकृति तथा मनुष्य में उनकी असीम आस्था अवश्य देखी जा सकती है। इन गीतों का रचयिता हमें एक ऐसे संसार की सैर कराता है, जहाँ हम इस भूलोक से कटे बिना ही परलोक का आनंद पाने के भागी हो जाते हैं। अपने सहज भावबोध में भी ये गीत उस अज्ञात सत्ता की उपस्थिति को इतना पुख्ता कर देते हैं कि एक पल के लिए उसे नकारना बूते से बाहर हो जाता है। आध्यात्मिक रंग में रंगे ये गीत कवि के उस बोध की अभिव्यक्ति है, जो उन्होंने उस अज्ञात के अन्वेषण से पाया है।

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ये गीत आज भी हमें चेताते हैं कि दूसरों को बाँधने के लिए जिन जंजीरों का निर्माण हम इतनी मजबूती से कर रहे हैं; वक्त आने पर हमीं उनके बंधक होंगे।

"स्वयं मैंने ही इस जंजीर की कड़ियाँ बड़े यत्न
से घड़ी थीं! मैंने स्वप्न लिए थे कि अपनी अजेय शक्तियों से
मैं संसार की सब शक्तियों को इस जंजीर में जकड़ लूँगा और
स्वयं स्वाधीन रहकर संसार को अपना दास बना लूँगा।...लेकिन,
जब जंजीर की कड़ियाँ जुड़कर अखण्डित हो गईं तो मैंने देखा कि
मैं स्वयं ही इन अखण्ड लोह–कड़ियों का बन्दी बन गया था!'"[27]

**संदर्भ सूची –**


1. उद्धृत, कृपलानी, कृष्ण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक जीवनी(अनु.– रणजीत साहा), नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1998, पृष्ठ–134
2. वही, पृष्ठ–133
3. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, गीतांजलि (अनु.– सत्यकाम विद्यालंकार)(अष्ठम आवृत्ति), दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 2016, पृष्ठ–15
4. कृपलानी, कृष्ण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक जीवनी(अनु.– रणजीत साहा), नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1998, पृष्ठ–136
5. घोष, शिशिर कुमार, रवीन्द्रनाथ ठाकुर(अनु.– अनामिका)(पुनर्मुद्रण), नई दिल्ली : साहित्य अकादेमी, 2002, पृष्ठ– 29
6. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, गीतांजलि (अनु.– सत्यकाम विद्यालंकार)(अष्ठम आवृत्ति), दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 2016, दो शब्द से
7. वही, पृष्ठ–43
8. वही, पृष्ठ–49
9. वही, पृष्ठ–16
10. वही, पृष्ठ–50
11. वही, पृष्ठ–123

12. वही, पृष्ठ–25
13. उद्धृत, घोष, शिशिर कुमार, रवीन्द्रनाथ ठाकुर(अनु.– अनामिका)(पुनर्मुद्रण), नई दिल्ली : साहित्य अकादेमी, 2002
14. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, गीतांजलि (अनु.– सत्यकाम विद्यालंकार)(अष्ठम आवृत्ति), दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 2016, पृष्ठ–133
15. उद्धृत, कृपलानी, कृष्ण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक जीवनी(अनु.– रणजीत साहा), नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1998, पृष्ठ–145
16. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, गीतांजलि (अनु.– सत्यकाम विद्यालंकार)(अष्ठम आवृत्ति), दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 2016, पृष्ठ–23
17. वही, पृष्ठ–26
18. वही, पृष्ठ–53
19. वही, पृष्ठ–13
20. वही, पृष्ठ–42
21. वही, पृष्ठ–109
22. वही, पृष्ठ–85
23. वही, पृष्ठ–128
24. वही, पृष्ठ–121
25. वही, पृष्ठ– 134
26. वही, पृष्ठ–62
27. वही, पृष्ठ–70

# वर्तमान परिवेशगत विसंगतियों के संदर्भ में 'कौरव सभा'

डॉ. कंचन*

अपने परिवेश के यथार्थ को संवेदना के धरातल पर अनुभूत कर उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रयत्न करना रचनाकार के लिए अपरिहार्य है। परिवेश क्या है? तथा मानव समाज में परिवेश का क्या स्थान है? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य के चारों ओर विद्यमान संसार की वह परिधि या घेरा जो मानवीय चेतना को प्रभावित कर उसके कार्यों को व्यवस्थित एवं नियंत्रित करता है, वह उसका परिवेश है। निरंतर परिवर्तनशीलता परिवेश का स्वाभाविक गुण है और परिवर्तित होता परिवेश जन–जीवन में भी नित्य न्यूतनता का सृजन करता है। प्रतिपल बदलते परिवेश के कारण जीवन संबंधी निरंतर गतिशीलता के संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं– ''परिवेश मेरे लिए देशकाल का सतत् परिवर्तनशील संबंध है, बल्कि उस संबंध का भी वह रूप है, जो मेरी चेतना को छूता है। क्योंकि निस्संदेह ऐसा भी बहुत कुछ हो रहा होगा–हो रहा है–जो मेरी चेतना से परे है, उसे मैं अपना परिवेश कहने का दम कैसे भरूं जब वहाँ वह मेरी चेतना से छुएगा, चाहे उसके बढ़ते दवाब के कारण चाहे मेरी चेतना की ग्रहणशीलता के विकास के कारण, तब और वहाँ वह मेरा परिवेश हो जाएगा।''[1] अर्थात् जो कुछ भी हमारी चेतना को स्पर्श कर हमें प्रभावित करता है, वही हमारे परिवेश का अभिन्न अंग बन जाता है। साहित्य और परिवेश का अंतर्संबंध ही साहित्य–रचना का आधार स्तम्भ है और दोनों के परस्पर संबंध के अभाव में मानव जीवन और समाज की व्याख्या करना असंभव है। परिवेश से संबद्धता रचना की प्रमाणिकता एवं प्रासंगिकता भी अनिवार्य है। इस संदर्भ में हेतु भारद्वाज लिखते हैं – ''मेरे लिए परिवेश ऐसा अमूर्त प्रत्यय नहीं है जिसका साहित्य से कोई रिश्ता न हो और साहित्य कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसकी व्याख्या मानव–जीवन तथा परिवेश से अलग रखकर की जा सके। साहित्य रचनाकार के मन का ऐसा लड्डू भी नहीं है जिसे रचनाकार जब चाहे बना ले और जब चाहे खा ले एवं जिसका रचनाकार की परिस्थितियों से कोई लेना–देना न हो।''[2]

वर्तमान पंजाबी भाषा एवं साहित्य के चर्चित उपन्यासकार मित्तर सैन मीत का साहित्य–सृजन परिवेश एवं यथार्थ की अभिव्यक्ति के संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनके द्वारा भोगे हुए परिवेश की ही अभिव्यक्ति है। न्यायिक अधिकारी होने के कारण इनका अधिकांश साहित्य न्यायालय, भारतीय दण्ड–व्यवस्था एवं पुलिस–व्यवस्था के इर्द–गिर्द ही घूमता है। परन्तु यह भी सत्य है कि इन संस्थाओं के माध्यम से मीत ने वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था के चप्पे–चप्पे की खोज–फरोख़त की है। इनके उपन्यास–साहित्य का

* सहायक प्रोफेसर, सरकारी कॉलेज, रोपड़।

अध्ययन करने के पश्चात् यह कहना स्वाभाविक है कि ये उपन्यास वर्तमान भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप से रू–ब–रू करवाने एवं परिवर्तन के भाव से भरे हुए हैं।

साहित्य–जगत् उन रचनाओं से भरा पड़ा है जिनका आधार बिन्दु इतिहास की कोई अतुलनीय घटना या पौराणिक कथाएँ बनी हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि वे रचनाएँ समय के बंधन को चीरती हुई कालजयी रचना बनने का गौरव पा चुकी हैं। यानी कोई भी समय अथवा काल हो वे सदा–सदा के लिए प्रासंगिक हो गई हैं। राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत', 'यशोधरा', रामधारी सिंह दिनकर की 'रश्मिरथी' एवं 'कुरुक्षेत्र', जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी', धर्मवीर भारती का गीतिनाट्य 'अंधा–युग', नरेन्द्र कोहली एवं नरेश मेहता आदि अनेक ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचनाएँ इस परिधि का हिस्सा हैं। मित्तर सैन मीत द्वारा रचित 'कौरव सभा' उपन्यास भी ऐतिहासिक एवं पौराणिक घटना मानी जाने वाली महाभारतकालीन 'कौरव सभा' प्रकरण पर आधारित है। भले ही उस भीषण महा युद्ध के अनेक कारण थे परन्तु जिस घटना ने इस युद्ध को और अधिक क्रूर एवं अमानवीय बनाया वह 'द्रोपदी चीर हरण' या 'कौरव सभा' प्रकरण ही था।

प्रस्तुत उपन्यास 'कौरव सभा' की कथा महाभारत की भाँति गृह कलह से आरम्भ होती है और एक ही परिवार के दो पक्षों में भीषण नर–संहार होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार महाभारतकालीन अतिनिदंनीय घटना 'कौरव सभा' की तुलना वर्तमान से करना चाहता है और ऐसा करता हुआ वह इतिहास में घटित उस घटना को बहुत छोटा पाता है। वर्तमान कौरव सभाएँ (न्यायालय) उससे कहीं अधिक घिनौनी एवं पाशविक हैं। बड़े भाई मोहन के लड़के नीरज और पंकज अपने चाचा वेद का कानूनी हिस्सा देना नहीं चाहते। दोनों पक्षों में सुलह करवाने हेतु सगे–संबंधी भी भरपूर प्रयास करते हैं। पांडवों की भाँति वेद अपने हिस्से का बहुत बड़ा भाग पंकज़ को देने के लिए भी तैयार हो जाता है, परन्तु पंकज़ सब कुछ पर अपना दावा करता हुआ न्यायालय जाने की बात कहता है। जिस प्रकार कौरव और पांडव न्याय एवं नियमयुक्त युद्ध से अपने झगड़े का निवारण करना चाहते थे वैसे ही दोनों पक्षों में कानूनी लड़ाई आरम्भ हो जाती है। कौरव और पांडवों दोनों ने ही युद्ध के नियमों की उल्लंघना कर षड्यंत्र का सहारा लिया था। श्रीकृष्ण भी ऐसे षड्यंत्रों को अपनाने हेतु अर्जुन को बाध्य करते हैं और उन परिस्थितियों में धर्म की स्थापना हेतु इसे न्याययुक्त समझते हैं। कहने का तात्पर्य है कि महाभारत में जितनी भी मर्यादाएँ टूटीं उनमें से अनेक की परिस्थितियुक्त एक सार्थक मानवीय व्याख्या हो सकती है, परन्तु 'कौरव सभा' उपन्यास में पंकज–नीरज अपने चाचा के परिवार को डराने–धमकाने एवं कमज़ोर करने के लिए जिस षड्यंत्र का सहारा लेते हैं उसकी केवल घोर निंदा ही हो सकती है। पंकज–नीरज द्वारा भेजे गए जघन्य अपराधी रात के अंधेरे में वेद के परिवार पर टूट पड़ते हैं। वेद और उसकी धर्म पत्नी को गम्भीर चोटें आती हैं। उनके बेटे कमल का कत्ल हो जाता है और बेटी नेहा के साथ बलात्कार की घटना घट जाती है। वर्तमान समय में सम्पन्न परिवारों के आर्थिक झगड़े अनेक बार ऐसे ही घिनौने रूप ले लेते हैं, जिसकी लेखक ने सबसे अधिक अमानवीय समझे जाने वाली कौरव सभा से तुलना की है। महाभारतकाल में पांडवों

के साथ कृष्ण थे जो प्रत्येक क्षण न्याय के साथ खड़े हुए दिखाई देते हैं। 'कौरव सभा' उपन्यास में रामनाथ (श्रीकृष्ण) जो नेहा का मामा है, वेद परिवार को न्याय दिलवाने का हर संभव प्रयास करता है परन्तु वह स्वयं स्तर–दर–स्तर टूटता जाता है। ऐसा समय भी आता है जब उसे अपना जीवन भी खतरे में पड़ा हुआ दिखाई देता है। साधु सिंह न्यायाधीश भी नेहा के परिवार को न्याय दिलवाने के लिए कानून तक से बग़ावत कर देते हैं परन्तु फिर भी कौरव (पंकज–नीरज एवं अन्य अपराधी) बरी हो जाते हैं और पाड़व (वेद परिवार) ठगे से रह जाते हैं। रामनाथ (श्रीकृष्ण) उन्हें ऊपरी न्यायालय में अपील करने का झूठा आश्वासन देकर घर ले जाते हैं। इस विषय में प्रखर आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं–

''समकालीन दुनिया को देखते हुए 'कौरव सभा' अच्छी मालूम होती है। महाभारतकालीन कौरवों के भी कुछ नियम–काय़दे–कानून थे। लड़ाई के अपने दस्तूर थे। वहाँ धृतराष्ट्र थे तो भीष्म पितामह भी थे और गुरु द्रोणाचार्य भी। जो युद्ध हुआ उसका एक नाम धर्म–युद्ध भी था। लड़ने के लिए वह कौरवों की तरफ थे, लेकिन दिल पाण्डवों की तरफ था। अपनी समझ से मीत ने इस उपन्यास को 'कौरव सभा' नाम देकर उस काल से आज के युग की तुलना करके अनजाने में इस शासन व्यवस्था को गौरव दे दिया है।....आज की शासन व्यवस्था कहीं ज्यादा भ्रष्ट है–जिसमें न कोई काय़दा है, न नियम–कानून। आज न कोई भीष्म पितामह है और न ही कोई गुरु द्रोणाचार्य। हैं तो केवल कुशासन और अंधकार।''[3]

भले ही 'कौरव सभा' उपन्यास का केन्द्रीय विषय भारतीय कानून एवं न्याय–व्यवस्था है, परन्तु यह उपन्यास सम्पूर्ण समाज के ताने–बाने का भी गहराई से चित्रण एवं वर्णन करता है। लेखक का मानना है कि समाज में बढ़ती हृदयहीनता, संवेदनशून्यता एवं स्वार्थपरता ही कहीं–न–कहीं ऐसी घटनाओं को जन्म देती है एवं अन्याय के साथ खड़े होकर अन्याय को और अधिक घृणित स्वरूप प्रदान करती है। वेद परिवार पर हमला होने के पश्चात् जिस समाज ने उनके जख्मों पर मलहम लगाना था वही समाज उसकी पीड़ा को इतना बढ़ा देता है कि वह आत्महत्या हेतु रेलवे की पटरी की ओर बढ़ जाता है। इसके पीछे के कारणों में मुख्यतः लेखक समाज में बढ़ती हृदयहीनता एवं संवेदनशून्यता को ही प्रमुख मानता है। स्वार्थपूर्ति के वशीभूत समाज से परदुःखकातरता की भावना लुप्त होती जा रही है, पदार्थवादी महत्त्वाकांक्षा ने बहुत घिनौना रूप ले लिया है।

वर्तमान में बढ़ती आर्थिक सम्पन्नता की दौड़ ने ही समाज में मानवीय संवेदनशून्यता को विकसित किया है। व्यक्ति, व्यक्ति न रह कर मशीन हो गया है। आर्थिक भूख ने सभी मूल्यों को तोड़ दिया है। जिन कृत्यों को व्यक्ति अपरिचित व्यक्तियों के विरुद्ध करने में भी संकोच करता था उन सभी कृत्यों को वह अपनों के साथ अंजाम दे रहा है। वेद परिवार के साथ भी जो कुछ हुआ है उसके पीछे का मुख्य कारण आर्थिक समृद्धि ही है। परन्तु इतना कुछ होने पर भी पंकज और नीरज के हृदय में लेश–मात्र प्रायश्चित का भाव उत्पन्न नहीं होता। अपितु वे दोनों अपने बचाव के लिए क़ानूनी दाव–पेच का भरपूर दुरुपयोग करते हैं। साथ में जिन लोगों ने उनके भाई–बहन एवं चाचा–चाची पर इतने अमावनीय ढंग से प्रहार किया था, उनका भी बचाव करते हैं। न्यायालय

में भी पंकज और नीरज अपनी बहन नेहा के प्रति किसी प्रकार की मानवीय संवेदना एवं रिश्तों के प्रति किसी प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं दिखाते, जब कि उनके समक्ष ही वकील उनकी बहन के चरित्र पर प्रश्न उठाते हैं। पहले–पहल घटना की भयानकता के कारण हृदयविभोर होकर जिन सम्बन्धियों एवं दोस्त–मित्रों ने वेद परिवार का साथ दिया था, कमल के अन्तिम अरदास की रस्में समाप्त होते ही धीरे–धीरे सभी लोग पीड़ित पक्ष का साथ छोड़ जाते हैं। सामाजिक मूल्यहीनता की इन परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हुए मित्तर सैन मीत लिखते हैं–

''भोग का अर्थ था, जा चुके के साथ संबंधों की समाप्ति। कमल के दोस्त, नेहा की सहेलियाँ, उनके माता–पिता बिलकुल नाता तोड़ गये। पहले दोनों बच्चों के दोस्तों की कतारें अस्पताल में आती थीं। घंटों बैठ, वे बीमारों की सेवा करते थे। माता–पिता एवं रामनाथ का बाहरी दौड़–धूप में साथ देते थे। किसी की डॉक्टर तक पहुँच थी, किसी की एस. पी. तक । दर–दर की ठोकरे खाने की अवश्यकता न थी। वे घर बैठे फोन द्वारा सूचना मँगवा देते थे।''[4]

यहाँ तक रामनाथ के अपने भाई–बहन भी प्रस्तुत परिस्थितियों में पीछे हटने लगते हैं। एक–एक कर सभी अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त होने लगते हैं।

''एक दिन के लिए कहकर गयी सुषमा कई दिनों तक नहीं लौटी तो सीमा का मन भी पीछा छुड़ाने को करने लगा।....कुछ दिन आराम करने गयी सीमा भी सुषमा की भाँति भोग पर ही आयी। भोग पर भी किसी ने रहकर मदद की बात न चलायी। सब आम संबंधियों की भाँति सुबह आये, सायं को लौट गये।''[5]

इन परिस्थितियों में उपन्यासकार रामनाथ की दशा को प्रस्तुत करता हुआ लिखता है –

''रामनाथ को अपनी बहनों का ससुराल लौट जाने पर गिला न था। वे पढ़ी–लिखी होकर भी ससुराल की कठपुतलियाँ थीं। लेकिन जब सगे भाई मुँह पर माटी मलने लगे, उस समय रामनाथ की चीख़ निकल गयी। सभी एक–एक कर अपने घर लौटने लगे। कभी कोई गया वापिस नहीं आया। रामनाथ के सभी भाई–बहन सरकारी मुलाज़िम थे। उनको सरकारी छुट्टी स्थायी वेतन पर मिल सकती थी।''[6]

परन्तु रामनाथ के व्यवसाय में कठिनाइयाँ अधिक थीं। रामनाथ पर पड़ी विपत्ति पर उसके साथी वकील एवं न्यायाधीश हमदर्दी व्यक्त करते हैं। पहले–पहल उसको बहुत सारी सुविधाएँ देते हैं। परन्तु कमल के भोग के पश्चात् उनकी सोच में भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। रामनाथ को दी गई सभी सुविधाओं को विस्मृत कर, उसके प्रति दुर्व्यवहार किया जाता है।

''जज सायलों को धमकाने लगे। अगली पेशी पर वकील की हाज़िरी माँग रहे थे। कहरसिंह ने केस भुगताने व बहस करने की फ़ीस माँगनी शुरू कर दी। विपक्ष के वकील बिना भुगते ही अपने गवाहों का ख़र्च माँग रहे थे। और तो और रामनाथ का अपना मुंशी गद्दारी करने लगा था। वह रामनाथ के नये सायलों को केहरसिंह की जगह सुरिन्दरमोहन के पास ले जाने लगा था।''[7]

वर्तमान सामाजिक परिवेश में मानवीय संवेदनाओं की स्थितियाँ अत्यन्त दयनीय हैं। संवेदनशून्यता की स्थिति ने व्यक्ति में मूल्यहीनता की प्रवृत्ति को बढ़ा दिया है। वह पीड़ित व्यक्ति

की पीड़ा को महसूस करने की क्षमता से हीन होता जा रहा है। यही कारण है कि वह पीड़ित को और अधिक पीड़ा देने का स्रोत बनता जा रहा है। इस विषय में मित्तर सैन मीत बलात्कार की पीड़िता नेहा की मानसिक पीड़ा को प्रस्तुत करता है।

''बलात्कारियों ने नेहा के अंगों को आरे की तरह चीरा था। आज तक न आरा चलने से रुका था, न ही उनकी बू ने उसका पीछा छोड़ा था। यह उसकी पहली मौत थी।....जगह–जगह उसकी चर्चा हो रही थी। यह उसकी दूसरी मौत थी।....उम्रभर साथ निभाने का वादा करने वाले सागर को भी नेहा के भीतर से पूर्बिये की बू आ रही थी। गर्मजोशी से हाथ पकड़ने की बात तो एक ओर रही, वह एक बार भी अफसोस प्रकट करने नेहा के पास न आया। यह उसकी तीसरी मौत थी।''[8]

बलात्कार के पश्चात् जिस समय नेहा को सभी के साथ, विश्वास एवं प्रेरणा की आवश्यकता होती है, उसके बदले में जो उसे मिलता वह उसे जीवन से निराश एवं हताश कर देता है। जिसके फलस्वरूप वह आत्मदाह हेतु भी प्रयास करती है।

''तरस व नफ़रत भरी सैंकड़ों आँखों का सामना करने की उसकी हिम्मत नहीं थी।....वह इस जिल्लत–भरी जिंदगी से मौत को तरजीह देने लगी।....नेहा ने अपना मुँह रेलवे लाइन की ओर कर लिया।''[9]

सरकारी अस्पताल, पुलिस की तफ़्तीश, समाज के तानों यहाँ तक की धर्म के कार्यकर्ताओं एवं ठेकेदारों ने भी अपना पल्ला छुड़ा लिया। इन परिस्थितियों में नेहा को आत्महत्या के अलावा कोई विकल्प नहीं सूझता। परन्तु विड़म्बना यह है कि इतना कुछ होने के बावजूद वह अपनी इच्छा से मर भी न सकती। उसके मरने के पश्चात् उसके लाचार पिता और मृत्य समान माँ का क्या होगा? कौन उन्हें इन्साफ़ दिलवाएगा? कौन उनका सहारा बनेगा? ये विचार उसकी आत्मा को अंदर तक झंकझोर देते हैं। कमल की हत्या के पश्चात् लेखक महाभारत का उद्धरण देकर नेहा को सही रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करता है, जिसका प्रचार–प्रसार शायद हम ऐसे घिनौने कृत्यों के पश्चात् स्त्रियों के विषय में करते है कि उन्हें आत्महत्या जैसा पाप नहीं करना चाहिए अपितु न्याय हेतु संग्राम में कूद जाना चाहिए।

''धृतराष्ट अंधा था। यह उसकी मज़बूरी थी। लेकिन आँखें होते हुए भी आँखों पर पट्टी बांधने की गांधारी की क्या मज़बूरी थी।''[10]

परन्तु परिणाम फिर भी अन्याय की विजय से लांछित होता है। नेहा द्वारा किए गए त्याग एवं परिश्रम की कोई सार्थकता नहीं रहती। इतना करके भी वह मुलजिमों को सज़ा नहीं दिलवा पाती। हमारे समाज पर एक बड़े प्रश्नचिह्न के साथ लेखक उपन्यास का अंत करता है। वास्तव में यह स्थिति अत्यंत दयनीय है कि इतने परिश्रम के पश्चात् लेखक भी बदलाव का कोई सुझाव न दे पाया। समाज के किसी भी कोने से उसे आशा की कोई किरण नज़र नहीं आती। अपितु विवश हो कर वह मौन रह जाता है। वास्तव में यह यथार्थवादी 'दुःखद' उपन्यास है।

लेखक समाज में बढ़ रहे मानवीय मूल्य के प्रति संवेदनहीनता को भी घृणित कृत्यों को अंज़ाम देने वालों जितना ही घातक मानता है। यही कारण है कि नेहा एक नहीं तीन–तीन मौतें

मरती है। वेद भी समाज की इस हृदयविदारक प्रवृत्ति का शिकार होता है। वेद मायानगर के बड़े व्यापारियों में से एक माना जाता है। अनेक धनाढ्य व्यक्तियों के साथ उसकी व्यापारिक हिस्सेदारी है। परन्तु जब उसके भतीजों से उसके व्यापारिक रिश्तों में खटास उत्पन्न हो जाती है और दुर्घटना के पश्चात् उसकी सारी सम्पत्ति बीमारी एवं कानुनी विवाद में ख़र्च हो जाती है तो उसके सभी व्यापारिक साथी उसका साथ छोड़ देते हैं। उनमें वेद के परिवार एवं उसके भविष्य के प्रति ज़रा–सी भी संवेदना शेष नहीं रहती, अपितु दुःखद परिस्थितियों में भी वे लाभ–हानि के विषय में ही सोचते हैं।

''लोग वेद के भविष्य को पढ़ चुके थे। उसे बीमारी व मुक़दमें ने घेर लिया था।....कुछ ज़्यादा ही जल्दी चाहनेवाले अस्पताल के चक्कर लगाने लगे थे। वेद के होश में आते ही वे बहियाँ खोलकर बैठ गये। मानसिक तनाव, परेशानी, भविष्य के प्रति निराशा व शारीरिक कष्ट के कारण वेद जीने की आशा छोड़ बैठा था।....दुःखी–परेशान, उसको जैसे हिस्सेदार कहते वह वैसे ही मान लेता।....लोग घर आकर गालियाँ व धमकियाँ देने लगे। एक–दो तो धमकाने के लिए बदमाशों को भी साथ ले आये। कुछ शरीफ़ों ने अपने हक़ बदमाशों को बेच दिये।''[11]

वर्तमान भारतीय समाज मानवीय संवेदनाओं से हीन क्यों होता जा रहा है? इस विषय के कारणों की खोज में भी मित्तरसैन मीत का साहित्य मौन नहीं है अपितु स्पष्ट रूप से चित्रण करता है। इस विषय में लेखक वेद को प्रस्तुत करता हुआ लिखता है –

''फिर उसने अपने पुराने शहर के मित्रों पर नज़र दौड़ायी। मित्रों का नाम सोच–सोचकर उसका मन गुलाब की भाँति खिलने लगा।....ख़बर लेने भागे–भागे अस्पताल गये। अब घर आते थे। घण्टा–घण्टा बैठकर आयी मुसीबत का खिले माथे मुकाबला करने के लिए धैर्य बँधवाते थे। वेदों–ग्रंथों में से उदाहरण दे–देकर अटल सच्चाई का अहसास कराते थे। हर प्रकार की मदद का भरोसा देते थे। कभी कोई ख़ाली हाथ न आया था। कोई दूध ले आता तो कोई केले–सन्तरे।.... मायानगर वालों की भाँति वे न छुट्टी वाले दिन आते थे, न ही रात को। पूरा दिन ख़ाली लेकर आते थे। उनका स्नेह व हृदय को छूती बातें वेद के जख्मों को कई–कई दिन ठण्डक प्रदान करती रहतीं।''[12]

मित्तरसैन मीत द्वारा रचित कृतियों में वर्तमान धार्मिक परिवेश पर कटाक्ष ही नहीं मिलता अपितु साधारण मानवीय क्षमताओं को धार्मिक संगठनों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा एवं अर्थ–प्राप्ति हेतु प्रयोग करने की प्रक्रिया से भी परिचय होता है। वर्तमान समय में धार्मिक आडम्बरों का सामान्य जन द्वारा कड़ा विरोध किया जा रहा है। प्राचीन हिन्दू मंत्रोच्चारण, पूजा–पाठ, जन्म एवं मृत्यु आदि के संस्कारों से जन–सामान्य दूर होता जा रहा है। धार्मिक संस्थाओं का स्वरूप परिवर्तित हो रहा है। योग साधना, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान एवं आत्मतत्व का निरीक्षण धार्मिक संस्थाओं का केंद्र–बिन्दु बनता जा रहा है। मित्तर सैन मीत संकेत करते हैं कि पहले मंदिरों, मठों एवं धार्मिक आडम्बरों द्वारा जन–साधारण का शोषण होता था, वर्तमान में इन धार्मिक संस्थाओं ने योग आदि प्राचीन जीवन–पद्धति को आधार बना कर लोगों को लूटना आरम्भ कर दिया है। लोगों द्वारा दान में दिए धन से इन संस्थाओं ने अकूत सम्पत्ति का संचय कर लिया है। ये संस्थाएँ बाज़ार एवं

राजनीति का हिस्सा बन चुकी हैं। 'कौरव सभा' उपन्यास के माध्यम से मित्तर सैन मीत ने इस विषय को प्रस्तुत किया है। उपन्यास में 'सहयोग' नामक संस्था द्वारा योग एवं ध्यान आदि से लोगों में अलौकिक शक्तियों को जागृत करने का दावा किया जाता है। संस्था की प्रधान संचालिका माताजी योग एवं ध्यान द्वारा स्वयं को अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न मानती हैं एवं अन्य लोगों की अलौकिक शक्तियों को जागृत करने का दावा करती हैं। उपन्यास में वर्णित है कि –

''ध्यान–साधना शुरू करने से पहले और बाद में, प्रत्येक सहयोगी एक बंधन लिया करता था। इस क्रिया के दौरान वह सात बार माताजी से शरीर के सातों चक्रों की सुरक्षा की माँग करता था। माताजी इस प्रार्थना को स्वीकार करके सहयोगी को सुरक्षा प्रदान करती थीं। इस सुरक्षा को माताजी ने दुर्गा कवच का नाम दिया था। इस कवच की ओर दुनिया की कोई भी बुरी ताक़त नज़र नहीं डाल सकती थी।....सहयोगियों की एक और धारणा थी। माताजी सहयोगी के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देती थीं। प्रश्न मन में धारण करके कार्यों में व्यस्त हो जाओ। देर–सवेर माताजी स्वयं उस प्रश्न का उत्तर सुझा देती थीं।''[13]

मित्तरसैन मीत इस प्रकार की अलौकिक शक्ति को धार्मिक संस्थाओं की मनोवैज्ञानिक चतुराई का पर्याय मानते हैं। इस विषय में वे लिखते हैं–

''प्रश्नों का उत्तर कोई अलौकिक शक्ति नहीं देती। कोई व्यक्ति मन में पैदा हुई शंकाओं का समाधान एकाग्र मन होकर सोचने लगे तो दिमाग़ भीतर संचित ज्ञान भंडार के आधार पर उत्तर सुझा देता है। कोई इनको आत्मा की आवाज़ कह ले या माताजी की ओर से दिया आदेश, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।....प्रार्थना व्यक्ति को विश्वास दिलाती है कि वह सुरक्षित है। बस, वह निडर हो जाता है।....दुर्गा कवच डालकर चलने वाले व्यक्ति के लाभ–हानियाँ भी उतनी ही होती हैं जितनी साधारण व्यक्ति की।''[14]

मित्तरसैन मीत का लेखन इंगित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है कि वर्तमान परिवेशगत परिस्थितियाँ समाज को घोर पदार्थवाद की ओर धकेल रही हैं और बढ़ती भौतिकवादी एवं आर्थिक सम्पन्नता की दौड़ ने समाज में मानवीय संवेदनशून्यता को विकसित किया है। स्वार्थपूर्ति के वशीभूत समाज से परदुःखकातरता की भावना लुप्त होती जा रही है, पदार्थवादी महत्त्वाकांक्षा ने बहुत घिनौना रूप ले लिया है। इस प्रकार के समाज के न कोई मूल्य एवं सम्बन्ध होते हैं और न ही मानवीय संवेदनाएँ। इस प्रकार के समाज में व्यक्ति का प्रत्येक कार्य भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के वशीभूत ही होता है। मित्तर सैन मीत का साहित्य इन मानवविरोधी विकारों से ऊपर उठ कर मानवीय संवेदना के निकट जाने की प्रेरणा देता है, चेतना प्रदान करता है।

**संदर्भ ग्रंथ सूचीः–**


1. अज्ञेय 'आलवाल' नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण–1977, पृ.17
2. हेतु भारद्वाज 'परिवेश की चुनौतियां और साहित्य', जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1984, पृ.9
3. मीत, मित्तरसैनः कौरव सभा (अनुवादकः फूलचंद मानव), (नामवर सिंह, कौरव सभा : परदे के पीछे का धर्मयुद्ध), नयी दिल्लीः भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण दृ 2010 पृ. 1

4. मीत, मित्तरसैनः कौरव सभा (अनुवादकः फूलचंद मानव), नयी दिल्लीः भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण – 2010, पृ. 157
5. पूर्वोक्त, पृ. 158
6. पूर्वोक्त, पृ. 160
7. पूर्वोक्त, पृ. 162
8. पूर्वोक्त, पृ. 248
9. पूर्वोक्त, पृ. 89
10. पूर्वोक्त, पृ. 99
11. पूर्वोक्त, पृ. 261
12. पूर्वोक्त, पृ. 263
13. पूर्वोक्त,पृ. 118
14. पूर्वोक्त, पृ. 119

# किसान जागरण के सन्दर्भ में तमिल उपन्यास 'करिसल'

केवल कुमार*

वर्तमान समय विमर्श लेखन का युग है जिसने बहुत हद तक साहित्य के विषयों को सिमित कर दिया है। विमर्श लेखन ने सम्पूर्ण समाज की बात करने की बजाय समाज से विशेष वर्ग को उठा कर अपनी बात को सिद्ध किया है। विमर्श लेखन की इस दृष्टि ने स्त्री, दलित, बाल, वृद्ध और आदिवासी आदि विमर्शों को जन्म दिया जिससे एक वर्ग विशेष केन्द्रित साहित्य की रचना हुई। इसका परिणाम यह निकला कि सम्पूर्ण समाज और सामाजिक हितों को पीछे धकेल दिया गया। इस विमर्शवादी लेखन ने किसान या मजदूर को स्त्री, दलित के रूप में चित्रित कर उनकी मुक्ति की बात की जिससे सम्पूर्ण किसान वर्ग कहीं पीछे छूट गया। किन्तु समय के साथ–साथ वर्तमान समय में इस लेखन में एक नया विमर्श अपने पैर पसारता नज़र आ रहा है और वो है किसान विमर्श।

भारत को कृषि प्रधान देश कहा जाता है और इसकी इस उपाधि का मूल है भारत का मेहनती किसान किन्तु इस देश की विडंबना है कि आरम्भ में जो किसान समाज में सबसे समृद्ध स्थिति का धारक और सम्मान का पात्र होता था, उसकी दशा दयनीय होती जा रही है और हमारे देखते–देखते किसानी से मुक्ति खोजता किसान जीवन से हार मानता जा रहा है। वर्तमान समय में जब किसान की बात की जाती है तो आँखों के समक्ष एक छवि दुबले–पतले व्यक्ति की आती है जो अपनी संकटमय परिस्थितियों से लड़ता और आत्महत्या करता दिखाया जाता है। भारतीय साहित्य में भी इसी दयनीय दशा के किसान का जिक्र मिलता है, हिंदी के उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद के 'गोदान' का होरी, कहानीकार जयनंदन की कहानी 'छोटा किसान' का दादू महतो, भैरप्पा के उपन्यास गोधूलि का कलिंग गौड़ा और पोन्नीलन के उपन्यास 'करिसल' का गरीब किसान वर्ग इसी वर्ग के किसान हैं।

किसानों की दुर्दशा का चित्रण प्रत्येक भारतीय भाषा के साहित्य में हुआ है। सभी भाषाओं के साहित्यकारों ने किसानों को अपने वर्णन का विषय बनाया है। हिंदी उपन्यास साहित्य में उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने (कर्मभूमि और गोदान उपन्यास में) किसानों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। किसानों की दयनीय दशा का वर्णन हिंदी उपन्यास में सर्वप्रथम प्रेमचंद के कर्मभूमि उपन्यास में मिलता है। मुंशी प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास का वर्णन विषय बदला जिसके कारण चर्चा के केंद्र में पिछड़ा वर्ग, गरीब किसान और मजदूर वर्ग आ गया। गरीब किसान कृषि मोह में सदियों से जमीदारों के अन्याय का शिकार होता है किन्तु फिर भी उसका यह मिट्टी का मोह कम नहीं हुआ है और वह इसे प्रतिष्ठा की बात मानता है, प्रेमचंद ने अपने उपन्यास कर्मभूमि

* सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज, श्री आनंदपुर साहिब

में किसानों की इस प्रवृति को रेखांकित किया है, जो किसानों के जीवन के संघर्ष को भी प्रकट करती है " कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु है। गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है। किसान गृहस्थी करता है। मान–प्रतिष्ठा का मोह औरों की भांति उसे घेरे रहता है। वह गृहस्थ रहकर जीता और गृहस्थी में ही मरना भी चाहता है। उसका बाल–बाल क़र्ज़ में बंधा हो, लेकिन द्वार पर दो बैल बांधकर वह अपने को भाग्यशाली समझता है। उसे साल में 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुसकर रातें काटनी पड़े, कोई चिंता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है।"[1]

इसी प्रकार तमिल साहित्य में भी लेखकों ने साहित्य की विविध विधाओं में किसानों के शोषण और अन्याय को वर्णन का विषय बना लिया था, तमिल उपन्यास में किसान शोषण एवं किसानों की स्थिति के चित्रण के सन्दर्भ में मु. सी. रगुनादन लिखते हैं, "ग्रामीण जीवन को तमिल उपन्यास के इतिहास में केंद्र बिंदु बनाने का कार्य सी. वेंकटरमण ने 'मुरुगन और उज्वन' में किया। सन् 1927 में प्रकाशित इस उपन्यास में कृषकों के शोषण और अन्याय का चित्रण है। गांधीवाद और कृषकों के जीवन में इसके प्रभाव से संबंधित इनका दूसरा उपन्यास है, 'देशभक्त कंदन' जो 1932 में प्रकाशित हुआ।"[2]

करिसल उपन्यास में भी मुंशी प्रेमचंद के कर्मभूमि की तरह किसानों की मिट्टी के मोह की प्रवृत्ति का चित्रण किया गया है, "कुछ के पास जमीन भी थी। लेकिन जमीन की आमदनी से चार दिन का खाना भी नहीं मिल सकता था। फिर भी, अपनी जमीन ....अजीब खुशी को जन्म देती थी। वही खुशी जो गंजी टांट वाला घंटा भर कनपट्टी के बाल कटवाकर पाता है। अपनी जमीन... खुशी के लिए विचार ही काफी था।"[3]

किसानों के जीवन और उनकी समस्याओं का चित्रण करना साहित्य का वर्णन विषय बन गया था लेकिन किसान जागरण एवं अपने अधिकारों के लिए किये संघर्ष का चित्रण कुछ समय के बाद साहित्य में परिवृत होता है। भारतीय किसानों में राजनीतिक जागृति सन् 1918 के बाद आने लगी थी और तब से किसान संगठित होकर इन राजनीतिक संघर्षों में भाग लेने लगे थे। लेकिन कृषक आंदोलन भारत में पहले से ही हो रहे थे। 19वीं शती के सातवें दशक में महाराष्ट्र में किसान आन्दोलन ने महाजनों के खिलाफ विरोध का रूप ग्रहण किया था। किसान जागरण एवं संघर्ष को भारतीय साहित्य में 20वीं शती के दूसरे दशक में स्थान मिला। इस समय साहित्य में किसानों की समस्याओं के साथ, उनके जागरण और संघर्ष कर जीत प्राप्ति की कथाएँ समाने आने लगी। किसानों के अधिकारों के पक्ष में प्रेमचंद ने सर्वप्रथम 'प्रेमाश्रम' में पात्र प्रेमशंकर के माध्यम से अपने विचार प्रकट किये, "भूमि उसकी है जो उसे जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शांति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।"[4]

किसान शोषण और किसानों के जागरण के वर्णन विषय के उपन्यासों की कड़ी में तमिल के प्रख्यात उपन्यासकार पोन्नीलन का प्रसिद्ध उपन्यास 'करिसल' भी आता है। करिसल' पेरूमालपुरम नामक गाँव के एक जमींदार की कहानी है, जो विस्तृत भूमि का मालिक और सरपंच

है , जिसने अपने अधिकारों से गरीब मजदूरों और किसानों के शोषण की व्यवस्था को स्थायी बना दिया है। किसानों को मजदूरी कम देना और मजदूरी बढ़ाने की मांग उठते ही फसल के तैयार हो जाने पर किसानों और मजदूरों को काम न देना, पुलिस से झूठी शिकायत करके प्रताड़ित करवाना उसके शोषण के प्रतीक हैं। करिसल का नायक है न्याय की मांग करने वाले मजदूर संघ की स्थापना करने वाला स्कूल मास्टर कण्णपन्न, जिसके प्रयत्नों से सदियों से अपने अधिकारों से विमुख किसान वर्ग जाग उठता है और जागरण के बाद वह अपने अधिकारों की मांग करता है। यह किसान जागरण और सामाजिक संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करता सफल उपन्यास है। करिसल के किसान जागरण के सन्दर्भ में इस उपन्यास की प्रस्तावना में ना. वानमाभलई स्पष्ट करते हैं, "अनपढ़, अनभिज्ञ, शोषित, रीतिबद्ध यह वर्ग अँधेरे में जी रहा है। इसी वर्ग में बाहरी विश्व की गतिविधियों की झलक के साथ जीवन में मौलिक परिवर्तन की आशा और शोषण के विरुद्ध संग्राम की तैयारी दिखती है। एक होकर एक वर्ग सदियों से बंधी जंजीरों को तोड़ता, सूर्यप्रकाश में कदम बढ़ाने के लिए तैयार हो जाता है।"[5]

करिसल उपन्यास किसान वर्ग के जागरण की कथा है, जो किसानों की दयनीय दशा का चित्रण करते हुए, जमीदारों की शोषण नीति का चित्रण और शोषण के खिलाफ किसान जागरण का ज्वलंत उदाहरण है। पेरूमालपुरम के किसान जमीन के सीधे मालिक न होते हुए बल्कि उस पर मजदूरी करते हैं और जमीन का मालिकाना हक जजमान (जमींदार) के पास है। किसानों की दयनीय स्थिति का सबसे बड़ा कारण उनका भूमिहीन होना है। जिस किसी किसान के पास जमीन है तो वह बंज़र है जिसका वर्णन उपन्यास में किया गया है, "सूनी, सुखी जमीन। छायादार पेड़ का नामोनिशान नहीं। थूहर और कुछ झाड़ियां, बस। यही महसूस होता कि जमीन में जान है। बूढ़े किसान के सूखे सीने के सफेद बाल की याद दिलाती सूखी जमीन। फैली हुई, दुखी करती हुई।"[6] बंज़र भूमि पर कृषि नहीं हो सकती इसलिए विवशतापूर्वक जमींदार की जमीन पर परिश्रम करके अपना पेट पालना पड़ रहा है।

इतिहास गवाह है कि हमेशा से अमीर पूंजीपति वर्ग भोले–भाले किसानों, मजदूरों का शोषण करते आए हैं और इस सामन्ती और जमींदारी व्यवस्था ने गरीब वर्ग को अपने अधिकारों से वंचित रखा है। पूंजीपति चाहे वो किसी बड़े शहर के कारखाने का मालिक हो या किसी गाँव का सरपंच, सभी ने धन के लालच में शोषण की नीति को अपना लिया है। सामंती व्यवस्था एवं इसके कारण समाज पर पड़ते प्रभाव के संदर्भ में प्रेमचंद ने 'महाजनी सभ्यता' निबंध में लिखा है, "इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों का गरज महज पैसा होता है। किसी देश पर राज्य किया जाता है तो इसलिए कि महाजनों, पूंजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किये हुए है।"[7]

करिसल का किसान भी इसी प्रकार जमींदारी व्यवस्था का शिकार है और दो वक्त के खाने के लिए भी मोहताज़ है, किसानों को जजमान (सरपंच) द्वारा अपने लाभ के कारण बहुत कम

मजदूरी दी जाती है। पूरा दिन जी तोड़ मेहनत करने के बाद किसान का पेट खाली का खाली। किसानों द्वारा जब अपनी भूख के कारण अपनी मजदूरी बढ़ाने की प्रार्थना की जाती है तो जजमान इसे अपनी बेइज्जती समझते है और बिना कुछ दिए सभी को भगा देते हैं, जिसका वर्णन उपन्यास में मिलता है,

"एक महीने से बता रहा हूँ...बुरी हालत है मजदूरों की। या तो बिलकुल भूखे या आधा पेट भरा। महाराज! मजदूरों को धान दे दें। पेट तो भरे बेचारों का!"

"बाकी सब मजदूरों को पैसा ही देते हैं। यह नया हिसाब कहाँ से आया? मजदूरी धान देकर चुकाओ!"

"महाराज! आप तो नहीं समझने का नाटक कर रहे हैं। जब धान दस मुट्ठी रूपये के हिसाब से बिकता था तब बात दूसरी थी। अब तो घास भी महंगी है। मजदूरी से काम कैसा चलेगा मालिक? कुली को भी पेट भरना ही होता है।".....

"तो फिर... मजदूरी क्यों मांगने आए हो?"

"महाराज! दस दिन काम मिल जाता है, कभी–कभी पंद्रह दिन में। मगर महीने में तीस दिन हैं न? पेट कैसे भरें दस दिन की कमाई से? सब कुछ महंगा हो गया। मानो हाथी–घोड़ा खरीदा जा रहा हो। इसलिए मांग रहे हैं मजदूरी।" रंगण्णन बोला।.....

"अब बस करो ! मैं सोचकर बताऊंगा क्या करना है! इस समय अब तक जो देता आया हूँ बस, वही दूंगा !" सरपंच बोले"[8]

कठिन परिश्रम के बावजूद मजदूरी न बढ़ने से महंगाई के जमाने में किसानों की स्थिति दयनीय होती जा रही है। किसान चक्की के दो पाटों के बीच में फसे गेंहू की तरह अपना जीवन यापन कर रहा है। अगर अधिकारों को मांगने की हिम्मत ना दिखाए तो भूखा मरना पड़ेगा और यदि मांग उठा दे तो काम से निकल दिए जाने का डर। उपन्यास में भी जब जब किसानों द्वारा अपना अधिकार मांगने की बात की जाती है तो सरपंच द्वारा अपने खेतों से सभी का बहिष्कार कर दिया जाता है और पास के गाँव से किसानों को बुलाकर काम करवाया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग पूंजीपति द्वारा गरीब निर्धन के शोषण एवं उसकी परिस्थितियों, उनकी विवशता से लाभ प्राप्ति का ज्वलंत उदाहरण है, "जहाँ से पेट भरता है उसी ठिकाने को उजाड़कर नाश करने वाले तुमसे बात ही नहीं करनी चाहिए! कल से कोई छोकरा खेत में पांव नहीं रखेगा! चारा भी नहीं मिलेगा! कानून और न्याय को हांड़ी में भरकर, कूटकर, पानी मिलाकर खाया है न! जानवर हो सब–के–सब! निकलो सब–के–सब! जूठन चुगने वालो! गधे!" जजमान चिल्लाए"[9]

किसानों और गरीब मजदूरों के साथ अमीर पूंजीपतियों का व्यवहार हमेशा से ही अभद्र रहा है, गाली देना, मारना–पीटना आदि से भी आगे बढ़कर यह व्यवहार शारीरिक शोषण एवं प्रताड़ना तक भी पहुँच जाता है। यह सब यातनाओं को सहना किसान के जीवन का हिस्सा बन गयी थी। इसी प्रकार का व्यवहार सरपंच का किसानों के साथ था, गाली देना और मारना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं है। वीरय्यन सरपंच के घर में काम करता है और वह इसी घर में काम

करने वाली मुक्काई से शादी करना चाहता है और जब वह अपनी शादी की बात करता है तो जजमान भड़क जाते हैं, "तू उस दिन उसे चूम रहा था! ध्यान वहीं था, इसी कारण दीवार पर ध्यान नहीं दिया और दीवार टूटी। बैल की टांग टूटी। तू कुत्ता है, कुत्ता! बेरोक इधर–से–उधर झपटता कुत्ता! मेरे साथ चलने लायक नहीं है तू! उधार की पिता है पियक्कड़!"[10]

किसानों के साथ जमीदारों और सामंतों के इस अभद्र व्यवहार एवं उनकी दमनकारी शोषण की नीतियों ने किसान जागरण में बहुत भूमिका निभाई है। विज्ञान का नियम है जब आप किसी लचकीली वस्तु को जितना अधिक दबाने की कोशिश करते हो वह उतनी की अधिक शक्ति से ऊपर को उठती है, यह सिद्धांत किसान जागरण के सन्दर्भ में बिलकुल सटीक ज्ञात होता है। जमींदारों ने जितना अधिक किसानों को दबाने की कोशिश की उतना की किसान जागरण तेज़ी से बढ़ता गया। उपन्यास में भी इसी प्रकार जब तक किसान बिना किसी मांग के कम मजदूरी पर काम करते रहे तब तक ज़मीदार को कोई समस्या नहीं हुई और जैसे ही किसानों ने अपनी मजदूरी बढ़ाने की बात रखी तो बात मरने–मारने तक पहुँच गयी। कोडप्पन का यह कथन किसानों में अपनी मजदूरी को लेकर जागृति एवं उनके द्वारा किये जा रहे कठिन परिश्रम एवं ज़मींदार द्वारा उन पर किये जा रहे अत्याचारों को स्पष्ट करता है, "उसके पास ही कडप्पन खड़ा था। जजमान का खून खौल उठा। "यह भी नहीं देखा कि सुबह है या शाम। बस मेहनत की। आपको धूप, थकावट से बचाया। आपने जो कुछ हमारी ओर फेंक दिया, वही खाकर मेहनत की। आपकी गालियों, पिटाई, लातों की किसी से चर्चा नहीं की। आपका ध्यान कभी उस ओर गया ही नहीं। कृतज्ञता की तो बात ही दूर आपके प्रति हम आदरभाव रखें यह हो सकता है?"[11]

किसानों द्वारा की गयी जायज मांगों को न मानकर जजमान ने किसान आंदोलन को आग की तीली दिखा दी थी। अब समय वह नहीं रहा था कि आप किसानों के साथ जैसा चाहे व्यवहार कर लें और वह चुपचाप सहते रहेंगे। अब किसान अपने अधिकारों का ज्ञाता है और अपने साथ होने वाले प्रत्येक शोषण का डटकर विरोध करता है। किसान संघ के स्थापना के बाद संघ किसानों के पक्ष में आकर खड़ा हो गया जिससे किसानों की स्थिति में थोड़ा सुधार आया। उपन्यास में भी किसानों में जागृति का संचार करने का श्रेय जाता है स्कूल मास्टर कण्णप्पन को। मास्टर ने ही किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया और उन्हें किसान संघ की राह दिखाई। किसान परिवारों ने अपनी कितनी पीढ़ियाँ जिस मिट्टी पर खेती करते बिता दी थी, जब उन्हें जजमान द्वारा वहां से निकाला गया तब किसानों ने इसका विरोध किया और अधिकारों की मांग की जिसका स्पष्टीकरण यह कथन करता है, "यह जो मिट्टी है, इसे हमने मेहनत से जोतकर, बोकर हरा–भरा बनाया है। इस जमीन पर पांव नहीं रखना, कोई रौब से कहे और हम मान लें? जजमान की बात पर भक्तिभाव दिखाते रहें? जमीन होगी जजमान के नाम। लेकिन इसे पीढ़ी दर पीढ़ी हम ही जोतते आये हैं। बुआई हमने की है, निदाई हमने की है और भगा दिया जाए हमें यहाँ से?"[12]

किसानों द्वारा जैसे जैसे अपने अधिकारों की बात उठाई जाने लगी वैसी ही जजमान की दमनकारी नीतियाँ भी बढ़ती गयी। जैसे 'महाराष्ट्र में किसानों ने मालगुज़ारों, साहूकारों तथा अन्य शोषकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, जिसे सैनिक बल पर दबा दिया गया। इसके नेता वासुदेव बलवंतराय को आजीवन कारावास का दंड दिया।'[13] वैसे ही जजमान ने पुलिस के साथ मिलकर गरीब किसानों के साथ ऐसा ही किया, उन्होंने किसान नेताओं (जो किसान जागरण और संघ का प्रतिनिधित्व कर रहे थे) को जेल करवा दी और अपनी अहम की शांति के लिए किसानों के घरों को आग से जला दिया। प्रस्तुत कथन जजमान की निर्दयता को स्पष्ट करता जो उसने किसान आन्दोलन को दबाने और अपने वर्चस्व को बचाने के लिए की थी,

"पुलिस आ रही है?" जजमान ने पूछा।

"नहीं जजमान! मास्टर साहब दौड़ रहे हैं, घर के पूरब की ओर।"

जजमान ने मशाल जलाई।

"बाहर ताला लगाकर आग लगा दो।" चीनियप्पन के हाथ में मशाल धरते हुक्म दिया।...

"चुप्पुत्ताई को भी दो लोगों ने कसकर पकड़ रखा था। उसे भी अंदर धकेलकर कुरुप्पुसामी ने दरवाजा बंद कर दिया, बाहर ताला लगा दिया।

"हाय! बचाओ !आग,आग!" जो झाड़ियों में छिपकर पत्थर और कंकड़ फेंक रहे थे, चिल्लाते आए। जजमान के लोगों ने उनकी पिटाई की और उन्हें भगाया।.....

भयंकर शोर उठा। जलकर गिरती, फटती न जाने कितनी चीजों का शोर। न जाने कहाँ से बढ़ती हवा के झोंके शोर कर रहे थे। कितने ही घर एक दूसरे को यूँ जला रहे थे, मानो कोई खेल हो। जलते घरों से उठती ज्वाला का खेल जारी रहा। श्मशानघाट जैसी गंध उठकर फैल रही थी। कुत्ते भौंकने लगे।

जजमान अपने घर की छत पर खड़े जलते शहर को देख रहे थे।"[14]

हर विजय के पीछे बहुत कठिन संघर्ष होता है, उस संघर्ष की सफलता नये युग का आरम्भ करती है। उपन्यास भी किसानों के एक ऐसे ही संघर्ष की गाथा है, जिसमें उनको विजय प्राप्ति के पथ पर बहुत कुछ गवाना पड़ा किन्तु अंत में मेहनत रंग लाई और गाँव में से ज़मीदारी व्यवस्था का अंत हुआ और किसानों को अपने अधिकारों की प्राप्ति और नवजागरण के सूर्य का उदय हुआ। उपन्यास में वीरय्यन की यह कविता किसानों के संघर्ष की विजय को व्यक्त करती है,

"जान गंवाते, जान ले आते मिट्टी में

हमारी है जमीन यह, है हमारी

यह जमीन!

द्वार पर कुत्ते बने हम

नहीं मांगेगे भीख अब!

मिट्टी में गाड़ी है मेहनत,

अब उठे हैं, हम किसान,

जाग उठे हैं, अब मजदूर,

जान देकर बचाई जान,

यही किया था, अब तक काम।

आगे बढ़ने की कभी हम

सोच सकेंगे, भूलकर भी?

ऊपर उठने का सपना हम

देख सकेंगे, इस जीवन में?"[15]

'करिसल' उपन्यास में उपन्यासकार ने किसान जागरण के साथ, किसानों की समस्याओं, महिला किसानों के दुखांत एवं किसानों की आत्महत्या आदि विषयों को भी छुआ है। उपन्यासकार ने किसानों में फैले अंधविश्वासों, किसानों के त्यौहारों एवं उनकी रीति–रिवाजों को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी कहे जाने वाले किसान की दुर्दशा, उसकी समस्याओं, जमीदारों द्वारा किये जाने वाले शोषणों, शिक्षा एवं संघ के माध्यम से पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष एवं अपने अधिकारों को सफलतापूर्वक पाने की जीवंत कथा है 'करिसल'

**सन्दर्भ सूची :–**


1. प्रेमचंद, कर्मभूमि, नई दिल्ली, डायमंड पॉकेट बुक्स, पृष्ठ 243
2. मु. सी. रगुनादन, भूमिका, पोन्नीलन, करिसल, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2012, पृष्ठ 09
3. पोन्नीलन, करिसल, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2012, पृष्ठ 06
4. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, पटना, अनुपम प्रकाशन, संस्करण 2008, पृष्ठ 272
5. मु. सी. रगुनादन, भूमिका, पोन्नीलन, करिसल, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2012, पृष्ठ 16
6. पोन्नीलन, करिसल, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2012, पृष्ठ 01
7. प्रेमचंद, महाजनी सभ्यता, मिश्र, सत्यप्रकाश (संपादक), प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध, इलाहाबाद, ज्योति प्रकाशन, संस्करण 2003, पृष्ठ 132

**8.** पोन्नीलन, करिसल, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2012, पृष्ठ 28–30
**9.** वही, पृष्ठ 133
**10.** वही, पृष्ठ 115
**11.** वही, पृष्ठ 128
**12.** वही, पृष्ठ 141
**13.** शर्मा, डॉ. विनय मोहन, हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृष्ठ 18
**14.** वही, पृष्ठ 236–37
**15.** वही, पृष्ठ 156

# 'साउथाल' उपन्यास में चित्रित प्रवासी चेतना

अमित कुमार गुप्ता*

प्रवासी साहित्य के विभिन्न सरोकार पाठक–वर्ग के मन को उद्वेलित करते हैं क्योंकि प्रवासी साहित्यकारों ने अपने लेखन के द्वारा उनका परिचय एक ऐसे भिन्न समाज से करवाया है, जिसमें नस्लवाद, सांस्कृतिक द्वन्द्व, पहचान का संकट, पीढ़ीगत अंतर जैसी विभिन्न प्रवासजनित समस्याएँ परिलक्षित होती हैं। प्रवासी मनुष्य के लिए यह कदापि आसान नहीं होता कि वह अपनाए हुए देश की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन का अंग बना सके। ऐसी स्थिति में विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीय भी विभिन्न देशों के प्रवासी समुदायों की भान्ति कई स्तरों पर मानसिक संताप भोग रहे हैं। ऐसे वातावरण की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रवासी मनुष्य के भीतर एक चेतना जागृत होती है तथा वह इन सब परिस्थितियों का डटकर मुकाबला करता हुआ प्रतीत होता है। विदेशों में बसे सुशिक्षित व संवेदनशील व्यक्तियों ने इसी चेतना के अधीन अपने मनोभावों को साहित्य की विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त किया है। इन्हीं साहित्यिक कृतियों को आलोचना के क्षेत्र में 'प्रवासी साहित्य' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रवासी साहित्य को परिभाषित करते हुए ब्रिटेन की प्रवासी साहित्यकार कादंबरी मेहरा लिखती हैं, "विदेशों में बसे भारत से आये अनेकों प्रबुद्ध, संवेदनशील, जागरुक व्यक्तियों की मानसिक ऊर्जा कब तक ढकी मूंदी बैठी रहती? यहाँ के जीवन की नई विषमताओं से जूझते, जीते, जीतते–हारते, हम में से कईयों ने कलम को सखी बना लिया। जो कहना था– चाहे वह अपना वर्तमान या सुनहरी यादें या छाती पर बैठे दुःख या भावी दिवा स्वप्न,सब कलम के कन्धों पर डाल दिया।"[1]

'प्रवासी–चेतना' पद दो शब्दों के मेल से बना है– 'प्रवासी' एवं 'चेतना'। 'प्रवासी' शब्द को स्पष्ट करते हुए हिंदी की सुप्रसिद्ध प्रवासी कथाकार डॉ. उषा राजे सक्सेना लिखती हैं, "'प्रवासी' शब्द 'प्रवास' शब्द का विशेषण है। प्रवासी एक मनोविज्ञान है, एक अन्तर्दृष्टि है जिसे स्वतः 'फॉरम्यूलेट' होने में बरसों–बरस लगते हैं। एक तरह से प्रवासी वे कलमें हैं जो अपने पेड़ से कटी हुई टहनियाँ होने के बावजूद बरसों–बरस किसी और मिट्टी–खाद–पानी में अपनी जड़ें रोपती हुई अपना बहुत कुछ खोने और नया बहुत कुछ उस भूमि से लेने–पाने के साथ अपने अन्दर की गहराइयों में नई ऊर्जा सृजित करती हुई नई चेतना की कोपलें विकसित करती हैं।"[2] 'चेतना' शब्द मानवीय मन की जागृत अवस्था से जुड़ा हुआ है, जिसके पश्चात् मानव संसार के प्रति तार्किक दृष्टिकोण को अपनाते हुए चिन्तनशील हो जाता है। 'चेतना' शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुए प्रभात बृहत् हिंदी शब्दकोश में लिखा है "अपने सानिध्य से प्राणी को ज्ञाता/ द्रष्टा/ कर्ता बनाने वाली शक्ति /होश–हवास/ ज्ञान/ बोध/ बुद्धि/ विवेक/ समझ"3 ही चेतना है।

*शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

प्रवासी मनुष्य अजनबीपन की स्थिति से गुज़रते हुए अपने भीतर प्रवासी–चेतना का अनुभव करता है, जिसका सम्बन्ध प्रवास से जुड़ी विभिन्न परिस्थितियों से होता है। प्रवासी–चेतना के सम्बन्ध में प्रवासी पंजाबी साहित्य के प्रमुख आलोचक सुरिंदर पाल सिंह लिखते हैं, "बेगानी धरती पर रोज़गार की तलाश में मानसिक तौर पर अस्थायी रहते हुए स्थानीय स्थितियों तथा परिस्थितियों के साथ दो–चार होते हुए, पैदा हुई स्थिति को मानसिक संताप के रूप में भोग रहे लोगों की चेतना को ही प्रवासी–चेतना नाम दिया गया है।"[4] मूलतः प्रवासी–चेतना को ही प्रवासी साहित्य की आत्मा स्वीकार किया गया है, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति उसे भारत में रचे जा रहे साहित्य से विभिन्न अर्थों में अलग कर देती है।

प्रवासी हिंदी साहित्यकारों के अतिरिक्त संसार के विभिन्न देशों में बसे पंजाबी भाषा के प्रवासी साहित्यकार भी प्रवासी साहित्य के लेखन–कार्य में जुटे हुए हैं। हरजीत अटवाल ब्रिटेन में रचित प्रवासी पंजाबी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने साहित्य–लेखन की विभिन्न विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई है। 'साउथाल' हरजीत अटवाल कृत चतुर्थ उपन्यास है, जिसमें उपन्यासकार ने ब्रिटेन में जीवन–यापन कर रहे प्रवासी पंजाबी समुदाय के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का विस्तृत वर्णन किया है। आलोच्य उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए पंजाबी के सुविख्यात आलोचक सतिंदर सिंह नूर लिखते हैं, "पंजाबी आज़ादी के बाद विदेशों में बड़ी संख्या में बसे हैं और साउथाल एक ऐसी जगह है जहाँ बड़ी संख्या में बसे ही नहीं बल्कि साउथाल पर उनका कब्जा है जो लन्दन का एक हिस्सा है। यहाँ ब्रिटिश कानून हैं तथा ऐसे यह नगर उत्तर–औपनिवेशिक (च्वेज ब्सवदपंस) स्थिति का संसार भर में प्रतीक बना है और इस यथार्थ को बयान करना हरजीत अटवाल के उपन्यास का प्रमुख प्रकार्य है। इसलिए इस उपन्यास की परख इस बात को रखते हुए करनी जायज़ है कि उसने इस सम्पूर्ण स्थिति को कैसे समझा और बयान किया है।"[5] प्रवास के समस्त कारणों में आर्थिक पक्ष सदैव से ही प्रमुख कारण रहा है। वर्तमान दौर में भारत में बढ़ती बेरोज़गारी, जनसंख्या विस्फोट व विदेशों का चकाचौंध भरा जीवन–स्तर जैसे कारण प्रवास में महत्त्वपूर्ण कारक की भूमिका निभा रहे हैं। इस गरीबी से छुटकारा पाने व भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु मनुष्य अपना देश छोड़कर ग़ैरकानूनी रूप से प्रवास धारण के लिए भी तैयार हो जाता है। लेकिन प्रवास धारण करने के पश्चात् उसे प्रवास के वास्तविक यथार्थ का सामना करना पड़ता है। उपन्यास में प्रवास के लिए पंजाब की बुरी आर्थिक स्थिति को प्रमुख कारण मानते हुए पाला सिंह नामक पात्र जगमोहन से इस कटु यथार्थ को व्यक्त करते हुए कहता भी है, "जग्गे बात तो उसकी ठीक है, जब वहीं सब ठीक है तो बेगाने मुल्कों में भटकने की क्या ज़रूरत है। देख ले, ज़िन्दगी कितनी कठिन है यहाँ।"[6] उपन्यास में ग़ैरकानूनी ढंग से प्रवास धारण करने वाले नवयुवकों की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रांकन किया गया है, जिन्हें स्थानीय प्रवासी पंजाबी समुदाय द्वारा फ़ौजी कहकर संबोधित किया जाता है। ग़ैरकानूनी प्रवासियों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उपन्यासकार ने उनका वर्णन मीका, मिंदी, बलबीर, झम्मा, तारा तथा बिल्ला नामक पात्रों के माध्यम से किया है। उन्हें जोध सिंह के जर्जर व गंदे मकान में रहना पड़ता है, जहाँ टी. बी. जैसी बीमारियों के फैलने का ख़तरा सदैव बना रहता है। मीके तथा

जोध सिंह के मध्य झगड़ा हो जाने पर वह इस सन्दर्भ में ताना मारते हुए कहता भी है, "देख तो कितनी सीलन है यहाँ पे। ज़ख्म कैसे ठीक होगा। पूरा घर गंदगी से भरा पड़ा है। दीवारों पर से सीमेंट झड़ता रहता है। कारपेट पता नहीं कितने सालों की बिछाई हुई है। यह इन्सानों के रहने वाला है ही नहीं। अगर हैल्थ वाले यह घर देख लें तो तुझे जेल में बंद कर दें।"[7] ऐसे ग़ैरकानूनी प्रवासी टी. बी. जैसी जानलेवा बीमारियों का इलाज डॉक्टरों से करवाने में भी कतराते रहते हैं क्योंकि उन्हें डॉक्टर द्वारा पुलिस बुलाए जाने का भय बना रहता है। उपन्यास में देबी नामक पात्र की टांग का ज़ख्म उसकी सारी टांग में फैल जाता है। लेकिन उसके ग़ैरकानूनी प्रवासी होने के कारण वे उसे डॉक्टर के पास ले जाने में असमर्थ दिखाई देते हैं। यथा, "देबी की टांग के बारे में वे सभी बहुत चिंतित हैं, पर देबी के ग़ैरकानूनी तौर पर रहने के कारण डॉक्टर तक पहुँच नहीं कर सकते। देबी की टांग का छोटा–सा ज़ख्म इलाज के बग़ैर ही पूरी टांग में फैल जाता है। सबका मूड ख़राब हो रहा है।"[8] कई ग़ैरकानूनी नवयुवक तो स्थायी नागरिकता प्राप्त करने के लिए अधेड़ उम्र की औरतों के साथ विवाह करवाने से भी परहेज़ नहीं करते क्योंकि इन देशों में स्थायी होने के लिए विवाह एक प्रमुख साधन है। इसके अतिरिक्त वे स्थायी नागरिकता प्राप्त करने के लिए किसी का बसा–बसाया घर बर्बाद करने तक की सोच लेते हैं। उपन्यास में जोध सिंह झम्मे को इस सम्बन्ध में कहता भी है, "लोग तो बैरी बनेंगे ही। तुम फ़ौजी लोग यहाँ पक्का होने की खातिर जिसके घर जाते हो, उसकी ही औरत को फुसलाने की कोशिश करने लगते हो।"[9] इन सभी स्थितियों एवं मजबूरियों पर गहनता से विचार किया जाए तो इसका एक ही कारण है– आर्थिक विपन्नता। पंजाब में रहते हुए विभिन्न अभावों से ग्रसित जीवन जीने की अपेक्षा ये नवयुवक विदेशों में ग़ैरकानूनी प्रवास धारण करने और प्रवास की विषम परिस्थितियों का सामना करना श्रेयस्कर समझते हैं।

विवेच्य उपन्यास में प्रवासी भारतीयों के द्वारा भारतीयों के आर्थिक शोषण को भी प्रमुखता से चित्रित किया गया है। उपन्यास में प्रदुमण सिंह नामक पात्र पंजाब से साउथाल पहुँचता है तो उसे कई दिनों तक काम की तलाश में भटकना पड़ता है। अन्ततः उसे बेकरी पर तथा उसकी पत्नी ज्ञान कौर को एक समोसे बनाने वाली फैक्ट्री में काम मिल जाता है। इस तरह बेरोज़गारी का सामना करते हुए वे तथाकथित निम्न स्तरीय काम को स्वीकार कर लेते हैं, जिसमें वे भारतीय मालिकों के आर्थिक शोषण का शिकार भी बनते हैं। तत्पश्चात् वह ज्ञान कौर से अपने वेतन में वृद्धि करवाने के लिए कहता भी है, "बुढ़िया से कह कि ढाई पाउंड घंटे के दिया करे।"[10] परन्तु जब उपन्यास में वह स्वयं एक फैक्ट्री मालिक बन जाता है तो वह अपने अधीन काम करने वाली प्रवासी भारतीय स्त्रियों का आर्थिक व शारीरिक शोषण करता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने प्रदुमण सिंह के चरित्र के माध्यम से प्रवासी भारतीयों के दोहरे चरित्र को उभारा है, जिसके अन्तर्गत वे शोषित होने पर शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं तो वहीं आर्थिक रूप से संपन्न होते ही स्वयं शोषक बन जाते हैं। उपन्यास का एक अन्य पात्र मीका ग़ैरकानूनी रूप से इंग्लैंड आता है और अपने भाई के आर्थिक शोषण का शिकार हो जाता है। मीका अपनी आपबीती सुनाते हुए कहता भी है, "काम किया मैंने भाई के साथ। उसका रेस्टोरेंट चलाया, पर साले मेरे ने एक पैनी

नहीं दी। तनख्वाह मांगी तो कहता है कि तू काम करते–करते पी गया। मैंने कहा कि पूरी की पूरी तनख्वाह कैसे पी गया, अधिक से अधिक आदमी रोज़ की एक बोतल पी लेगा।"[11]

विदेशी धरती पर लगभग प्रत्येक प्रवासी मनुष्य को नस्लभेदी व्यवहार का सामना करना पड़ता है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रवासी पंजाबी साहित्य के प्रमुख आलोचक डॉ. स्वर्ण चन्दन लिखते हैं, "प्रवासी लोग जीवन–यापन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्ष–परोक्ष नस्लवाद का शिकार हैं। नस्लीय भेदभाव का प्रत्यक्ष रूप काम पर, गलियों–बाज़ारों में, पबों, सिनेमाघरों, नाचघरों, आस–पड़ोस में, स्कूलों, कॉलेजों, यूनिवर्सिटियों आदि में दैनिक तौर पर ही प्राप्त होता है, परन्तु संस्थागत नस्लवाद परोक्ष रूप में कानूनों, सरकारी संस्थानों, दफ्तरों और अन्य प्रत्येक प्रकार की संस्थाओं से प्राप्त होता है। गोरे मानव की शिष्टता–भरी मुस्कुराहट के नीचे छिपा नस्लवाद इतना परोक्ष है कि कई बार इसका पता केवल ठीक परिस्थितियों में ही लगता है।"[12] प्रवासियों की पहली पीढ़ी ने नस्लवाद के इस दंश को झेला है। लेकिन उन्होंने अपनी नौकरी जाने के डर के कारण इसके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई। इसके विपरीत दूसरी पीढ़ी इसके प्रति जागरुक थी। अतः उसने नस्लवादी व्यवहार के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उपन्यासकार ने उपन्यास में टोबी मिल्टन नामक अंग्रेज द्वारा कार पार्किंग को लेकर प्रदुमण के साथ झगड़ा करना व उसे नस्लवादी गालियाँ देना, अंग्रेज बच्चों द्वारा एशियन बच्चों के साथ नस्लीय भेदभाव करते हुए उन्हें नस्लवादी गालियाँ देना, एक प्रवासी बुजुर्ग का अंग्रेजों द्वारा कत्ल कर देना, कार चलाते समय अंग्रेजों द्वारा 'गिव वे' पर रास्ता न देना तथा नस्लवादी इशारे करने जैसी विभिन्न नस्लवादी घटनाओं को प्रस्तुत किया है। उपन्यास में ग्रेवाल नामक पात्र नस्लवाद से डरने की अपेक्षा उसका सामना करने को ही इस समस्या का समाधान स्वीकार करते हुए कहता है, "यह नस्लवाद कोई हौवा नहीं है कि इसका सामना न किया जा सके। हमें चाहिए कि हर नस्लवादी की आँख में आँख डालकर बात करें। नस्लवादी से डरे नहीं। इसका यही प्रमुख हल है।"[13]

पश्चिमी समाज में स्त्रियों को पुरुषों की भान्ति समान अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन भारतीय पुरुषों की पितृसत्तात्मक मानसिकता के कारण वे अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर पातीं। पश्चिमी समाज में भारतीय पुरुष स्वयं तो उस समाज द्वारा प्रदान किए गए वातावरण को उन्मुक्त होकर भोगता है और अपने पुत्रों की ओर से भी चिंतारहित दिखाई देता है। लेकिन अपनी बेटियों की स्वतंत्रता को बर्दाश्त नहीं करता क्योंकि वे अभी भी मानसिक तौर पर पूर्वी जीवन–मूल्यों से जुड़े हुए हैं। उपन्यास में इसी प्रकार की मानसिकता से ग्रसित पाला सिंह नामक पात्र है, जिसका पुत्र उसे छोड़कर एक लड़की के साथ रहना आरम्भ कर देता है। इस सम्बन्ध में स्थानीय पंजाबी समुदाय क्या कहेगा? इस प्रश्न का उत्तर खोजते हुए वह मन ही मन सोचता है कि, "दुम्मन जैसा यदि कोई उसके लड़के के बारे में बात करेगा भी तो कह देगा कि लड़का ही है, कौन–सी लड़की है। लड़के तो पचास दीवारें फांदा करते हैं।"[14] उपन्यास में साधू सिंह नामक पात्र इसी पितृसत्तात्मक मानसिकता के अधीन अपनी पुत्री सुक्खी का कत्ल कर देता है। उपन्यास के एक अन्य पात्र प्रदुमण सिंह को जब अपनी छोटी बेटी पवन के हब्शी लड़के के साथ संबंधो का पता चलता है तो वह भी साधू सिंह द्वारा अपनाए मार्ग को ही उचित समझता है। यथा, "एक तो उसे

यह दिखाई देता है कि उसका बाप इतना शरीफ नहीं जितना दिखाई देता है। मेरे पास चाहे जितने पैसे आ गए हों, पर साधू सिंह वाला राह अभी भी मुझे सही प्रतीत होता है।"[15] उपन्यास में खोखले संबंधों की वास्तविकता को उजागर किया गया है, जिससे मानवीय संबंधो की सार्थकता पर ही प्रश्न चिन्ह लगता दिखाई देता है। उपन्यास में कुलबीरो के माता–पिता स्वार्थवश अपनी शिक्षित व अविवाहित पुत्री का विवाह उसके सगे जीजा से करवाकर इंग्लैंड भेज देते हैं। इंग्लैंड पहुँचने पर उसका जीजा रोशू उसका शारीरिक व मानसिक शोषण करते हुए रुपयों की माँग करता रहता है। रुपयों की माँग पूरी न होने पर वह कुलबीरो का कत्ल कर देता है और स्वयं भी फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेता है। इस तरह कुलबीरो के माता–पिता उन सभी अभिभावकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपनी लड़कियों को माध्यम बनाकर विदेशों में बसने का स्वप्न देखते हैं।

ब्रिटेन में बसने वाला प्रवासी समाज वर्तमान में अंग्रेजी समाज का एक अभिन्न अंग बन चुका है, जो सामाजिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रिय है। फलतः ब्रिटेन के विभिन्न राजनीतिक दल एशियन समुदाय के लोगों को अपने दल के साथ जोड़ने के लिए तत्पर रहते हैं क्योंकि किसी भी राजनीतिक दल की हार–जीत में इनकी विशेष भूमिका रहती है। साउथाल शहर ईलिंग काउन्सिल में पड़ता है और इस काउन्सिल में एशियन समुदाय के दबदबे के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा एशियन समुदायों से ही अपना उम्मीदवार घोषित किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्थानीय प्रवासी भारतीय भी राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। उपन्यास में श्याम भारद्वाज नामक पात्र स्थानीय राजनीति में पिछले दरवाज़े से प्रवेश करने का प्रयास करता है जो राजनीतिक क्षेत्र में स्थापित होने के लिए स्थानीय कानूनों के विरुद्ध जाकर तरह–तरह के हथकंडे इस्तेमाल करने से भी परहेज़ नहीं करता। वह अपने मित्रों के साथ मिलकर प्रवासी भारतीयों को आव्रजन (प्रवास) सम्बन्धी क़ानूनों का निःशुल्क परामर्श देने वाली समिति का गठन करता है। इस समिति को वह स्थानीय राजनीति में घुसने का माध्यम बनाता है, जिससे उसकी राजनीतिक अवसरवादिता खुलकर अभिव्यक्त होती है। वह समिति के गठन से पूर्व ही अपने राजनीतिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अपने मित्रों से कहता भी है, "हम एक लीगल ऐड कमेटी बनाएँ और इमीग्रेशन के केस मुफ्त में लड़ें, उन्हें स्थायी करवाएँ तो हमारी वोट पक्की।"[16] यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रवासी भारतीय विदेशी धरा पर पहुँचकर उस देश की तुलना अपने देश के साथ विभिन्न संदर्भों में करता है, जिसमें दोनों देशों की राजनीति में व्याप्त अंतर उसे भीतर तक कचोटता है। उपन्यास में सोहनपाल नामक पात्र सुरिंदर सिंह के समक्ष इस अंतर को व्यक्त करते हुए कहता है, "आप इस मुल्क की सियासत को इंडिया की सियासत से नहीं मिला सकते। वहाँ तो पार्लियामेंट के कितने ही मेंबरों पर रेप, मर्डर, डकैती जैसे गंभीर मुकदमे चल रहे होते हैं और ये लोग देश का क़ानून बना रहे होते हैं। वहाँ की जनता को भी करप्ट लीडरों की आदत पड़ चुकी है। हमें इस मुल्क में इसके स्टैंडर्ड को मेनटेन करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।"[17]

प्रवासी भारतीय विदेशों में जाकर निःसन्देह आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से तो स्थापित हो चुके हैं, परन्तु सामाजिक तौर पर अभी भी पूर्वी जीवन–मूल्यों के साथ जुड़े हुए हैं क्योंकि उन्होंने अपने जीवन का अधिकतर हिस्सा भारत में व्यतीत किया है। वर्तमान दौर में प्रवासी भारतीयों की तीसरी पीढ़ी विदेशों में निवास कर रही है। यह पीढ़ी पश्चिमी संस्कृति में जन्मी व पली–पढ़ी होने के कारण पश्चिमी संस्कृति को ही अपनी संस्कृति समझती है तथा अपने अभिभावकों की मानसिकता तथा जीवन–मूल्यों का जमकर विरोध करती है। पीढ़ीगत अंतर को प्रवासी समुदाय की प्रमुख समस्या स्वीकार करते हुए बलविंदर कौर धीर लिखती हैं, "प्रवासियों के मानसिक संताप का एक बड़ा कारण नई और पुरानी पीढ़ी का अंतर है। नई पीढ़ी के बच्चे बर्तानिया के सांस्कृतिक माहौल में पलते हैं, जिस कारण उनकी मानसिकता बर्तानवी मानसिकता जैसी बन चुकी है। वे माता–पिता के बंधनों से आज़ादी चाहते हैं और प्रत्येक काम अपनी मनमर्जी का करना चाहते हैं।"[18] विवेच्य उपन्यास में प्रदुमण सिंह तथा पाला सिंह ऐसे पात्र हैं, जिनके अपनी संतान के साथ वैचारिक मतभेद खुलकर सामने आते हैं। परिणामतः उनमें पीढ़ीगत अंतर तथा सांस्कृतिक द्वन्द्व की स्थिति उभरकर आती है। प्रदुमण सिंह तथा उसकी पत्नी अपने बड़े पुत्र राजविंदर का विवाह भारतीय लड़की से करना चाहते हैं तो वह इस विवाह से साफ़ इंकार कर देता है। जब उसके माता–पिता उस पर अत्यधिक दबाव डालते हैं तो वह अपनी माँ को धमकी देते हुए कहता है, "लुक मॉम, पहले डैड भी ऐसी रबिश बातें करता था, मैं विवाह लाइक नहीं करता। मुझ पर प्रेशर नहीं डालना, नहीं तो मैं घर से चला जाऊँगा। किसी फ्रेंड के साथ रहने लग पड़ूँगा।"[19] इसके अतिरिक्त उनके छोटे पुत्र बलराम की शादी असफल हो जाती है तथा उनकी बड़ी बेटी सतिंदर असंतुष्ट वैवाहिक जीवन जीती है और सबसे छोटी बेटी पवन भी घर छोड़कर एक हब्शी लड़के के साथ भाग जाती है। इस तरह प्रदुमण सिंह का परिवार आर्थिक रूप से संपन्न तो हो जाता है, परन्तु सामाजिक एवं पारिवारिक रूप से विनाश का शिकार हो जाता है। इसी प्रकार पाला सिंह अपने दोनों पुत्रों मोहनदेव तथा अमरदेव का विवाह भारतीय रीति–रिवाज़ों के अनुसार भारतीय लड़कियों के साथ करना चाहता है। लेकिन वे दोनों पश्चिमी विचारधारा के धारणकर्ता होने के कारण स्वयं को ब्रिटिश समझते हुए ब्रिटेन की लड़कियों के साथ विवाह करवाना ही श्रेयस्कर समझते हैं। पाला सिंह मोहनदेव को अपनी जाति–बिरादरी में विवाह करवाने के लिए समझाता है तो मोहनदेव इस बात का उत्तर देते हुए कहता है, "लुक डैड मैंने कितनी बार बताया कि मैं इंडियन नहीं हूँ, मैं ब्रिटिश हूँ और मुझे ज़बरदस्ती इंडियन न बना। यह मेरी लाइफ है, मुझे अपने तरीके से जीने दे।"[20] तत्पश्चात् जब पाला सिंह अमरदेव के साथ उसके विवाह की बात करता है तो वह भी विवाह करवाने से मना कर देता है और नौकरी मिलने के पश्चात् किसी अंग्रेज लड़की के साथ अलग रहना आरम्भ कर देता है। इसके पश्चात् पाला सिंह की बेटी मनिंदर भी किसी पाकिस्तानी मुस्लिम लड़के के साथ घर छोड़कर चली जाती है। इस प्रकार पुरानी पीढ़ी अकेलेपन का शिकार दिखाई देती है जो न तो भारत लौट सकती है और न ही प्रवास में सुखमय जीवन व्यतीत कर सकती है। जब पाला सिंह भारत के प्रति अत्यधिक मोह दिखाता है तो प्रदुमण सिंह उसे यथार्थ से परिचित करवाते हुए कहता है, "इंडिया, इंडिया भी तू

यूँ ही गाए जाता है। वहाँ इंडिया में अपना है ही कौन? दो खेत जो ज़मीन के हैं, रिश्तेदार दबा लेंगे या यूँ कहो, दबा ही लिए हैं। गाँव में हमारे हमउम्र मर–खप चुके हैं या फिर अंदर घुसे बैठे हैं। नई जनरेशन हमें पहचानती नहीं, अब वहाँ गाँव में अपना है ही कौन?"[21]

एक व्यक्ति के द्वारा अपनी धरती से विदेशी धरती पर बस जाने के पश्चात् उसकी अगली पीढ़ी को पहचान के संकट का सामना करना पड़ता है। प्रवासी मनुष्यों के इस संकट को व्यक्त करते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं, "हर समय उन्हें यही आदिम प्रश्न कोंचता है कि वे कौन हैं? उनकी पहचान क्या है?"22 उपन्यासकार ने नई पीढ़ी की इस समस्या को नवकिरन व नवजीवन नामक बच्चों के माध्यम से व्यक्त किया किया है। जिन्हें अपने पिता द्वारा उनके नाम के साथ सिंह शब्द न लगाना अखरता है। नवकिरन एक दिन जिज्ञासावश अपने पिता जगमोहन से पूछता है, "डैड, आपने हमारे नाम में से सिंह क्यों निकाल दिया।"[23] लेकिन जब जगमोहन नाम के साथ सिंह शब्द को लगाने से कोई फ़र्क न पड़ने की बात कहता है तो नवकिरन कहता है– "पड़ता क्यों नहीं। पीपॅल को पता नहीं चलता कि मैं सिंह हूँ। वो समझते हैं कि मैं हिंदू या मुसलमान हूँ।"[24] शिक्षण संस्थानों में विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित विद्यार्थी अपने मूल की पहचान को लेकर चिंतित रहते हैं। ऐसी स्थिति में पुरानी पीढ़ी के लोगों को इन बच्चों के दूसरे धर्मों, स्थानीय भाषाओं एवं संस्कृतियों की ओर झुक जाने का डर सदैव बना रहता है। इसीलिए वे नई पीढ़ी को अपने धर्म, भाषा व संस्कृति से जोड़ने के लिए धार्मिक स्थानों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उपन्यास में ग्रेवाल नामक पात्र इस कार्य में गुरुद्वारों की भूमिका को स्वीकार करते हुए कहता है, "इस समय इस देश में हमारे पंजाबी लोगों को बहुत बड़ी ज़रूरत अपने कल्चर और अपनी बोली को संभालने की है। गुरुद्वारों पर हमें प्रेशर बनाना चाहिए कि पंजाबी पढ़ाने की ओर ध्यान दें।"[25]

समग्रतः हरजीत अटवाल कृत साउथाल उपन्यास प्रवासी–चेतना का दर्पण है, जिसमें प्रवासी भारतीयों के जीवन–संघर्ष से जुड़े विविध पक्ष देखे जा सकते हैं। उपन्यासकार ने उपन्यास में प्रवासी समाज से जुड़ी अनेकों समस्याओं को केंद्र में रखा है, जिसकी चोट प्रवासी भारतीय शारीरिक ही नहीं अपितु मन–मस्तिष्क पर भी अनुभव करते हैं। प्रवासी भारतीयों के साथ कभी नस्लभेदी व्यवहार किया जाता है तो कभी भाषिक स्तर पर उपहास का पात्र बनाया जाता है। परिणामतः प्रवासी भारतीय मानसिक संताप को झेलते हुए हीन–भावना के शिकार हो जाते हैं। इस तरह हरजीत अटवाल का विवेच्य उपन्यास उनके दीर्घकालीन प्रवासानुभव का प्रतिफल है, जिसका मूल स्वर प्रवासी–चेतना है।

**सन्दर्भ सूची :–**


1. मेहरा, कादंबरी, वैश्विक हिन्दी साहित्य और हमारा भारत (आलेख), ढींगरा, सुधा ओम (संपा.), हिन्दी चेतना (पत्रिका), मरखम : हिन्दी प्रचारिणी सभा (कैनेडा), जुलाई–सितम्बर 20 12, पृ. सं. 43
2. सक्सेना, डॉ. उषा राजे, प्रवासी हिन्दी लेखन तथा भारतीय हिन्दी लेखन (आलेख), सिंह, डॉ. कुँवरपाल, सिंह, डॉ. नमिता (संपा.), वर्तमान साहित्य (पत्रिका), अलीगढ़, जनवरी–फरवरी 2006, पृ. सं. 47

3. वर्मा, श्याम बहादुर (कोशकार), प्रभात बृहत् हिंदी शब्दकोश (खंड 2), दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 2010, पृ. सं.1654
4. सिंह, सुरिंदर पाल (संपा.), प्रवासी पंजाबी साहित, अमृतसर : गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, 2004, पृ. सं. 08
5. नूर, सतिंदर सिंह, हरजीत अटवाल दे नावल साउथाल दी गल्पी योगता (शोध आलेख), सेखों, प्रो. जे.बी. (संपा.), हरजीत अटवाल दा नावल संसार, समाना : संगम पब्लिकेशन्स, 2012, पृ. सं. 113
6. अटवाल, हरजीत, साउथाल, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013, पृ. सं. 09
7. वही, पृ. सं. 223 –224
8. वही, पृ. सं. 225
9. वही, पृ. सं. 242
10. वही, पृ. सं. 34
11. वही, पृ. सं. 87– 88
12. चन्दन, स्वर्ण, बर्तानवी पंजाबी साहित दीयां समस्यावां, दिल्ली : नेशनल बुक शॉप, 1996, पृ. सं. 40
13. अटवाल, हरजीत, साउथाल, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013, पृ. सं. 159
14. वही, पृ. सं. 150
15. वही, पृ. सं. 250
16. वही, पृ. सं. 27
17. वही, पृ. सं.185
18. धीर, बलविंदर कौर, बर्तानवी पंजाबी कहानी विच प्रवासी जीवन यथार्थ (शोध आलेख), सिंह, सुरिंदर पाल सिंह (संपा.), बदेशी पंजाबी साहित, अमृतसर : गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, 1993, पृ. सं.152
19. अटवाल, हरजीत, साउथाल, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013, पृ. सं. 118 –119
20. वही, पृ. सं. 147
21. वही, पृ. सं. 149
22. यादव, राजेन्द्र, कि आए कौन कहां से हम? (सम्पादकीय), यादव, राजेन्द्र (संपा.), हंस (पत्रिका), नई दिल्लीः अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. , मई 2007, पृ. सं. 09
23. अटवाल, हरजीत, साउथाल, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013, पृ. सं. 160
24. वही, पृ. सं. 160
25. वही, पृ. सं. 185

# 'परिणीता' व 'ग्रामीण समाज' में अभिव्यक्त सामाजिक परिवेश

ममता कालड़ा*

साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। अनादिकाल से ही दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। साहित्य, सामाजिक गतिविधियों का ही दस्तावेज है। साहित्य के द्वारा ही तात्कालीन समाज को समझा जा सकता है। साहित्य के माध्यम से हमें किसी भी समाज की सभ्यता, संस्कृति, परम्पराओं व विचारों की जानकारी प्राप्त होती है। साहित्यकार समाज के विभिन्न पक्षों से रचना की विषय–वस्तु चुनता है और उसमें नैतिक व आदर्श विचारों को समाहित कर जीवन के शाश्वत मूल्यों के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस तरह वह रचना में यथार्थ का अंकन ही नहीं करता अपितु भविष्य की रूपरेखा भी तय करता है। जिसके कारण वह रचना हर युग में प्रासंगिक बनी रहती है। अतः साहित्य केवल समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि उसका मार्गदर्शक भी है। साहित्य जहाँ एक और समाज से प्रभावित रहता है, वहीं दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करता है। वह समाज को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है क्योंकि मनुष्य के मन–मस्तिष्क पर साहित्य का सीधा प्रभाव पड़ता है। यह भी सर्वमान्य सत्य है कि साहित्यकार अपने परिवेश से ही सवेंदनाएं ग्रहण करता है, जिसकी झलक उसके साहित्य में मिलती है। वह जिस समाज व वातावरण में रहता है, वहां की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं। उसे हर पल नए–नए अनुभव प्राप्त होते हैं। अपने इन्हीं अनुभवों को कल्पना–तत्व से संजोकर वह अपनी कला को सृजित करता है। हिन्दी साहित्य में अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं, जिन्होंने युगीन परिवेश से प्रभावित होकर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। ऐसी रचनाएँ युगों–युगों तक जन–मानस के मस्तिष्क–पटल पर छाई रहती हैं। अतः स्पष्ट है कि साहित्य सृजन में परिवेश का अहम् योगदान है।

परिवेश का सामान्य अर्थ है– "वातावरण या माहौल"। मनुष्य जिस क्षेत्र में रहता है, उसके भाव, विचार तथा क्रियाकलाप आदि वहाँ से प्रभावित होते हैं, वही उसका परिवेश कहलाता है। यहाँ तक कि उसके आस पास का क्षेत्र तथा सम्पूर्ण अंचल विशेष भी 'परिवेश' में समाहित कर लिया जाता है। अतः परिवेश का अर्थ समय विशेष के बोध से लिया जाता है।

आचार्य रामचंद्र वर्मा ने लोकभारती वृहत प्रमाणिक हिन्दी कोश में 'परिवेश' का प्रथम अर्थ 'घेरा' या 'परिधि' तथा दूसरा अर्थ 'प्रभामंडल' से लिया है। तृतीय अर्थ में 'परिवेश' को विस्तार देते हुए वे इसका तात्पर्य 'आस पास का स्थान या वातावरण' से लेते हैं।[1]

*शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

रामधारी सिंह दिनकर भी परिवेश को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि– "परिवेश एक तरह से काल का वह अंश है, जो समकालीन अथवा वर्तमान है। परिवेश में तात्कालिकता की गंध आती है।"[2]

शीला मिश्र ने भी अपने कहानी संग्रह 'लौटते हुए' में लिखा है– "मेरा मानना है कि जिन पात्रों को हम आस–पास देखते हैं, उन्हीं के इर्द–गिर्द सच्चा और संतोषप्रद लिखा जा सकता है। पात्रों को यहाँ–वहां तलाशने की मुझे जरूरत नहीं पड़ी। बस इर्द–गिर्द के पात्रों से ही कहानी का ताना–बाना तैयार हो गया।"[3]

अतः प्रत्येक साहित्यकार अपने समाज से प्रभावित होकर ही अपना लेखन कार्य करता है। क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है और समाज के बीच रहकर ही अपने व्यक्तित्व को बनाता है। समाज के विभिन्न आयामों के अनुसार उसकी संवेदनाएं भी परिवर्तित होती रहती हैं। लेखक– पर अंचल विशेष के साथ–साथ उसकी भाषा का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार परिवेश के निर्धारण में भाषा की भी अहम् भूमिका मानी जाती है।

शरतचन्द्र ने भी साहित्य सृजन में समाज व व्यक्ति को अहम् स्थान दिया है। उनका मानना था कि समाज के भीतर रहकर ही श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में– "साहित्य का मूल है, 'सहित' अर्थात् सबके सहित सहानुभूति रखना आवश्यक है। पर बैठ कर, आराम कुर्सी पर पड़े रहकर साहित्य सृष्टि नहीं की सकती है। साहित्यकार यदि मानव को नहीं देखे तो साहित्य नहीं होता । मानव के भीतर की सत्ता को जानना ही मेरा उद्देश्य है।"[4]

शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय बंगाल के प्रसिद्ध रचनाकार हैं, जो बहुत गहरे में समाज से जुड़े हुए हैं। उनकी रचनाएँ अपने परिवेश में जीती हैं। उनके उपन्यासों की अधिकांश घटनाएँ तात्कालीन समाज को ही चित्रित करती हैं। मूलतः वे बांग्ला भाषा के लेखक हैं। किन्तु उनकी रचनाओं के अनुवाद सभी प्रतिष्ठित भाषाओँ में उपलब्ध हैं। अतः जितनी लोकप्रियता उन्हें बंगाल में मिली, उतनी ही प्रसिद्धि उन्हें भारत के अन्य क्षेत्रों में भी प्राप्त हुई है। उनका जन्म हुगली जिले के एक छोटे से गाँव देवानंदपुर में 15 सितम्बर 1876 को हुआ। इनके पिता श्री मोतीलाल जी भी साहित्यानुरागी थे। अतः साहित्यिक ज्ञान उन्हें पिता से विरासत में मिला था। उनका आरंभिक जीवन सुखमय नहीं था, इसी कारण अनेक विद्वान मानते हैं कि साहित्य में उनकी गंभीर चिंतन दृष्टि व यथार्थ का चित्रण उनके निजी जीवन की ही झलक है।

शरतचन्द्र का साहित्य में पदार्पण 'बड़ी दीदी' (1907) उपन्यास से हुआ। हालांकि उनकी प्रथम कहानी 'मंदिर' (1902) 'भारती' पत्रिका में छप चुकी थी। किन्तु इस उपन्यास ने बांग्ला साहित्य में हलचल पैदा कर दी। इसके पश्चात् उन्होंने अनेक उपन्यास, कहानियां, तथा निबंध लिखे, जिन्होंने समाज में इन्हें ख्याति दिलायी। लेकिन वे स्वयं हमेशा प्रसिद्धि से विमुख रहते थे। उन्होंने अपने लेखन को कभी भी प्रकाशित करने का आग्रह नहीं किया। एक बार जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इनसे अपनी आत्मकथा लिखने के लिए कहा तो इनका उत्तर था– "गुरूदेव, यदि मैं जानता कि मैं इतना बड़ा आदमी बनूगां तो मैं किसी और प्रकार का जीवन जीता।"[5] उन्हें इस

बात का दुःख था कि उन्होंने मौज–मस्ती का जीवन बिताया। शरतचन्द्र के अधिकांश साहित्य पर फ़िल्में तथा धारावाहिक बन चुके है। इस तरह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनका यश फैला।

शरतचन्द्र अपने युग के सच्चे व सजग साहित्यकार हैं। 'परिणीता' और 'ग्रामीण समाज' दोनों ही उपन्यास सामाजिक परिवेश की दृष्टि से श्रेष्ठ व सुगठित उपन्यास हैं। 'परिणीता' जहाँ नगरीय परिवेश को चित्रित करता है, वहीं 'ग्रामीण समाज' में ग्रामीण परिवेश का चित्रण है। हालाँकि दोनों उपन्यासों की कथा भिन्न–भिन्न परिवेश को दर्शाती है। किन्तु चित्रांकन की सजीवता और मार्मिकता की दृष्टि से दोनों उपन्यास बराबर सफल रहे हैं। दोनों उपन्यासों में ही शरतचन्द्र ने सामाजिक पुनर्जीवन व सामाजिक मुक्ति का सन्देश दिया है। यद्यपि इन उपन्यासों में हमें राजनीतिक जागृति का परिचय नहीं मिलता परन्तु अपने युग की सामाजिक व धार्मिक परिस्तिथियों का चित्रण उन्होंने पूरी निष्ठा व ईमानदारी के साथ किया है ।

'परिणीता' शरतचन्द्र का आदर्श प्रेम पर आधृत एक बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने निम्न मध्यमवर्गीय समाज के सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने उन तमाम समस्याओं का व्यापक व विशद् वर्णन किया है, जो निम्न मध्यमवर्गीय समाज को शोषित करती हैं। साथ ही शरतचन्द्र ने इस उपन्यास में नारी जीवन के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने नारी मन को संघर्षो के बीच देखा है। मध्यमवर्गीय समाज में लड़की का विवाह किस तरह एक जटिल समस्या बन जाता है, इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति उपन्यास में मिलती है। गुरूशरण एक मामूली क्लर्क है। समाज में प्रचलित दहेज़ प्रथा के कारण उसने अपनी दूसरी लड़की के विवाह के लिए अपना घर तक रेहन पर रख दिया। इसलिए पांचवीं लड़की के जन्म पर गुरूशरण का चेहरा अनेक चिंताओं से घिर गया और भविष्य में होने वाले खर्च को सोच कर वे तनाव की मुद्रा में बैठ गये। इसका मार्मिक चित्रण उपन्यास के शुरुआत में ही मिलता है।

"बेचारे गुरूशरण तकिये के सहारे बैठे भी नहीं रह सके, हुक्के वाला हाथ ओर ऊँचा करके लेट गये। मन में कहने लगे– भगवान्, कलकत्ते में रोज जो कितने ही आदमी गाड़ी–घोड़ों के नीचे कुचल कर मर जाते हैं, वे क्या मुझसे भी बढकर तुम्हारे चरणों में अपराधी हैं! दयामय, तुम्हारी दया से अगर एक बड़ी सी मोटर गाड़ी मेरी छाती के ऊपर होकर निकल जाती तो मेरा बड़ा उपकार होता!"[6]

शरतचन्द्र के समय बंगाल में कम उम्र में ही लड़की का विवाह करने की प्रथा का प्रचलन था। यदि लड़की के विवाह में देरी होती तो बिरादरी में बदनामी का डर लगा रहता। वहीं दूसरी तरफ दहेज़ प्रथा के कारण माँ–बाप को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। गुरूशरण दोनों समस्याओं से उबरने के लिए ब्रह्म समाज में दीक्षा ले लेते हैं। ऐसा करने पर उन्हें जाति से बाहर कर दिया जाता है। शरतचन्द्र ने तात्कालीन समाज की दोनों समस्याओं को उपन्यास में अभिव्यक्त किया है।

"नवीन ने पूरी ताकत से चिल्लाकर कहा– खूब किया! अपने गले में फांसी नहीं लगाई, जाति और धर्म का गला घोंट डाला; शाबास ! अच्छा जाओ, अब हम लोगों को अपना यह काला

मुँह मत दिखाना। इस समय जो सलाहकार साथी–संगी हुए हैं उन्हीं की सोहबत में रहो–सहो– लड़कियों का ब्याह मोचियों–चमारों के साथ करो।"[7]

उन्नीसवीं सदी में भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति करुणामय व दयनीय थी। पुरुष से उसका सम्बन्ध मालिक व दासी का था। उपन्यास में ललिता के जीवन का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि नारी का जीवन पुरुष के चरणों तक ही सीमित था। शेखर का निर्णय ललिता के लिए सर्वोपरि है। उसी के चरणों में उसका स्वर्ग है। इसलिए बार–बार ललिता को उसके चरणों में प्रणाम करते दिखाया गया है।

"जाती हूँ" कहकर ललिता ने इतनी देर बाद शेखर के पैरों में सिर रखकर प्रणाम किया, और फिर खड़े होकर धीरे से पूछा मैं क्या करूंगी, बताये जाओ।"[8]

एक अन्य प्रसंग में भी ललिता और उसकी छोटी बहन काली इसी तरह चरणों में प्रणाम करती नजर आती हैं।

"जाती हूँ शेखर दादा।' कहकर पैरों के पास जमीन पर सिर रखकर काली ने प्रणाम किया। ललिता जहाँ खड़ी थी वहीं पृथ्वी पर सिर रखकर उसने भी प्रणाम किया।"[9]

शरतचन्द्र मानवीय सवेंदनाओं के कुशल चितेरे हैं। उन्होंने युगीन समस्याओं के साथ–साथ मानव मन के अंतर्द्वन्द्वों एवं अंतर्विरोधों को भी वाणी दी है। शेखर, गुणेन्द्र और ललिता उपन्यास के पूर्ण विकसित पात्र हैं जिसके माध्यम से लेखक ने गुप्त प्रेम को वाणी दी है। ललिता व शेखर का प्रेम सहज व स्वाभाविक रूप से फलता–फूलता है। ललिता प्रेम व कृतज्ञता की दुविधा में उलझी रहती है। वहीं शेखर अपनी प्रेयसी को पाना चाहता है। किन्तु सामाजिक रूढ़ियों व पारिवारिक मान्यताओं तथा शंकालु स्वभाव के चलते प्रणय के प्रति उदासीन व निराश व्यक्ति के रूप में दिखता है। सम्पूर्ण उपन्यास में शरतचन्द्र प्रेम–भावना के विषय में संयम व मर्यादा के पक्षधर दिखाई देते हैं। तथा उपन्यास के अंत में अनेक संघर्षो से गुजरते हुए ललिता का निःस्वार्थ प्रेम शेखर के हृदय को परिवर्तित कर देता है और लेखक आदर्शवादी भावना को अपनाते हुए बचपन के प्रेम को परिणय में बदल देते हैं। जिससे उपन्यास का शीर्षक 'परिणीता' सार्थक प्रतीत होता है।

शरतचन्द्र ने अपने साहित्य में उपेक्षित समाज व पतित नारियों को हमेशा ऊँचा पद दिया और तात्कालीन सामाजिक मूल्यों पर सवालिया निशान लगाये। समाज के सभी धर्मों व वर्गों से उनका आत्मीय सम्बन्ध था। वे मानते थे कि मनुष्य को हृदय से जीता जा सकता है। फिर चाहे वह किसी भी धर्म या जाति का हो। 'ग्रामीण समाज' उपन्यास में रमेश नामक पात्र का संयोजन वे कुछ इसी दृष्टि से करते हैं, जो स्वयं जमींदार परिवार से है। किन्तु अपना सम्पूर्ण जीवन गाँव के निःसहाय लोगों की सेवा में लगा देता है।

'ग्रामीण समाज' मूलतः एक दुखान्त कथा है। जिसमें ग्रामीण लोगों की समस्याओं व परिस्थितियों को उभारा गया है। लेखक ने इस उपन्यास में गाँव के आदर्श रूप का चित्रण न करके ग्राम्य जनजीवन में व्याप्त सामाजिक विद्रूपताओं, आर्थिक विषमताओं और लोगों की गवंई मानसिकता को उजागर किया गया है। भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था प्राचीन काल से ही एक

महत्त्वपूर्ण समस्या रही है। सदियों से उच्च वर्ग के प्रतिनधि निम्न वर्ग का आर्थिक व सामाजिक शोषण करते आए है। शरतचन्द्र ने उपन्यास में जिस तरह के ग्रामीण समाज को प्रस्तुत किया है, उससे पता चलता है कि वह पूर्णतः जड़ व पुरातनपंथी था। ऊँच–नीच और जाति–पाति की मानसिकता ग्रामीण जीवन के मूल में है। समाज में धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ग्रामीण समाज में जमींदार वर्ग, ब्राह्मण वर्ग एवं पुजारियों का प्रभुत्व अपेक्षाकृत अधिक था। इसलिए शरतचन्द्र ने अपने उपन्यास में सामाजिक एवं धार्मिक समारोहों के माध्यम से ब्राह्मण समाज की वास्तविकता को दर्शाने का प्रयास किया है। रमेश जब अपने पिता के श्राद्ध संस्कार के लिए समारोह का आयोजन करता है, तो गोविन्द गांगुली और धर्मदास जैसे पात्र ऊँच–नीच का फर्क समझाकर तथा चापलूसी भरी बातों से उसे अपने पक्ष में करने का प्रयास करते हैं। ऐसे पात्रों को दूसरों की आलोचना करने में भी कोई संकोच नहीं होता।

गोविन्द गांगुली अपनी जाति को श्रेष्ठ बताते हुए कहता है– "मैं तो समझता हूँ कि छोटे आदमियों के प्रति दया–उदारता दिखाना राख में घी डालना है। इसकी बजाए ब्राह्मण को एक जोड़ा और उनके बच्चों को एक–एक धोती दी जाती, तो लोक में यश और परलोक में सुख मिलता। मैं तो रमेश भैया को यही सलाह दूंगा। क्यों धर्मदास भाई, तुम्हारी क्या राय है?"[10]

इसी तरह रमा के घर दुर्गा पूजा के आयोजन पर सभी अभावपीड़ितों के लिए भोजन का प्रबंध किया जाता है। किन्तु निम्न वर्ग का कोई भी व्यक्ति प्रसाद लेने के लिए नहीं जाता। वहाँ किसी को आया न देखकर वेणी गोपाल आग बबूला हो जाता है और कहता है– "इन साले छोटी जाति वालों की इतनी हिम्मत कि वे हमारा बहिष्कार करें। मैंने इन सालों की खाल न उधड़वा ली, तो मेरा नाम भी वेणी गोपाल नहीं।"[11]

उपन्यास में ऐसे पात्रों का संयोजन लेखक ने कुल और जाति के मिथ्याभिमान और उसकी निर्मम सच्चाइयों को उद्घाटित करने के लिए किया है। साथ ही लेखक ने जाति की श्रेष्ठता पर भी गहरे आक्षेप किये हैं। वास्तव में उनका प्रमुख उद्देश्य कुल व जाति में निहित संकीर्णताओं को समाप्त कर देना था। इसलिए रमेश उच्च कुलीन लोगों का निकृष्ट आचरण देख कर दुःखी हो जाता है।

शरतचन्द्र के समय बंग समाज सामाजिक कुरीतियों व धार्मिक अंध–विश्वासों से घिरा हुआ था। उस समय समाज सुधारक को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। जैसा कि लेखक ने उपन्यास में दिखाया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र रमेश जमींदार परिवार से होते हुए भी जात–पात के संकीर्ण विचारों से ऊपर उठकर ग्राम सुधार के कार्य करता है तथा सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियों का बहिष्कार करते हुए वह गाँव के प्रत्येक जरूरतमंद व्यक्ति की सहायता करने को तत्पर रहता है। किन्तु ऐसा करके वह अपने ही चचेरे भाई वेणी घोषाल का शत्रु बन जाता है, जो उसे किसी–न–किसी तरीके से हानि पहुँचाने की कोशिश करता है। यहाँ तक कि वेणी उसे रमा की झूठी गवाही से जेल तक भिजवा देता है। जैसा कि वेणी के संवादों से स्पष्ट होता है–

'वह बोला, "ये हरामजादे जिसके ज़ोर पर इतरा रहे हैं, इन्हें नहीं मालूम कि वह साला रमेश तो जेल में चक्की पीस रहा है। इस स्थिति में तुम लोगों को बर्बाद करने से मुझे भला कौन रोकेगा?"[12]

रमा उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र तथा रमेश की बचपन की साथी है। दोनों के बीच प्रेम भाव भी है। रमेश शिक्षा प्राप्त करने के लिए गाँव से बाहर चला जाता है और एक अरसे बाद लौटने पर उसे पता चलता है कि रमा अल्पायु में ही विधवा हो गयी है और दोनों परिवारों में जमींदारी को लेकर विवाद भी बढ़ गया है। रमा के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है कि वो अपने हृदय में प्रेम को दबाकर समाज के भय से रमेश के विरुद्ध गवाही देती है। किन्तु इस अपराध बोध से दुःखी रहती है।

वह मन ही मन सोचती है– "जिस भैरव आचार्य की सहायता के लिए रमेश ने इतनी बड़ी रक़म उसे दी, उसी भैरव ने रमेश के विरुद्ध मुकदमा किया। जिस रमा की सत्यनिष्ठा पर रमेश को विश्वास था, वही रमा झूठ बोलते हुए नहीं हिचकिचाई कि रमेश के हाथ में छुरी थी या नहीं थी– यह वह देख नहीं सकी, जबकि वह भली प्रकार जानती है कि उसके हाथ में एक तिनका नहीं था। रमा अपने इस आत्मविश्लेषण से बुरी तरह आहत हो उठी। वह चाहकर भी अपने को इस चिंतन से मुक्त न कर सकी।"[13]

उपन्यास में समाज की सम्पूर्ण विविधताओं और बहुपक्षीय संघर्ष को चित्रित करने के साथ–साथ लेखक मानवतावादी दृष्टिकोण भी अपनाते है। इसलिए अंत में रमा अपने अपराध का प्रायश्चित करने के लिए रमेश को अपना सब कुछ सौंपकर उसी की ताई जी के साथ आध्यात्मिक सफ़र पर निकल पड़ती है। रमा के चरित्र के माध्यम से लेखक ने तात्कालीन भारतीय समाज में विधवा नारी की कारूणिक दशा का वर्णन किया है। एक तरह से लेखक यह दर्शाना चाहते हैं कि विधवा नारी को जीने का तो अधिकार है। किन्तु प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं। इस प्रकार अपने उपन्यास के माध्यम से लेखक ने जहाँ एक ओर सामाजिक समानता लाने का प्रयास किया है, वहीं दूसरी स्त्री अधिकारों को भी प्रमुखता दी है।

इस प्रकार शरतचन्द्र के दोनों ही उपन्यास उनके आस–पास के परिवेश का ही आईना है। जिसे सामाजिक दृष्टि तथा व्यक्तिगत अनुभूति दोनों पक्षों को आधार बनाकर लिखा गया है। इन उपन्यासों में उन्होंने यथार्थ परिवेश के साथ–साथ मानवीय सत्य के बहुत से पहलुओं को उद्घाटित किया है। उन्होंने न केवल सामाजिक परिवेश के विविध आयामों का चित्रण किया है बल्कि समाज में जागरूकता लाते हुए उसे एक नवीन दृष्टिकोण भी प्रदान किया है। इसीलिए साहित्य जगत में उन्हें युग प्रवर्तक साहित्यकार के रूप में देखा जाता है।

<u>संदर्भ–सूची :–</u>

1. वर्मा, रामचन्द्र, लोकभारती बृहत् प्रामाणिक हिन्दी कोश, इलाहाबाद; इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, बाहरवां संस्करण, 2012, पृ. सं. 559.
2. यादव, द्विजराम, मोहन राकेश के नाटक, कानपुर; साहित्यलोक, प्रथम संस्करण, 1980, पृ. सं. 183

3. मादार, संजय, अंतिम दशक की कहानियों में चित्रित विभिन्न परिवेश, मथुरा; जवाहर पुस्तकालय, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. सं. 72
4. जैन, रमेश, हिन्दी के शरत जैनेन्द्र, जयपुर; विवेक पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1988, पृ. सं. 65.
5. प्रभाकर, विष्णु, आवारा मसीहा, नई दिल्ली; राजपाल एंड संस, पाँचवां संस्करण, 1981, पृ. सं. 10.
6. चट्टोपाध्याय, शरतचन्द्र, रूपनारायण पाण्डेय (अनुवादक), परिणीता, प्रयाग; इंडियन प्रेस लिमिटेड, वि. सं. 1982, पृ. सं. 3.
7. वही, पृ. सं. 75.
8. वही, पृ. सं. 73.
9. वही, पृ. सं. 99.
10. चट्टोपाध्याय, शरतचन्द्र, ओमप्रकाश शर्मा (सम्पादक), नई दिल्ली; किताब घर प्रकाशन, ग्रामीण समाज, संस्करण 2007, पृ. सं. 17.
11. वही, पृ. सं. 104.
12. वही, पृ. सं. 105.
13. वही, पृ. सं. 106.

# 'चण्डी दी वार' का काव्यभाषा की दृष्टि से विश्लेषण

**मनिंदर जीत कौर***

काव्य साहित्य की वह विधा है जिसमें कवि अपने मन के भावों को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करता है। कवि सामान्य भाषा में अपनी अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता नहीं पाता। कवि जब जटिल संवेदनाओं का सम्पूर्ण सम्प्रेषण करता है तब वह सामान्य भाषा में ऐसा परिवर्तन लाता है कि भाषा सर्जनात्मक बन जाती है ताकि कवि की साभिप्रायता सम्प्रेषित हो जाए। काव्यभाषा सामान्य भाषा के भीतर एक भाषा है। ''इस दृष्टि से सामान्य भाषा और काव्यभाषा जल और लहर से तुलनीय है। जल और लहर परस्पर भिन्न हैं और अभिन्न भी हैं। दोनों भिन्न हैं क्योंकि जल में सदैव एवं सर्वत्र लहर नहीं होती। इसी तरह दोनों परस्पर अभिन्न हैं क्योंकि जल से पृथक लहर का कोई अस्तित्व नहीं है। तब यही कहना पड़ेगा कि लहर जल के भीतर एक जल है, वह जल का एक विशिष्ट रूप है।''[1] ठीक यही सम्बन्ध सामान्य भाषा और काव्यभाषा का भी है। काव्यभाषा सामान्य भाषा के भीतर की ही एक भाषा है। कवि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्तत्ता प्रदान करने के लिए काव्य के तत्त्वों का प्रयोग कर भाषा को विशिष्ट बना देता है। इनमें चयन, वर्ण–विन्यास, अलंकार, छन्द, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक शामिल हैं।

1. चयनः चयन' का अर्थ है 'चुनना' अर्थात् 'एकाधिक' में किसी 'एक' को चुन लेना।[2] काव्यभाषा में चयन का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि व्यावहारिक धरातल पर अर्थ की दृष्टि से शब्द ही भाषा की लघुतम इकाई है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कार्लाइल के प्रसिद्ध उद्धरण 'सर्वोतम शब्दों का सर्वोतम क्रम काव्य है। (Poetry is the best words in best order) में 'सर्वोतम शब्द'(best words) का आधार 'शब्द चयन' ही है।[3]

2. वर्ण–विन्यासः वर्ण–विन्यास से अभिप्राय यह है कि काव्य–रचना में ऐसे शब्द हो जिनमें सुन्दर वर्ण हों। उनमें ऐसे वर्ण–विन्यास हो जिनमें कोमलता की किलकारियाँ हो, उनसे माधुर्य झरता हो और रस का छलका पड़ता हो।[4]

3. अलंकारः 'अलंकार' शब्द 'अलम्+कृ+धञ्' के संयोग से बना है। जिसका अर्थ है– सजावट,सजाना या अलंकृत करने की क्रिया।[5] आचार्य दण्डी अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते लिखते है, ''काव्यशोभाकरन्धर्मान्अलंकारन् प्रचक्षते।[6] अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मो को अलंकार कहते है। परन्तु अलंकार केवल काव्य की शोभा बढ़ाने वाला ही तत्त्व नहीं है अपितु उससे जहाँ एक ओर कवि की विवक्षा का सम्पूर्ण एवं सटीक सम्प्रेषण होता है वहीं दूसरी ओर भावक के हदय में वह व्यापत हो जाता है, इसलिए अलंकार कवि के सम्प्रेषण

***शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।**

के लिए अनिवार्य एवं भावक के ग्रहण के लिए आवश्यक है। वह सम्प्रेषण जिसमें अलंकार है, सम्पूर्ण होने के साथ उसमें सौन्दर्य भी होता है। यहाँ सौन्दर्ययुक्त होने से अभिप्राय है, वह सम्प्रेषण मर्मस्पर्शी है।

4. छन्दः'छन्द' शब्द चद् धातु से बिना है जिसका अर्थ है आह्लादित करना; तात्पर्य यह है कि वह रचना–विधान जिससे आह्लाद हो। यह आह्लाद वर्ण या मात्रा की नियमित संख्या के विन्यास से उत्पन्न होता है।[7]

5. कल्पनाः 'कल्पना' अंग्रेजी के 'इमेजिनेशन' शब्द का पर्याय है और 'इमेज' से बना है। 'इमेज' का अर्थ है–चित्र अथवा छवि। आधुनिक साहित्यालोचन में इसके लिए 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः काव्य के संदर्भ में कल्पना का अर्थ हुआ बिम्ब सृष्टि अथवा रूप–सृष्टि करने में समर्थ कवि की उद्भावना–शक्ति।[8]

6. बिम्बः 'बिम्ब' शब्द अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का पर्याय है। जिसका शाब्दिक अर्थ है, ''किसी वस्तु का मानसिक चित्र या प्रतिमूर्ति चाहे वह स्मृति से बना या कल्पना से।[9] बिम्ब वह मानसिक चित्र है जो कल्पना की सहायता से उकेरा जाता है।

गुरु गोबिन्द सिंह महान् व्यक्तित्व के धनी थे, उन्होंने स्वार्थभावना से उठकर मानवता के कल्याण के लिए कार्य किए। एक महान् योद्धा होने के बावजूद उनमें फकीर जैसी फक्कड़ता के दर्शन होते हैं। उनमें नेतृत्व करने की अगाध शक्ति थी। यही कारण है कि उन्होंने इतने बड़े स्तर पर सम्प्रदाय की नींव रखी और हताश जन समुदाय में कर्तव्यनिष्ठा की भावना का संचार किया। गुरु गोबिन्द हमारे देश के महान् नेताओं में से एक हैं। उन्होंने इतिहास की धारा बदल दी थी। उन्होंने हतदर्प जाति को अत्यन्त तेजस्वी जुझारु जाति में परिणित कर दिया था। उन्होंने अनेक युद्ध लड़े किन्तु किसी राज्य को हस्तगत कर लेना उनका उद्देश्य कभी नही रहा। उन्होंने अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाई, वे हिंसा के पक्ष कदापि नहीं रहें। वे शान्ति और युद्ध के केवल एक महान् नेता, एक धर्म प्रचारक और खालसा पंथ के संस्थापक ही नहीं वरन् एक महान् साहित्य स्त्रष्टा भी थे।[10] उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जो समाज को नया मार्ग दिखाती है। उन्होंने पौराणिक पात्रों के माध्यम से भक्ति के वास्तविक उद्देश्य से फलीभूत किया। उनके द्वारा सृजन–कार्य हिंदी साहित्य में गुण एवं परिणाम की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखता है। गुरु जी की सम्पूर्ण वाणी 'दशम ग्रन्थ' में संगृहीत है। गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा रचित 'चण्डी दी वार' मूलतः पंजाबी भाषा की रचना है। इसे 'वार दुर्गा दी' और 'भगउती दी वार' नाम से भी जाना जाता है। हिंदी में इसका शीर्षक 'वार स्त्री भगउती जी की' है।

**चयनः** गुरु गोबिन्द सिंह भावों की अभिव्यक्त के अन्तर्गत जिन शब्दों का चयन करते हैं उनके विषय में कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अनावश्यक रूप से उनका प्रयोग उस स्थान पर किया गया है। जहाँ–जहाँ जैसा परिवेश और स्थिति होती है, गुरुजी के शब्द सहज रूप से अपना स्थान स्वयं चयन कर लेते हैं। वीरता की भावना के लिए ओजगुण प्रधान तथा प्रेम के मधुर पलों से ओत–प्रोत श्रृगांर की विभिन्न भावानुभूतियों के लिए माधुर्यगुण प्रधान शब्दावली का सुन्दर प्रयोग गुरु जी द्वारा किया गया है।

**चण्डी शब्द का चयन**

चंडी राकिश खाणी वाही दैत नूं।

गोबिन्द सिंह ने चण्डी शब्द चयन शक्ति के लिए किया है। गुरु जी शक्ति उपासना के प्रति अपनी अडिग आस्था प्रकट की है। वे देवी की पारब्रह्म स्वरूपी, सर्वथा व्यापक, पवित्र रूप में उपासना करते हैं। युद्ध प्रिय स्वभाव के कारण गुरु जी ने देवी की युद्ध प्रिय प्रकृति को अपने अत्यधिक निकट पाया जिससे देवी के बल–पराक्रम–स्वरूप की आराधना को वे अपने जीवन का आधार बनाकर चले। उनके हृदय पर देवी की उपासना की अमिट छाप है जिसका निर्वाह उन्होंने सर्वत्र किया है। गुरु गोबिन्द सिंह के समय नारी की स्थिति दयनीय थी जिसे देखकर गुरु जी ने चण्डी के रूप में नारी की शक्ति को महत्त्व दिया और नारी को समाज में सबसे ऊँचे स्थान पर रखा। उनकी शक्ति की उद्‌भावना शत्रुओं के विनाश करने की भावना में स्थित है। वे लोकाचार–समर्थित शक्ति के उपासक है। बल, पराक्रम, प्रताप की अधिष्ठात देवी होने के कारण गुरु गोबिन्द सिंह जेसे वीर पुरूष को उसकी उपासना अधिक आकर्षक प्रतीत हुई है।

**सिंह शब्द का चयन**

सिंघ करी असवरी दुरगाशोर सुण।34।

गुरु गोबिन्द सिंह ने सिंह शब्द चयन वीरता के लिए किया है। 'सिंह' चण्डी के बल का भी प्रतीक हे। वीरता का जैसा आवेश चण्डी के 'सिंह' में है वैसे ही वीरता का संचार गुरु गोबिन्द सिंह अपने सैनिकों में भरना चाहते हैं। जिस तरह चण्डी का 'सिंह' युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के चिथड़े उखाड़ फेंकता है उसी तरह गुरु जी भी यही चाहते हैं कि उनके सैनिक भी वीरता से अन्याय और अत्याचार का विरोध करें और शान्ति स्थापित करें।

**जटाधारी शब्द का चयन**

जापे चल्ले रत दे सलले जटाधारी।।18।।

**भावनी शब्द का चयन**

होई अलोपु भावनी देवाँ नूं राजू दे।।21।।

**वर्ण–विन्यास :** चण्डी दी वार में वर्ण–विन्यास –

प्रिथम भगवती सिमर कै गुरू नानक लई धिआइ।

फिर अंगद गुरू ते अमरदास रामदासै होइ सहाइ।

अरजन हरिगोबिदं नूं सिमरो श्री हरिराइ।

श्री हरिक्रिशन धिआइऐ जिसु डिट्ठेसभ दुख जाइ।

तेग बहादर सिमरिऐ घर नउनिधि आवै धाइ।

सभ थाई होइ सहाइ।।1।।

प्रस्तुत पंक्तियों मे गुरु जी ने सबसे पहले भगवती को स्मरण कर फिर गुरु नानक देव जी को याद करते है। पुनः अंगद, अमरदास एंव गुरु रामदास का स्मरण करते है, जो उन के सहायक होगे। इस तरह मे गुरु जी ने अपनी वाणी में वर्णों का विन्यास अपने भावों की अभिव्यक्ति अनुरूप किया है। गुरु जी ने भावानुकूल वर्णों का विन्यास इस तरह किया कि लयत्मकता का गुण स्वतः आ गया।

**अलंकारः** गुरु गोबिन्द सिंह की रचनाओं को पढ़ने से यह पूर्णतः ज्ञात होता है कि ये रीतिकालीन युग की चमत्कार वृति से प्रभावित थे। इनके काव्य में अनुप्रास, यमक, रूपक, श्लेष, अप्रस्तुत प्रंशसा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आते है, गुरु जी का प्रिय अलंकार उपमा है जिसका प्रयोग गुरु जी के सम्पूर्ण काव्य में देखा जा सकता है।

**अनुप्रास अलंकार**–अनुप्रास शब्दालंकार है। जिसमें समान वर्णों की आवृति होती है, उसे अनुप्रास अलंकार कहते है।

खब्बे दसत उभारी गदा फिराइकै।

सैना सभ संघारी स्त्रणवतबीज दी।।34।।

इस पंक्ति में गुरु जी युद्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवी ने बायें हाथ में गदा उठाया और रक्तबीज की सारी सैना का संहार कर दिया। इस पंक्ति में 'स' वर्ण की आवृति हो रही है इसलिए इसे अनुप्रास अलंकार की संज्ञा दी गई है। 'स' की आवृति के कारण चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। चमत्कार के साथ–साथ गुरु जी ने अपने भावों का उचित सम्प्रेषण किया है। सम्पूर्ण सम्प्रेषण के साथ सौन्दर्य भी स्वयं आ गया है। यहाँ सौन्दर्ययुक्त होने से अभिप्राय है, वह सम्प्रेषण मर्म –स्पर्शी है। गुरु जी इस पंक्ति में दुर्गा की शक्ति की विशेषता बता रहे हैं। आवृति के कारण लयात्मकता है, जिससे नाद सौन्दर्य उत्पन्न हो रही है। नाद सौन्दर्य के कारण भाषा में प्रवाहमयता का गुण विद्यमान है।

**उपमा अलंकार** – भिन्न पदार्थों के सादृश्य –प्रतिपादन को उपमा कहते है। उपमा का अर्थ (उप) समीप से (मा) तौलना (देखना) अर्थात् एक वस्तु के समीप दूसरी वस्तु को रखकर उसकी समानता प्रतिपादित करना। अर्थालंकारों का मूलाधर उपमा ही है।[11]

इक घाइल घूमन सूरमे जण मकतब काजी।

इक बीर परोते बरछ्रिए जिउँ झुक पउन निवासी।

इक दुरगा सउहे खुनसकै खुनसाइन ताजी।

इक धावन दुरगा सामणे जिउँ भखिआए पाजी।।45।।

शूरवीर घायल होकर ऐसे घूम रहे हैं, मानो अपने स्थान पर लोकचिन्ता से ग्रस्त काजी परेशान घूम रहा हो। वीर बरछियों में जाकर बरछियों को ऐसे झूका रहे हैं जैसे पवन पेड़ की टहनियों को झूका देती हैं। कुछ दुर्गा के आगे क्रोधित होकर घोड़ों को दौड़ाकर भूखे भेडियों के समान दौड़ रहे हैं। इन पक्तियों में उपमा अलंकार की सुन्दर छटा विद्यमान है। इनमें गुरु जी ने

शूरवीरों की घायल स्थिति को परेशान काजी से, बरछियों को झूकाने को पेड़ की टहनियों से और दुर्गा से डरकर शूरवीर भगा रहे घोड़ों की स्थिति को भूखे भेडियों से समानता स्थापित की है।

**छन्दः** 'चण्डी दी वार' गुरु जी द्वारा पंजाबी में रचित एकमात्र रचना है। इसमें55छन्द है, जिनमें 54 पउड़ियाँ और 1 दोहा छन्द है।

**दोहाः**– दोहा अर्धसम मात्रिक छन्द है। इस छन्द में विषम (1,3) चरणों में 13 मात्राएँ तथा सम (2,4) चरणों में 11 मात्राएँ होती है।

राकशि आऐ रोहल, खेत भिड़न के चाइ।

लशकन तेगां बरछिआँ सूरज नदरि न पाइ।।6।।

इस छन्द में गुरु जी युद्ध के आरम्भ होने से पहले बलशाली राक्षसों के उत्साह का वर्णन करते है। इस छन्द में गुरु जी ने दोहा छन्द के सम्पूर्ण नियमों को अपनाया है। जिससे गुरु जी ने अपने भावों का सम्पूर्ण सम्प्रेषण कर सके और काव्य में नाद और लय का गुण स्वतः आ गया।

**पउडी छन्दः** पउडी छन्द पंजाबी का मात्रिक छन्द है जो मुख्य रूप से वार–काव्य के लिए प्रयोग किया जाता है। (ਪਉੜੀ ਛੰਦ ਪੰਜਾਬੀ ਦਾ ਇੱਕ ਮਾਤ੍ਰਿਕ ਛੰਦ ਹੈ ਜੋ ਖ਼ਾਸ ਤੌਰ ਉੱਤੇ ਵਾਰ-ਕਾਵਿ ਵਿੱਚ ਵਰਤਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ)। पउडी छन्द के दो प्रकार है– प्रतीक और केवल (ਨਿਸ਼ਾਨੀ ਅਤੇ ਸਿਰਖੰਡੀ)।[12]

दानो देउ अनागी संघरु रच्चिआ।

फुल्ल खिड़े जण बागी बाणे जोधिआ।

भूताँ इल्लाँ कागी गोषत भक्खिआ।

हुम्मड़ धुम्मड़ जागी घत्ती सूरिआ।।24।।

यह प्रतीक छन्द का उदाहरण है। प्रतीक छन्द के चार चरण होते है। इसमें गुरु जी युद्ध की भीषणता का वर्णन किया है। युद्ध क्षेत्र का चित्रण के कारण इस छन्द में वीरत्व का भाव स्वयं आ गया। जिससे लय और नाद की तीव्रता का गुण उत्पन्न हो गया। छन्द को प्रयोग से भाषा का स्वरूप और निखर कर आया है।

**कल्पनाः** गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य में काव्यभाषा के सभी तत्त्वों का समावेश मिलता है। कल्पना का प्रयोग कर गुरु जी ने अपने काव्य में अपनी अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण सम्प्रेषण किया है। जिसे हम गुरु जी के सम्पूर्ण काव्य में पाते है –

धूहि क्रिपानाँ तिक्खीआँ नाल लोहू धोइआँ।

हूरा स्त्रणवत बीज नूं घति घेरि खलोइआँ।

नाड़ा देखन लाड़िआँ चडी गरदै होइआँ।।42।।

दोनों सेनाएँ आमने–सामने हैं। तेज कृपाणों को निकालकर दुर्गा रक्त से धो रही है। ये कृपाणें ऐसे लग रही हैं, मानो रक्तबीज को अप्सराएं घेरकर खड़ी हो या फिर दूल्हे को देखने के लिए स्त्रियाँ उसे घेरे खड़ी हों गुरु जी ने कल्पना के द्वारा युद्ध की स्थिति को कलात्मक रूप

द्वारा प्रस्तुत किया है। गुरु जी ने अपनी कल्पना–शक्ति के माध्यम से युद्ध की भीषणता में सौन्दर्य एंव चमत्कार उत्पन्न करने के लिए देवलोक और सामान्य जीवन का वर्णन किया है।

जण नट लत्थे छाली ढोलि बजाइकै।

लोहूफाथी जाली लोथी जमधड़ी।

घण विचि जिडँ छंछाली तेगाँ हसीआँ।

घुंमर आरि सिआली बणिआँ के जमाँ।।39।।

इन पंक्तियों में गुरु जी ने अपनी कल्पना–शक्ति से रणस्थल का वर्णन करते है कि रणस्थल में माार–काट मच गई। वीर ऐसे उछल रहें हैं मानो नट उछलकर छलाँगे लगा रहे हों और कृपाणें ऐसे शरीरों और लौह–कवचों में फँसी पड़ी हैं मानो मछलियाँ फँसी पड़ी हों। कृपाणों की चमचमाती मुस्कुराहट ऐसे लग रही है मानो बादल में बिजली चमक रही हो। शोर ऐसा लग रहा है मानो सर्दी में गीदड़ चिल्ला रहे हो, अथवा वणिक् की दुकान पर सौदा देने वालों का शोर हो। इस छंद में गुरु जी ने अपनी कल्पना के माधयम से युद्ध चित्रण को सजीव बना दिया है।

**बिम्बः** गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य में लगभग सभी बिम्बों की प्रधानता प्राप्त होते हैं। इन्द्रिय बिम्बों में चाक्षुष, श्रव्य, स्पश्र्य आदि बिम्ब अनेक स्थानों पर पाए गए है। परन्तु चाक्षुष बिम्ब में गुरु जी का मन अधिक रमा है। चाक्षुष का सीधा सम्बन्ध नेत्रों से है। इसलिए गुरु जी ने युद्धों को अपनी जीवगत् पृष्ठभूमि का आधार बनाकर कल्पना सम्मिश्रित चाक्षुष बिम्ब की रचना की हैं।

लोहू नालि डुबाइआँ तेगाँ नंगिआँ।

सारसुती जण न्हाइआँ मिलकै देविआँ।

सभे मार गिराइआँ अंदरि खेत दै।।40।।

इस छंद में दुर्गा और रक्तबीज में चल रहे युद्ध का वर्णन किया गया है। दुर्गा ने रक्त में तलवारों को डुबाते हुए चुन–चुनकर दानवों पर वार किये। तलवारें ऐसी लग रही हैं मानो देवियाँ सरस्वती नदी में स्नान करने आई हों। देवी ने रक्तबीज के सभी रूपों को मार गिराया। जीवन का अधिकांश समय युद्धों में व्यतीत रहने के कारण उनकी रचनाओं में युद्धों के वीभत्स चित्र अंकित हुए है। इस बिम्ब में युद्ध क्षेत्र की चण्डी की शक्ति और उसके स्वरूप की अलौकिकता का सुन्दर चित्र उकेरता है। इन पंक्तियों में चण्डी युद्ध क्षेत्र में विरोधियों का सहांर कर रही है जिसका पूरा दृश्य हमारी आँखों के समक्ष बन रहा है। इसके माध्यम से हमारे मानसिक पटल पर चित्र अंकित हो रहा है जिससे हम युद्ध की भीषणता का व देवी की शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं। गुरु जी चण्डी के इस रूप की अराधना करते हैं ताकि जिस शक्ति से चण्डी ने शत्रुओं का संहार किया है उसी शक्ति से गुरु जी भी अन्याय और अत्याचार को खत्म कर सके।

बीर परोते बरछीएँ जण डाल चमुट्टे आवले।

इक वड्ढे तेगी तड़फीअन मद पीते लोटिन बावले।

इक चुण चुण झाड़उ कढीअन रेत विच्चों सुइना डावले।

गदा त्रिसूलां बरछीदआँ तीर वग्गन खरे उतावले।

जण इसे भुजंगम सावलें।

मर जावन वीर रूहावले।।8।।

युद्ध में वीर बरछियों में इस प्रकार पिरोये जा रहे है, मानो डाली में आँवले लगे हुए हो। एक ओर कृपाणों से कटे वीर तड़प रहे है ओर दूसरी ओर धरती पर ऐसे लोट रहे है; मानो उन्होंने मद्य–पान किया हो। कायरों को झाड़ियों में से खींचकर इस प्रकार मारा जा रहा है, जैसे रेत में से सोने को खींचकर अलग किया जाता हो। गदा, त्रिशूल, बरछियां और तीर भीषण रूप से चल रहे हैं और ये काले नागों की तरह डँसते चले जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप बड़े–बड़े शूरवीर मरते जा रहे हैं। इन पंक्तियों में चाक्षुष बिम्ब के प्रयोग के साथ गुरु जी ने अपने भावों का सम्पूर्ण एंव सटीक सम्प्रेषण किया है। बिम्ब एक सफल अभिव्यक्ति का माध्यम है जिसे आधार बनाकर कल्पना सम्मिश्रित बिम्ब की गुरु जी ने रचना की है।

**आधार ग्रन्थः**

जोध सिंह, श्री दषम ग्रंथ साहिब, (पहली सैंची) भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 2010

**सन्दर्भ सूची :–**

1. तिवारी, सियाराम, साहित्यशास्त्र और काव्यभाषा, भूमिका प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1991, पृष्ठ प्रस्तावना।
2. तिवारी, भोलानाथ, शैलीविज्ञान, शब्दकार, दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ संख्या 80
3. वही, पृष्ठ संख्या 80
4. मिश्र, रामदहिन, काव्य में अप्रस्तुतयोजना, ग्रन्थमाला–कार्यालय, पटना, प्रथम संस्करण संवत् 2005, पृष्ठ संख्या 27, 28
5. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोष, पृष्ठ संख्या 102
6. तिवारी, सियाराम, साहित्यशास्त्र और काव्यभाषा, भूमिका प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1991, पृष्ठ संख्या 69
7. शर्मा, देवेन्द्रनाथ, काव्य के तत्त्व, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1990, पृष्ठ संख्या 142
8. नगेन्द्र, भारतीय साहित्य कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण 1981, पृष्ठ संख्या 213
9. वर्मा, श्याम बहादुर (सम्पादक), प्रभात बहत् हिन्दी शब्दकोश (खण्ड–1), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या 1798
10. सहगल, प्रसिन्नी, गुरु गोबिन्द सिंह और उनका काव्य, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, संस्करण 1965, पृष्ठ संख्या 3

11. शर्मा, देवेन्द्रनाथ, काव्य के तत्त्व, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1990, पृष्ठ संख्या 66
12. https%@@pa-wikipedia-org@s@778

# 'मैं क्यों नहीं?' उपन्यास के संदर्भ में तृतीय लिंगी पात्र

संजीव कुमार मौर्य*

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है। समाज और साहित्य का आपस में घनिष्ठ संबंध है। एक अच्छा साहित्यकार समाज से जुड़ कर अपने साहित्य की रचना करता है। साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों को लिख कर पाठकों के सामने लाने का प्रयास करता है। क्योंकि साहित्यकार भी समाज का एक अंग है। अगर साहित्यकार को अपने समाज में किसी भी वर्ग–विशेष के साथ अगर कोई भेद–भाव दिखाई देता है तो साहित्यकार अपने कलम के माध्यम से उस समस्या को अपनी रचना का विषय बनाता है। प्रत्येक समाज दो स्तम्भों पर खड़ा है पुरुष और स्त्री। लेकिन हमारे समाज में इन दो लिंगो के अलावा भी समाज में एक अन्य लिंग का अस्तित्व भी पाया जाता है जो न तो पूरी तरह से स्त्री है और न ही पूरी तरह पुरुष। समाज में इन्हें तृतीय लिंग, हिजड़ा, किन्नर, नपुंसक, खुसरा, थर्डजेंडर आदि कई उपनामों से बुलाया जाता है।

तृतीय लिंग शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है। तृतीय शब्द का अर्थ है तीसरा और लिंग का अर्थ है किसी की पहचान करना। हम लिंग के द्वारा ये जान सकते हैं कि कौन स्त्री या पुरुष है।

तृतीय लिंगी से अभिप्राय यह है की जो न तो पूर्ण रूप से स्त्री हो और न पूर्ण रूप से पुरुष, ऐसे लोगों को तृतीय लिंगी कहा जाता है। तृतीय लिंगी लोगों को हमारे समाज में कई नामों से बुलाया जाता है जैसे किन्नर, हिजड़ा, खुसरा और छक्का आदि। "अभी कुछ वर्ष पहले माननीय उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में उपरोक्त शब्दों के स्थान पर थर्डजेंडर के नाम से सम्बोधित किया है। इसलिए अब इस समुदाय के लोगों को थर्डजेंडर के नाम से पुकारा जाएगा"[1]

"हिजड़ा उर्दू शब्द है जो अरबी के हिज्र शब्द से लिया गया है। जिसका आशय अपने कबीले को छोड़ना है। अर्थात् घर–परिवार एवं समाज से अलग होना। उर्दू अथवा हिंदी में प्रयुक्त हिजड़ा शब्द को अन्य शब्दों जैसे– हिजिरा, हिजदा, हिजादा, हिजारा और हिजराह शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। उर्दू का ख्वाजा सरा शब्द हिजड़ा का समानार्थी है। दूसरे अन्य शब्द खसुआ और खुसरा है। अंग्रेजी में इसे यनक अथवा हर्मा फ्रोडाइट से जोड़ा जाता है। बंगाली में इन्हें हिजरा, हिजला, हिजरी से सम्बोधित किया जाता है। तेलुगु में उन्हें नपुंसुकुडू, कोज्जा अथवा मादा, तमिल में अली ,अरावनी, अरवन्नी, अरुवनी। पंजाबी मं खुसरा, जंखा, सिंधी में खदरा, गुजराती में पवैया, मराठी में हिजडा, छक्का आदि नामों से जाना जाता है।"[2]

*शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

अभी कुछ वर्ष पहले माननीय उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में उपरोक्त शब्दों के स्थान पर थर्डजेंडर के नाम से सम्बोधित किया है। इसलिए अब इस समुदाय के लोगों को थर्डजेंडर के नाम से पुकारा जाएगा।

"किन्नरों की चार शाखाएं होती है– बुचरा, नीलिमा, मनसा और हंसा। बुचरा जन्मजात हिजड़ा होते है। नीलिमा स्वयं बने , मनसा स्वेच्छा से शामिल तथा हंसा शारीरिक कमी के कारण बने किन्नर है।"[3]

तृतीय लिंगी समाज का एक ऐसा उपेक्षित वर्ग रहा है जिसका समाज में हमेशा से शोषण होता आ रहा है। तृतीय लिंगी वर्ग को जो मूलभूत सुविधायें दी जानी चाहिए उन्हें समाज ने देने से वंचित कर दिया है। तृतीय लिंगी वर्ग भी हमारे समाज का ही अभिन्न अंग है इनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता अतः इनके अस्तित्व पर अब विमर्श की आवश्कता है। जिस कार्य को साहित्य बेहद बेबाकी से कर रहा है।

मैं क्यों नहीं ? उपन्यास में उपन्यासकार ने किन्नरों के जीवन के बारे में लिखा है। किन्नरों को होने वाली समस्याओं को अपने विषय का केंद्र बनाया है। समाज किस तरह से किन्नरों के बारे में सोचता है और हमारा समाज किन्नरों के साथ कैसा व्यवहार करता है यह सब इस उपन्यास में दिखाया गया है। उपन्यास की कथा नरेन्द्र से नाज बने किन्नर की है, जो कि एक पढ़ी लिखी थर्ड जेंडर है और एक अच्छे परिवार से सम्बंधित है। नाज की माँ नाज का पूरा सहयोग करती है और उसको पूरी शिक्षा दिलाती है और अंत में वह एक किन्नर समाज का अध्यक्ष बन जाती है और किन्नरों को अधिकार दिलाने की जी जान से कोशिश करती है। इस उपन्यास में कई सारे तृतीय लिंगी पात्र हैं जिनमें से कुछ पात्र इस प्रकार हैं :– नाज़, रीटा, मीना, रूपा, नैना, रज़िया, हमीदा, शबनम, कमल और जतिन हैं।

इस उपन्यास में उपन्यासकार ने यह बताया गया है कि क्यों किन्नर अपने घर को छोड़ कर बाहर चले जाते है, क्योंकि घर में उनके साथ भेदभाव किया जाता है और घर में इस तरह का वातावरण पैदा कर दिया जाता है, जिसके कारण उनको अपने घर में ही घुटन सी महसूस होने लगती है और अगर माँ अपने बच्चे का सहयोग करे तो उसे भी सुनना पड़ता है "मुझे लेकर माँ को बहुत जली कटी सुनना पड़ता था। घर का यह बदला हुआ वातावरण मन को बहुत दुःख देता था। मुझे स्वयं ही शर्म आने लगी। मैं स्वयं का तिरस्कार करने लगी। एक प्रकार का भय मन में बैठ गया। घर के लोग बाहर निकलते तो मेरा भी मन बाहर जाने को करता था, लेकिन एक अनामिक भय और शरम मुझे बाहर जाने से रोक दिया करती। घरबार मुझे टालने लगा। कई बार माँ सहित सब बाहर जाते, तो मुझे घर में बंद कर बाहर से ताला लगाकर सब जाते थे। बहुत घुटन होती थी। कई बार आत्महत्या का भी विचार मन में आया। लेकिन उसका भी डर लगता था। लेकिन एक दिन आत्महत्या का निश्चय कर मैं घर से बाहर निकल ही पड़ा। अचानक अपनी बिरादरी के लोगों की मुझ पर नज़र पड़ी और मुझे यहाँ लाया गया।"[4]

किन्नर जिस समाज में रहता है उस समाज के लोग हर समय किन्नरों को देखकर मजाक उड़ाते रहते है उनका यह मजाक किन्नरों को किस हद तक मानसिक पीड़ा देता है यह

मैं क्यों नहीं ? उपन्यास में देखा जा सकता है "दीदी, तानें सुनना तो हमारी किस्मत से ही जुड़ा हुआ है!" रीटा ने कहा, "दीदी, हत्यारों के घाव भर जाते हैं, पर ये शब्दों के वार हमेशा मन को कुरेदते रहते हैं!"[5]

अक्सर हमने देखा है या सुना होता है कि जिस घर में किन्नर का जन्म होता है उस घर में शोक बनाया जाता है और उस बच्चे के साथ घर में भेदभाव किया जाता है उस बच्चे को घर से निकाल दिया जाता है या वह बच्चा खुद घर छोड़ कर चला जाता है पर अगर घर का वातावरण अच्छा हो तो ऐसी नौबत नहीं आती और उस घर में उस बच्चे को प्यार भी मिल जाता है और शिक्षा भी मिल जाती है "माँ, मैं हिजड़ा हूँ यह मेरी किस्मत का एक भाग है। किंतु मेरे हिजड़ेपन की आपको शर्म नहीं आई। आपके अधिकार में इस घरबार ने भी कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। यह बात मैं कभी भूल नहीं सकती।"[6] घर से ऐसा सहयोग हर एक किन्नर को नहीं को मिलता।

अगर कोई किन्नर अपने घर से बाहर निकल कर कहीं जाता है तो समाज के सभ्य लोग उसका मजाक उड़ाते है और उनका घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है और वह घर की चार दीवारी में कैद हो जाते है। शिक्षालयों जैसे पवित्र और ज्ञान के मंदिर के रूप में पहचाने जाने वाले स्थल पर भी यह अनुचित व्यवहार किन्नरों का पीछा नहीं छोड़ता। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि, "कॉलेज के विद्यार्थी उसकी खिल्ली उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। जतिन सब कुछ सहता रहा। मन लगाकर पढ़ाई में लीन रहने के प्रयास करता रहा। जब सब बर्दाश्त से बाहर हो गया तो एक दिन मेरे पास आया और बोला, "मौसी, मैं नहीं जाऊँगा कॉलेज।"[7] अगर देखा जाए तो अगर कोई किन्नर शिक्षा लेने जाता है तो वह केवल उपहास का पात्र बन जाता है।

हमारा समाज तो किन्नरों का शोषण तो करता ही है पर कहीं–कहीं उनका शोषण उनके गुरु द्वारा भी किया जाता है। इस उपन्यास में हमीदा नामक एक पात्र है जो अपनी शिष्या रेशमा से धंधा करवाती है और गुरु और शिष्या वाली परम्परा को कलंकित करती है "हमीदा, गुरु सबका कल्याण सोचता है। लेकिन तूने उनको आधार देना छोड़, तु तो खुद का पेट भरने के लिए उनसे धंधा करवाती है। जो इनकार करती है उसे तू मारपीट करती है। खुद हमेशा नशे में डूबी रहती है। हमीदा, ये सब तेरे बारे में सुनके बहुत बुरा लगता है। शुरू–शुरू में तेरे बारे में बहुत अच्छी अच्छी खबरें सुनी थीं। सुनके बहुत अच्छा लगता था। लेकिन तेरी बुराई बढ़ती जा रही है। इसलिए आज तेरे फैसले के वास्ते मीटिंग बुलाई है।"[8] इस तरह के शोषण करने से हमीदा को उसकी गुरु की पदवी से निकाल दिया जाता है और उसे बस्ती से भी निकाल दिया जाता है।

किन्नरों का जहाँ समाज में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शोषण किया जाता है। वहीं पर पुलिस भी किन्नर का शारीरिक शोषण करती है। इस उपन्यास में रीटा नामक एक पात्र का पुलिस द्वारा शारीरिक शोषण किया जाता है जब वह पुलिस से मदद माँगने जाती है और तब उसका शारीरिक शोषण किया जाता है रीटा अपने आप को बचाने की कोशिश करती है पर "रीटा की शोचनीय छटपटाहट व्यर्थ साबित हुई। उसका चीखना, चिल्लाना, आक्रोश चौकी के बाहर

सुनाई दे रहा था। कुछ देर बाद रीटा, रोती सिसकती चौकी से बाहर निकली। मसले हुए कपड़ों और बिखरे बालों का भी उसे कोई होश नहीं रहा।"[9] उपन्यासकार ने इस उपन्यास में यह बताने की कोशिश की गई है कि अगर किन्नरों का पुलिस द्वारा भी शोषण किया जाएगा तो फिर किन्नर पुलिस से न्याय माँगने जा सकेगा या नहीं ?

समाज के साथ–साथ राज्य भी किन्नर समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं स्वीकारती क्योंकि सरकार को हर वर्ग की याद चुनाव के समय आती है। चुनाव के समय आकर हम सब से वोट मांगने आ जाते है पर उसके बाद कोई नहीं आता हमसे मिलने और कोई हमें राज्य की और से सुख सुविधा भी नहीं दी जाती हम तों सिर्फ वोट देने के लिए एक वोट बैंक है। नाज़ और मंत्री के बीच एक संवाद नाज़ हँसी। बोली, "सर, सच कहा आपने! लेकिन चुनाव पास आते ही सभ्यता का कैसा मुखौटा पहन लेते हैं ये सब! उस समय हमारा हिजड़ापन आड़े नहीं आता। हिजड़ों के मत तब बेहद कीमती हो जाते हैं ना? एक बार विधायक या मंत्री बने नहीं कि कैसा नशा चढ़ जाता है ना? सत्ता मिलते ही, तरह–तरह के धंधे करते हैं। चोरी छिपे लाखों की प्रॉपर्टी के मालिक बन बैठते हैं। हम तो मात्र मतदान के लिए नागरिक हैं, सर! हमारे प्रश्नों की किसे पड़ी है। हम तो बस एक मजाक बनकर रह जाते हैं!!"[10] इस तरह से हम देखते है कि मंत्री भी किन्नरों के साथ राजनीति खेलते है और किन्नरों को सिर्फ अपना वोट बैंक समझते है।

किन्नरों का जीना काफी मुश्किल होता है क्योंकि समाज उनके नकार देता है। पर अगर किन्नरों को शिक्षा दी जाए और परिवार का प्यार मिले तो वह जीवन के लिए एक सकारात्मक सोच रखते हैं और अपने जीवन से प्यार करते है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में एक नाज़ नामक पात्र है जो कि पढ़ी लिखी है अपने जीवन को खुशी से जीती है और अपने आप को स्वीकार करती है और शबनम को भी खुशी से जीवन जीने को कहती है "नर–नारी के अतिरिक्त जब तीसरी जाति का जन्म होता है तो, दोष भगवान को क्यों दिया जाए? देखो ना, इंसान के अतिरिक्त प्रकृति की अन्य कोई जाति किसी प्रकार की शिकायत नहीं करती। जो जीवन नसीब हुआ है, उसे अच्छी तरह से जीने का प्रयास करना चाहिए। जन्म लेना अपने हाथ में ना सही, लेकिन उसे अच्छी तरह से जीना तो अपने हाथ में है ना!"[11] इस आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य को अपना जीवन खुशी के साथ जीना चाहिए और जैसा जीवन भगवान ने दिया है उसको स्वीकार करना चाहिए।

अक्सर हमने देखा है कि किन्नर अपना पेट भरने के लिए भीख माँगते है या नाच कर अपना जीवन निर्वाह करते है। जब कोई किन्नर भीख माँगता है तो वह अपनी खुशी से भीख नहीं माँगता क्योंकि उनको कहीं रोजगार नहीं मिलता इसलिए मज़बूरी में भीख माँगनी पड़ती है। पर कई किन्नरों में स्वाभिमान की भावना होती है वह चाहती है कि उन्हें भी काम दिया जाए। इस उपन्यास में यह बात बताई गई है "दीदी, ये तालियाँ पीटना, भीख माँगना मुझे अच्छा नहीं लगता। उससे अच्छा मुझे कोई नौकरी दे दो ना!"[12]

समाज में हर वर्ग को सभी चिकित्सक सुख सुविधायें प्रदान की गई हैं अगर कोई बीमार होता है तो वह अपना ईलाज करवाने के लिए अस्पताल जा सकता है। पर अगर कोई किन्नर

अपना ईलाज करवाने अस्पताल चले जाता है तो समाज में रहने वाले लोग इनका मजाक बनाकर इनका अपमान करते है। इस उपन्यास में जब रीटा और रज़िया माँ को अस्पताल ले कर जाती है तो इनका मजाक बनाया जाता है "साला इन हिजड़ों के लिए अलग से अस्पताल क्यों नहीं बनाते पता नहीं? घिनौनी जात! इनको तो देखते ही खोपड़ी खिसक जाती है!"13

अगर समाज में कोई अपराध करता है तो कानून द्वारा उनको दण्ड दिया जाता है अगर अपराधी पुरुष होता है तो उसको पुरुषों की जेल में डाल दिया जाता है और यदि अपराधी महिला होती है तो उसको महिलाओं की जेल में डाल दिया जाता है पर सरकार द्वारा आज तक किन्नर वर्ग द्वारा किए जाने वाले अपराधों के लिए अलग से जेल व्यवस्था नहीं की गई है इस व्यवस्था पर उपन्यासकार ने सवाल उठाया है जब नाज़ अपने साथियों को छुड़ाने के लिए जेल जाती है तो जेल के साहब को कहती है कि "साहब, पुरूषों के लिए अलग लॉकअप, महिलाओं के लिए अलग। फ़िर हम जैसे किन्नरों के लिए अलग लॉकअप क्यों नहीं?"[14]

समाज में किन्नरों का मान–सम्मान या तो शादी जैसे शुभ समारोह पर किया जाता है या फ़िर बच्चे के जन्म के समय जब वे नेग लेने जाते हैं तब उनका सम्मान किया जाता है उसके बाद कोई भी किन्नरों के साथ अपना मेल जोल नहीं बढ़ाता और उनको अपने घर नहीं आने देता। समाज उनसे अपना संपर्क तोड़ लेता है इस उपन्यास में नाज़ मंत्री से संवाद करते हुए कहती है, "मैं शांत हूँ सर, पर मन की अपनी व्यथा आपके सिवाय और किसके सामने रखूँ? सर, ये दुनिया कितनी स्वार्थी है देखिए, बधाई के लिए हमें सम्मानपूर्वक बुलाया जाता है, बच्चे के जन्म के बाद बड़े विश्वास के साथ हमारे हाथों में रखा जाता है। उसे खिलाने के लिए। क्यों? इसलिए कि हिजड़े के हाथ में बच्चा देना शुभ माना जाता है, और अन्य अवसरों पर हिजड़ों के माथे गंदगी की मुहर लगाई जाती है! ऐसा विरोधाभास कहीं और देखने को मिल सकता है? साले भूखे लालची, चले हैं हमें सीख देने। इन सालों को बेनकाब कर बीच चौराहे पर लटकाना चाहिए..."[15] यहाँ पर उपन्यासकार ने समाज में किन्नरों की वास्तविक स्थिति दिखाने की कोशिश की है कि समाज कैसे थर्ड जेंडर के अस्तित्व को नकार देता है उनको सिर्फ शुभ अवसरों तक ही सीमित रखना चाहता है।

अगर समाज में देखा जाए तो अधिकांश किन्नर शिक्षाविहीन हैं क्योंकि अगर कोई किन्नर शिक्षा लेने जाता है तो समाज और विद्यालय और कॉलेज में उसका उपहास बना दिया जाता है। जिसके कारण वे शिक्षा से दूर हो जाते है पर यदि अगर कोई किन्नर समाज, विद्यालय और कॉलेज का उपहास छोड़ कर अगर अपनी पढाई करता है, तो वह कामयाब जरुर होता है उदाहरण के लिए मनोबी बंद्योपाध्याय जो कि एक ट्रांसजेंडर है और कॉलेज की एक प्रिंसिपल है। इस उपन्यास में एक पात्र नाज़ है जो कि शिक्षित है और किन्नर समाज की अध्यक्षा है और किन्नरों के अधिकारों के लिए लड़ती है और कोर्ट जाती है कोर्ट में भी उसका उपहास किया जाता है लेकिन नाज़ ने अपना संयम टूटने नहीं दिया। न्यायाधीश जी की ओर देखते हुए नाज़ ने कहा, "मीलॉड, हमें श्मशान भूमि के लिए जगह मिले। हमें भी गोद लेने का अधिकार मिले और बड़े बूढों को जैसे पेन्शन मिलती है वैसे ही हमारी जाति के बूढों को भी पेन्शन मिले।"[16]

नाज़ ने जज साहब के पास किन्नर समुदाय के बहुत से अधिकार माँगने की कोशिश की और जज के सामने एक अपना बहुमूल्य विचार रखा "कि जिस घर में हिजड़ा जन्म लेता है, उसके घरवालों को ही उसका पालन पोषण करना अनिवार्य करें। यदि वह सड़कों पर पाया गया तो उसके माता–पिता को अपराधी करार दिया जाए।"[17] किन्नर के रूप में जन्म लेना कोई भी नहीं चाहता पर जब किसी के घर में किन्नर का जन्म हो जाता है, तों उसके माता–पिता घर में उस बच्चे का शोषण करते है अगर ध्यान से देखा जाए तो इसमें गलती न माता–पिता की है और न ही उस बच्चे की। फिर भी उस बच्चे को अपनाने की बजाएं उसको घर से निकल दिया जाता है यहाँ पर उपन्यासकार ने काफी गंभीर प्रश्न उठाया है।

अंततः हम यह कह सकते हैं की तृतीय लिंगी पात्रों का जीवन समस्याओं से भरा हुआ है कोई भी उनको अपने साथ नहीं रखना चाहता समाज उनको अपने से अलग मानता है समाज में तृतीय लिंगी पात्रों का शोषण आम लोगों के साथ–साथ पुलिस द्वारा भी शोषण किया जाता है। शिक्षा के स्तर और हॉस्पिटल के स्तर पर भी इनका शोषण किया जाता है। उपन्यासकार ने यह दिखाया है कि नाज़ जो कि शिक्षित है और अपने अधिकारों के लिए न्यायलय तक जाती है और अपने अधिकार मांगती है।

**संदर्भ सूची** –


1. खान, डॉ. एम. फ़िरोज (संपा.), थर्ड जेंडर अनुदित कहानियाँ, कानपुर : अनुसंधान पब्लिशर्स, 2017 पृ. सं 6
2. खान, डॉ. एम. फ़िरोज (संपा.), थर्ड जेंडर अनुदित कहानियाँ, कानपुर : अनुसंधान पब्लिशर्स, 2017 पृ. सं. 6
3. मेहरा, डॉ. दिलीप, 'हिंदी साहित्य में किन्नर जीवन' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण 2019), पृ. सं. 13
4. नाईक मदन पारू (पहला संस्करण 2012), मैं क्यों नहीं ?, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 131, 132
5. वही, पृ. सं. 78
6. वही, पृ. सं. 81–82
7. वही, पृ. सं. 111
8. वही, पृ. सं. 94–95
9. वही, पृ. सं. 44
10. वही, पृ. सं. 15–16
11. वही, पृ. सं. 32
12. वही, पृ. सं. 132
13. वही, पृ. सं. 60
14. वही, पृ. सं. 51
15. वही, पृ. सं. 18
16. वही, पृ. सं. 147
17. वही, पृ. सं. 155

# 'भिखारिन' और 'काबुलीवाला' कहानी का प्रोक्तिय विश्लेषण

मनजिंदर कौर*

सामाजिक व्यव्हार के लिए भाषा अनिवार्य है। विचारों का सम्प्रेषण समाज के व्यक्तियों में भाषा के द्वारा होता है अतएव भाषा सर्वश्रेष्ठ सामाजिक संस्था है। भाषा मानवी प्रगति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। संस्कृति बहुविध होती है और इस बहुविध संस्कृति को जोड़ने वाला धागा भाषा है।[1]

भाषाविदों के अनुसार भाषा की न्यूनतम इकाई ध्वनि है, जिसका लिखित रूप वर्ण है। वर्ण से शब्द, शब्द से पद, पद से वाक्य बनते हैं।[2] भाषा विज्ञान में विश्लेषण का आधार वाक्य स्तर तक ही सीमित कर दिया जाता है। शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण में शैलिविज्ञानिकों ने इस विश्लेषण के आधार को वाक्य से आगे प्रोक्ति स्तर तक पहुंचाया है।

किसी भी कार्य को करने की विशिष्ट ढंग का नाम शैली है।[3] भाषिक अभिव्यक्ति के विशिष्ठ ढंग को शैली कहते हैं।[4] शैली अभिव्यक्ति के ढंग से अलग होती है। इसका सम्बन्ध शैलीकार के व्यक्तित्व से होता है। हर व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व अन्य लोगों से अलग होता है और उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी अभिव्यंजना पद्धति भी होती है। इस प्रकार शैलीविज्ञान, कृति की भाषा अर्थात उसके भाषिक निकाय के माध्यम से कृति को देखता है। कृति भाषिक दृष्टि से क्या है? प्रोक्ति अथवा छोटी–छोटी प्रोक्तियों से सुसमायोजित एक बड़ी प्रोक्ति और प्रोक्ति क्या है? वाक्यों का समूह। वाक्य क्या है? रूपों का समूह। रूप क्या है? शब्द और सम्ब्न्ध तत्व का समूह। और शब्द तथा सम्बंध्तत्व क्या है? ध्वनियों का समूह। और ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य आदि मिल जुलकर प्रोक्ति के स्तर पर अभिव्यक्ति किसकी करते हैं? अर्थ की। इसलिए शैलीविज्ञान की शाखाएं हो सकती हैं– प्रोक्तिय शैलीविज्ञान, वाक्यीय शैलीविज्ञान, रुपीय शैलीविज्ञान, शब्दीय शैलीविज्ञान, ध्वनीय शैलीविज्ञान तथा अर्थीय शैलीविज्ञान।

'प्रोक्ति' के मूल अंग्रेजी शब्द 'डिस्कोर्स' (Discourse) 'अटरेंस' (Utterance) है। 'प्रोक्ति' दोनों का हिंदी रूपांतर है।[5]

यानि पहले के भाषाविद इस बात से सहमत रहे की वाक्य ही भाषा की आधारभूत इकाई होती है। वाक्य से मंतव्य पूरा हो जाता है। अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र होने की वजह से वाक्य भाषिक विश्लेषण का मूलभूत आधार बन जाता है परन्तु विचारों के आदान– प्रदान के लिए केवल वाक्य पर्याप्त नहीं होते, पूर्ण सम्प्रेषण के लिए वाक्य की सीमा को पार करना पड़ता है। प्रकरण और संदर्भ सहित संप्रेषण करने के लिए सुसंबद्ध वाक्यों का उपयोग करना पड़ता है। सुसंबद्ध वाक्यों के सम्प्रेषण के लिए प्रोक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है।'एक प्रोक्ति उस अर्थवत्ता और साभिप्रायता

*शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

को उजागर करती है जो बिखरे हुए वाक्यों में उजागर नहीं हो सकती, शब्दों का एक अनुक्रम जो एक अस्वीकार्य वाक्य का प्रकटन होता है एक सम्पूर्ण संरचना में ही स्वीकार्य हो सकता है।'[6]

रवीन्द्रनाथ टैगोर उन साहित्यकारों में से हैं जिन्हें भाषा स्थान, काल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। बांग्ला कथा–साहित्य को ही नहीं, भारतीय कथा–साहित्य को उन्होंने गहरे तक प्रभावित किया है। अपनी कहानियों में रवीन्द्रनाथ अनुपम हैं। उन्होंने एक हजार से भी अधिक कविताएँ लिखी हैं और दो हजार से भी अधिक गीतों की रचना की है। इसके अलावा कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, धर्म, राजनीती और साहित्य पर कई निबंध लिखे। उनका बाल साहित्य भी उच्चकोटि का है। इसके अतिरिक्त वे एक संगीतकार, अभिनेता, गायक और जादूगर भी थे। आज भी बंगाल में उनके गीत संगीत के बगैर कोई समारोह शुरू नहीं होता। उनके लिखे गीत दो देशों के राष्ट्रगान हैं–एक भारत और दूसरा बांग्लादेश। उनकी कीर्ति अक्षय कीर्ति है। रचना के प्रत्येक क्षेत्र में और सर्जना के हर प्रस्थान पर वे अपनी कृतियों से न केवल परवर्ती पीढ़ी के लिए बल्कि अपने समकालीनों के लिए भी शिखर व्यक्तित्व और प्रेरक स्तंभ बन गये हैं।

**भिखारिन कहानी का परिचयः–**

भिखारिन कहानी का कथानक तीन भागों में बंटा है।पहले भाग में बनारस काशी मंदिर के सामने एक अंधी भिखारिन भीख मांग रही है। वह मंदिर में आने जाने वालों से कहती है–'बाबू जी, अंधी पर दया हो जाये। 'आने जाने वाले दो चार पैसे उसके हाथ में रख ही देते हैं। इसी भाग में अंधी, मंदिर के दयालुओं और झिडकी देनेवाले राहगीरों के अलावा एक बच्चे से भी परिचय कराया जाता है। बच्चा कौन है? किसका है? कहाँ से आया? इस बात से कोई परिचित नहीं था। इस भाग के अंत में एक हांड़ी से भी परिचय कराया जाता है। जिसको अंधी ने झोंपड़ी में गाड़ रखा है। अंधी संध्या–समय जो कुछ मांगकर लाती उसमें डाल देती। दूसरे भाग में काशी के सेठ बनारसी दास से परिचय कराया जाता है, जो की बहुत बड़े धर्मात्मा हैं। सैंकड़ों भिखारी अपनी जमा पूंजी इन्ही के पास जमा कर जाते। अंधी को भी यह बात ज्ञात थी इसीलिए उसने भी सेठ जी के पास अपनी पूंजी जमा करवा दी। तीसरे भाग में एक दुखद–सुखद मोड़ उपस्थित किया गया है। अंधी का पालित सात वर्षीय पुत्र बीमार पड़ता है। अंधी के हर संभव प्रयत्न करने पर भी जब वो ठीक नहीं होता तब वह डॉक्टर के इलाज से फायदा हो जाये एस विचार से सेठ जी के पास अपनी रखी पूंजी मांगने जाती है परन्तु सेठ साफ़ मुकर जाता है। अंत में जब सेठ को पता चलता है की वो उसका ही बेटा है जो सात वर्ष पहले मेले में खो गया था तब वह उसको बचाने का हर संभव प्रयत्न करता है और अंधी से अपने अपराध की माफ़ी भी मांगता है।

**भिखारिन कहानी का प्रोक्तिय विश्लेषण** :–

**चयन :–** चयन का अर्थ है 'चुनना' अर्थात एकाधिक में किसी एक को चुन लेना। शैलीविज्ञान में इसका अर्थ होगा किसी भाषा में प्राप्त एकाधिक इकाईयों या व्यवस्थायों में अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी एक को चुन लेना।

**उद्धरण** :– 'परन्तु पत्थर में जोंक न लगी'[7]

**विवेचन** :– प्रस्तुत पंक्ति रविन्द्रनाथ टैगोर की भिखारिन कहानी से ली गयी है। इस कहानी में एक अंधी भिखारिन भीख मांगकर अपना और अपने पुत्र का पेट पालती है। कहानी के दूसरे भाग में सेठ बनारसीदास से परिचय करवाया जाता है, जो की बहुत बड़े व्यक्ति, देशभक्त और धर्मात्मा हैं। सैंकड़ों भिखारी उनके पास अपनी पूंजी जमा कर जाते हैं इसलिए अंधी ने भी अपनी पूंजी जमा करवा दी। तीसरे भाग में अंधी का पुत्र बीमार पड़ता है और वह उसके इलाज के लिए गिरती पड़ती सेठ जी से अपनी पूंजी में से कुछ रूपये की मदद मांगती है परन्तु सेठ साफ़ मना कर देता है की उसकी कोई पूंजी यहाँ जमा नहीं है। इसी संदर्भ में इस पूरी स्तिथि की पूर्ण साभिप्रयता अभिव्यक्त करने के लिए लेखक इस प्रोक्ति का चुनाव करता है।

आश्चर्य होता है की एक धर्मात्मा सेठ एक भिखारिन के पैसे देने से मुकर जाता है। बीमारी, लाचारी भी उसे पिघला नहीं पाती। धन सभी भावनाओं पर भारी हो जाता है। वित्त–हरण से पत्थर हुआ चित्त पसीजता नहीं। लेखक के यहाँ इस प्रोक्ति के चुनाव का मंतव्य यह दिखाना है की जोकि जीवधारियों के तन पर लगती है, क्योंकि वह खून पीती है। खून पीकर भी जोंक लचकदार बनी रहती है। आदमी खून पीकर पत्थर हो जाता है इसलिए जोंक से भी बड़ा चूषक है।

**समानांतरता**:– समानांतरता से अभिप्राय है, किसी रचना में समान या विरोधी भाषिक इकाइयों का समानांतर प्रयोग।

**प्रोक्ति**:–स्तरीय समानांतरता:– जब दो या दो से अधिक विरोधी भाषिक इकाईयां साथ–साथ आती हैं वहाँ प्रोक्ति–स्तरीय समानांतरता होती है।

**उद्धरण**:–"मरता है तो मरने दो, मैं भी मर रही हूँ।हम दोनों स्वर्ग लोक में फिर माँ–बेटे की तरह मिल जायंगे। इस लोक में सुख नहीं है, वहाँ मेरा बेटा सुख से रहेगा। मैं वहाँ उसकी सुचारू रूप से सेवा सुश्रुषा करूंगी।"[8]

**विवेचन** :–यह पंक्ति बुढ़िया द्वारा सेठ जी को कही गयी है। जब सेठ जी अंधी को बच्चे के इलाज के लिए उसकी पूंजी नहीं देते तब वह सेठ के दरवाजे पर धरना दे बैठती है। सेठ बुढ़िया को भगाने के लिए जब आता है तब उसकी नजर बच्चे पर पड़ती है। सात वर्ष पहले मेले में खोये अपने बच्चे की सूरत उस अंधी के पालित पुत्र से मिलती है। वह जांघ के एक चिन्ह से उसे पहचान लेता है और अंधी से अपना बच्चा छीन लेता है। और डॉक्टर को बुलाकर तुरंत उसका इलाज करवाता है। जब बालक ज्वर मुक्त होता है और होश में आता है तो वह अंधी माँ को ही पूकारता है, और माँ के न दिखने पर उसका स्वास्थ्य फिर से बिगड़ने लगता है। इस पर लाचार होकर सेठ अंधी के पास उसको बुलाने जाता है और कहता है की बुढ़िया तेरा बच्चा मर रहा है। इसी संदर्भ में बुढ़िया यह प्रोक्ति कहती है जिसमें विरोधामूलक समानांतरता है। वह एक तरफ कहती है की मरता है तो मरने दो, मैं भी मर रही हूँ परन्तु दुसरे ही क्षण अपनी ममता के कारण कहती है–हम दोनों स्वर्ग लोक में फिर माँ–बेटे की तरह मिल जायंगे।

इस प्रोक्ति में बुढ़िया की जो विवशता है वह उजागर होती है। धर्मात्मा, धर्मजीवी,ध्यानी और दानी के रूप में प्रसिध्द सेठ का यह चरित्र देखकर बुढ़िया दंग रह जाती है। अंधी का हृदय

पूरी तरह टूट चूका है, वह निराश हो गयी है क्योंकि वह चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती। वह यह बात बहुत अच्छे से जानती है की वह एक अंधी भिखारिन है जिसका भगवान के इलावा कोई नही है और वो चाहकर भी सेठ से नहीं लड़ सकती। सेठ अमीर है और वो अंधी के पैसे लेकर मुकर गया है यह पता होते भी वे लाचार है इसलिए सेठ के पूंजी देने से मुकर जाने के बाद वह लाचार होकर सेठ को कोसती हुई वहाँ से चली जाती है। उसका पालित पुत्र जो उसके जीवन का एकमात्र सहारा था उसको भी वह उससे छीन लेता है इसिलए बुढ़िया सेठ के यह कहने पर की उसका पुत्र मर रहा है वह कहती है मरता है तो मरने दो। उसके इस कथन से उसकी विवशता साफ़ प्रकट होती है। वह सोचती है के जीते जी न सही परन्तु मर के हम जरूर मिलंगे।

**विरलता** :– विरलता तब उपस्थित होती है जब समानांतरता, विचलन और विपथन– तीनों में कोई भी अभिलक्षण क्रियाशील नहीं होते हैं।

**प्रोक्ति–स्तर** :– जब प्रोक्ति स्तर पर रचनाकार कोई प्रोक्ति प्रस्तुत करता है, जो न तो पूरी रचना में आवर्तित होती है, न ही व्याकरणिकता या अस्वीकार्यता के आधार पर विचलित होती है और न ही रचनाकार के किसी मानक को अतिक्रमित करने के कारण विचलित, तब विरलता उपस्थित होती है।

**उद्धरण** :– "इसमें तुम्हारे धरोहर है, तुम्हारे रूपये। मेरा अपराध"[9]

**विवेचन** :–यह पंक्ति बुढ़िया की सेठ जी से कही गयी है। जब उसका पुत्र ठीक हो जाता है तो लज्जावश सेठ बुढ़िया की जमा पूंजी उसको दे देता है और अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। परन्तु अंधी उस पूंजी की थैली को लेने से यह कहकर मना कर देती है की यह पैसे तो मैंने तुम्हारे बेटे मोहन के लिए बचा कर रखे थे, यह उसी को दे देना।

यहाँ इस प्रोक्ति की साभिप्रायता यह है की वह अंधी एक भिखारिन होते हुए भी सेठ से महान थी। इस समय सेठ याचक था और वह दाता थी। इस प्रोक्ति में लेखक ने पूर्ण साभिप्रायता को व्यक्त करने के लिए विरलता का सहारा लिया है। इसलिए यहाँ प्रोक्ति–स्तरीय विरलता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत है।

**काबुलीवाला कहानी का परिचय**:–

काबुलीवाला रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक प्रसिद्द कहानी है। यह कहानी काबुलीवाला और छोटी बच्ची के आसपास घुमती है। काबुलीवाला एक पठान है जो सामान बेचने कलकत्ता आता है। काबुलीवाला मिनी से ही अपनी पुत्री के स्नेह की पूर्ति करता है। वह मिनी की हर एक बात को खुशी से और बड़े ही धैर्य से सुनता है दोनों के बीच बड़ा ही प्रेम रहता है। एक दिन किसी अपराध के कारन काबुलीवाले को आठ साल के लिए जेल जाना पड़ता है। जब वह लम्बी सजा भुगत कर लौटता है, तो मिनी बड़ी हो चुकी होती है परन्तु काबुलीवाले के लिए वह अभी भी छोटी बच्ची ही है? वह उसके घर उससे मिलने जाता है परन्तु अब मिनी उसे पहचानती भी नही है। यह स्तिथि काबुलीवाले के लिए बहुत दुखदाई है। फिर उसे अपनी बेटी का ध्यान आता है और वह सोचता है की इतने वर्षों में वह भी तो बड़ी हो गयी होगी और अब वह भी उसको नहीं पहचानेगी। मिनी के पिता काबुलीवाले को कुछ पैसे देते है और घर लौट जाने को कहते हैं।

**काबुलीवाला कहानी का प्रोक्तिय विश्लेषण** :–

**उद्धरण** :– "क्या कभी किसी का लड़का नहीं चुराया गया? क्या काबुल में गुलाम नहीं बिकते? क्या एक लम्बे–तगड़े काबुली के लिए एक छोटे बच्चे का उठा ले जाना असंभव है?"[10]

**विवेचन** :–यह प्रोक्ति मिनी की माँ द्वारा मिनी के पिता से कही गयी है, जिसमें समतामूलक समानांतरता है। जब रचना में किसी की आवृति होती है, तब वहाँ प्रोक्ति स्तर की समतामूलक समानांतरता उपस्थित होती है। मिनी के पिता का मानना है की मिनी की माँ बड़ी वहमी तबीयत की है इसलिए उसे रहमत का मिनी से बातचीत करना पसंद नहीं था। वह अपने पति से उसपर नजर रकने का अनुरोध करती है परन्तु जब मिनी के पिता उसके शक को परिहास के आवरण से ढकना चाहते हैं तो वह उनसे एक साथ कई सवाल पूछ बैठती है। उसका इस तरह सवाल करना उसके भय को प्रकट करता है। उसके विचार से यह दुनिया इस छोर से उस छोर तक चोर–डकैत, शराबी और बुरे लोगों से भरी पड़ी है इसलिए वह किसी अजनबी पर भरोसा नहीं करती। भरोसा करने की शक्ति सब में समान नहीं होती इसलिए मिनी की माँ के मन का यह भय ठीक ही है और इस भय के कारण वह चाहती है कि मिनी उस काबुली वाले से दूर रहे।

**उद्धरण** :– 'अँधेरे में वह घर के कोने में उस ढीले–ढाले जमा–पजामा पहने, झोली वाले लम्बे–तगड़े आदमी को देखकर सचमुच ही मन में अचानक भय–सा पैदा हो जाता है। लेकिन,जब देखता हूँ की मिनी 'ओ काबुल वाला' पुकारती हुई हंसती–हंसती दौड़ आती है और दो भिन्न–भिन्न आयु के असम मित्रों में वही पुराना हास–परिहास चलने लगता है, तबमेरा सारा हृदय खुशी से नाच उठता है।'[11]

**विवेचन** :– प्रस्तुत पंक्ति में विरोधामूलक समानांतरता है। इसमें एक ओर तो मिन्नी के पिता के मन में अचानक उस काबुलीवाले के प्रति भय–सा पैदा हो जाता है परन्तु दुसरे ही पल वह कहते हैं की जब वह अपनी बेटी को काबुलीवाले के साथ हँसता–खेलता देखते हैं तो उनको अत्यंत ही खुशी मिलती है। पिता होने के नाते उस लम्बे–तगड़े अजनबी को देखकर भयभीत हो जाना जायज है। वह एक अफगानी पठान है जो सूखे मेवे बेचने के लिए कलकत्ता जाता है। इस तरह किसी पर भरोसा करना उनके लिए कठिन है। परन्तु जब वह देखते है की इन दोनों की आयु में इतनी भिन्नता होने पर भी इनमें कितना प्रेम और एक दुसरे के प्रति विश्वास है तब उनका हृदय खुशी से झूम उठता है और मन जो एक पल के लिए भयभीत हो गया था खुशी में नाचने लगता है। मानव हृदय से उत्पन्न होने वाले रिश्तों के संवेदनशील भावनाओं का चित्रण ही इसकी पूर्ण साभिप्रायता है।

**उद्धरण**:–" रहमत, तुम देश चले जाओ, अपनी लड़की के पास। तुम दोनों के मिलन–सुख से मेरी मिन्नी सुख पायेगी।"[12]

**विवेचन** :– यह पंक्ति मिनी के पिता द्वारा रहमत से कही गयी है। यह विरलता का बहुत अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। जब काबुलीवाला एक लम्बी सजा भुगत कर आता है तब वह मिनी को देखने की चाह से उसके घर जाता है परन्तु मिनी अब बड़ी हो चुकी है। उसका विवाह तय हो चुका है। रहमत को शायद यही विश्वास था की मिनी अब तक वैसी ही बच्ची है। जब वह मिनी

से मिलता है तब वह देखता है कि वह बड़ी हो गयी है। फिर एकाएक उसको याद आता है कि उसकी बेटी भी इतने दिनों में बड़ी हो गयी होगी, और उसके साथ भी उसे अब फिर से जान–पहचान करनी पड़ेगी। उसी समय बिनी के पिता रहमत से यह कहते हैं कि वह अपने देश लौट जाये और अपनी बेटी से मिले। उनदोनों के मिलन–सुख से मिनी को भी सुख मिलेगा। वह एक अफगानी पठान है जो अपनी बेटी के स्मृति–पत्र को छाती से लगाकर, हर वर्ष कलकत्ता की गली–कुचों में सौदा बेचने के लिए आता है और अपने घर परिवार से दूर रहता है और एस बीच उसकी बच्ची की कोमल स्मृतियाँ ही उसके बिछड़े हुए विशाल वक्षः स्थल में अमृत उड़ेलती है।

**संदर्भ सूची** :–


1. कलावडे डॉ. सुधाकर, भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा, साहित्य रत्नालाप प्रकाशन महराष्ट्र, पृष्ठ ५००.
2. शर्मा देवेन्द्ररनाथ, भाषाविज्ञान की भूमिका, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण २००१ .
3. तिवारी भोलानाथ, शैलिविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन दिल्ली, संस्करण १९९७, पृष्ठ ९
4. वही, पृष्ठ ९.
5. शीतांशु, इंदु, प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन, होशियारपुर (पंजाब) संस्करण १९८९, पृष्ठ ९.
6. वही, पृष्ठ १५.
7. टैगोर रवीन्द्रनाथ ,रवीन्द्रनाथ टैगोर की श्रेष्ठ कहानियां (भाग–१), कार्तिक पब्लिकेशन, संस्करण २०१४, पृष्ठ१०६.
8. वही, पृष्ठ १०८.
9. वही, पृष्ठ १०९.
10. टैगोर रवीन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ टैगोर की श्रेष्ठ कहानियाँ (भग–१), कार्तिक पब्लिकेशन, संस्करण २०१४, पृष्ठ ९.
11. वही, पृष्ठ ९.
12. वही, पृष्ठ १४.

# 'घासीराम कोतवाल' की प्रासंगिकता

**नीलम सागर***

साहित्य मानव का दर्पण होता है। साहित्य के माध्यम से मानव जीवन प्रतिबिंबित होता है। मानव जीवन को प्रभावित करने का कार्य साहित्य करता है। साहित्य को जब हम मानवी जीवन का दर्पण मानते है, तब उसमें सामाजिक चेतना के भी दर्शन अवश्य हो जाते हैं। साहित्य और राजनीति का अनन्यसाधारण सम्बन्ध है। आज साहित्य और राजनीति एक–दूसरे के प्रेरक बन गए है। दोनों एक–दूसरे को प्रभावित कर रहे है। राजनीति समाज की दिशा निर्धारित करती है तो समाज राजनीति की। साहित्य पर समाज का गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस देश का साहित्य अच्छा होगा उस देश का समाज अच्छा होगा। जिस देश का समाज अच्छा होगा, उस देश की राजनीति अच्छी होगी।

एक सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जिस समाज में साँस लेता है, जिस युग की राजनीतिक परिवेश में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है उसकी परछाई उसके साहित्य में भी दृष्टिगत होती है। विजय तेंदुलकर के 'घासीराम कोतवाल' नाटक में महाराष्ट्र सरकार से सम्बन्धित समसामयिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। उन्होंने अपने नाटक के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त कुछ ऐसे ज्वलंत विषयों को ही उठाया है। इस नाटक के कथानक के संदर्भ में राजेन्द्र नाथ लिखते है कि "इस बात पर बल देना आवश्यक है कि कुछ नाटकों में शायद महत्त्वपूर्ण सभी नाटकों में कथावस्तु सबसे कम महत्त्वपूर्ण होती है। इस नाटक में एक अत्याचारी शासक के विलासी इतिहास पर जरूरत से ज्यादा बल नहीं देना चाहिए।" ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस नाटक के माध्यम से अपने युग की राजनीतिक विचारधाराओं का चिन्तन–मनन करने के पश्चात् अपने स्वर में उन्होंनें अभिव्यक्ति दी है।

यह नाटक मूलरूप से घासीराम–नाना फड़नवीस के संघर्ष पर आधारित है। लेकिन इनका संघर्ष एक–दुसरे से प्रत्यक्ष रूप से न होकर बल्कि दोनों ही षडयंत्र के तहत एक–दुसरे को अपना अधीनस्थ बनाना चाहते है और नाटक के अंत में इन संघर्ष में नाना साहब विजयी होते है। क्योंकि नाना साहब इस खेल के पुराने खिलाड़ी है। घासीराम जो अपने अपमान का बदला पूना निवासियों को दण्डित करके लेना चाहता है वह नाना की कमजोरी का फायदा उठाते हुए अपनी पुत्री ललिता गौरी के बदले पूना की कोतवाल का पद प्राप्त कर लेता है और उसको ऐसा लगता है कि वह अपनी बेटी को मोहरा बना कर नाना को अपने अधीन कर लेगा वह कहता हैः "चीखकर आ गया, अब मेरी मुट्टी में आ गया–मेरी लाड़ली बेटी–हैवान। मिहरबान! गौर से देखो, कैसे अपनी लाडली बेटी ललिता गौरी को इस दरिन्दे की दावत बनाया है मैनें। देखो इस बाप

***शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।**

को, जो अपनी पेटजाई बेटी से पेशा करता है! देख लो, कैसे मेरी मासूम बिटिया हरजाई हुई जाती है। वो ठूँठ खूसट देखो, कैसे उसकी नरम जवानी को चीथ–चीथकर चाभ रहा है। थूको मुझ पे–मेरे मुहं में पेशाब करो! चीरके दो कर दो मुझे–मगर मैं छोडूंगा नहीं। इस पूना शहर में सुअर का राज कायम करके ही दम लूँगा।"[1]

इस नाटक में नाटककार ने शासक वर्ग की क्रूरता का चित्रण किया है। वह नाना साहब के रूप में ऐसे सत्ताधारी का वर्णन करते है, जिसको आम जनता से कोई सरोकार नहीं है। वह अपनी अय्याशी में ही लिप्त है। इसमें अठारहवीं सदी के शासक के बहाने सत्ता के खेल की जो बात इस नाटक में कही गयी है वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक प्रतीत होता है। ऐसी अन्यायपूर्ण, विलासप्रिय और पतनशील व्यवस्था के कारण ही 'घासीराम' जैसे लोग 'घासीराम' बनने पर विवश होते है। अगर व्यवस्था का यह रूप न होता तो शायद 'घासीराम' जैसा पात्र उभरता ही नहीं। घासीराम पर एक ब्राह्मण द्वारा दक्षिणा चुराने के आरोप के कारण घासीराम को लहूलुहान करके कोठरी में बंदी बना लिया जाता है। जो अपराध उसने किया ही नहीं उसके लिए उसको सजा मिलती है। तब घासीराम कहता की मैं वास्तव में चोर बनूंगा तब सूत्रधार बताता है की तुम चोर तभी बन सकते हो, जब यहाँ के सिपाही तुम्हें चोर बनने दे क्योंकि तुम्हें चोरी का माल का कुछ भाग इन सिपाहियों को भी देना होगा। यदि तुमने उन्हें हिस्सा नहीं दिया तो वे तुम्हें पीट–पीट कर अधमरा कर देंगे। इस प्रकार नाटककार ने समाज के साथ–साथ शासन–वर्ग के अधिकारियों व कर्मचारियों के भ्रष्ट आचरण को दर्शाता है। "अगर सिपाही बहादुर करने दें, तो! चोर आखिर किस पर मुनहसर? सिपाही बहादुर पर! अगर नहीं, तो बेशक हड्डियों कुटावाए, कभी तुड़वाए, बाज दफा जमीन में दफन करवाए। चोर की कमाई में मिहनत औ' मशक्कत; उसी से होती है सिपाही की फोकटिया बरक्कत । चोर को जीना है तो सिपाही परवरदिगार। चोर मामूली चोर; सिपाही सरकारी चोर। चोर को जीना है तो सिपाही को सलाम करे, चोला चढ़ाए, खुश रक्खे। हफ्ते–ब–हफ्ते, बिला नागा। फिर भी, अगर खफा हो जाए, तो प्यारे, तुम्हारा टुकड़ा साफ़ हो जाए।" [2] तब घासीराम प्रतिज्ञा लेता है कि मैं इस नगरी में वापिस आ कर अपना प्रतिशोध लूँगा।

शासक वर्ग अपनी सत्ता कभी नही छोड़ना चाहता उसके लिए वह तरह–तरह के हथकंडे अपनाता है। जिस कारण वह विभिन्न प्रकार की राजनितिक कुचक्र रचता है उन्होंने शासक वर्ग की इस क्रूरता का चित्रण अपने नाटक 'घासीराम कोतवाल' में बहुत सजीवता से किया है। यहाँ सत्ता का प्रतिनिधित्व नाना फड़नवीस है जिसकी राजनीतिक कुचक्र का शिकार घासीराम को बनना पड़ता है, जो की पूना नगरी में रोजगार की तलाश में आया है। जहाँ उसे अपमान के सिवाए कुछ नहीं मिलता है, और वह किसी भी रूप में बस अब अपने अपमान का बदला लेना चाहता है। वह नाना की भोगविलासी प्रवृति को भाप कर अपने 14 वर्षीय पुत्री ललिता गौरी को जरिया बना कर पूना नगरी की कोतवाली प्राप्त कर लेता है। और वह इसको अपनी विजय समझने की भूल करता है लेकिन वह खुद–ब–खुद नाना के दुष्चक्र फसता हुआ चला जाता है।

"नाना : जा घसियारे, कल के छोकरे, तुझे बना दिया हमने कोतवाल! जा नंगा होके नाच, बजा गाल, मगर इस नाना की चाल तू नहीं जानता। अरे मरदूद हमने भरी है बन्दू,

राजनीति वाली, दुनाली। पहले धमाके में चित्त हो जाएगी लजीज तेरी; दुसरे धमाके के साथ नाच उठेगी पुण्य नगरी पूरी। ..... पुख्ता बंदोबस्त करोगे, यो हमारी फिक्र मिटाओगे। हमारी गलतियाँ, भूलें तुम्हारे नाम जमा होंगी, हम महफूज रहेंगे; बदनामियाँ तुम्हारी होंगी। करने को हम, भुगतने को हमारा कोतवाल।"[3]

जब घासीराम के द्वारा जेल में बंद ब्राह्मणों की मृत्यु हो जाती तो उसके विरुद्ध कुचक्र रचने का अवसर प्रदान कर देती है। जब घासीराम को अपनी पुत्री की हत्या के बारे में पता चलता है तो वह नाना का विरोध करता है, और वह नाना से अपना बदला लेना चाहता लेकिन जब नाना को पता चलता है पूना नगरी के ब्राह्मण घासीराम के लिए मृत्युदंड की मांग कर रहे है तो वह उस स्थिति से उबरने के कारण घासीराम को मारने का आदेश दे देता है । जिससे पूना के ब्राह्मण खुश हो जाते है इस प्रकार नाना अपनी राजनीतिक चालों के माध्यम से पूना के ब्राह्मणों को शांत करते हुए घासीराम से छुटकारा भी पा लेता है और सत्ता पर बना रहता है। " सहर पूना के बाम्हनों? सुनना हो! " सहर पूना के बाम्हनो? सुनना हो! पेशवा के परधान सिरिमान नानासाहब फड़नवीस ने अपनी मांग कै मुताबित कुतवाल के वध का हुकुम दिया है। घासीराम का सर मूंडकर सिंदूर छिड़का जाएगा। उसके बाद ऊंट पै उल्टा बिठाके जुलुस निकाला जाएगा, पश्चात् हाथी के पॉव से बाँधकर घुमवाया जायेगा और सबके अंत में सूली पै चढ़ाया जायेगा। हुकुम पेशवा के परधान का कै घासीराम का एक हाथ बाँधकर भीड़ के बीच छोड़ दिया जाये।"[4]

इस नाटक में नाटककार ने अन्याय व अत्याचार पर टिकी शासन–व्यवस्था का चित्रण किया है। साथ ही उसके दुष्परिणामों को भी पाठक वर्ग के समक्ष रखते हुए यह सन्देश देना का प्रयास किया गया है कि ऐसी शासन व्यवस्था किसी के लिए हितकारी नहीं होती है। यहाँ नाना एक शासक के रूप में जनता पर अत्याचार करता है। हम अनुमान लगा सकते कि जहाँ का राजा विलासिता में लिप्त हो वह की जनता और क्षेत्र का विकास कैसे सम्भव हो सकता है। वही जब घासीराम को कोतवाल का पद मिलता है। और वह इस पद को एक ताकत और एक अंहकार के रूप में धारण करता है जिसके परिणामस्वरूप वह पूना की प्रजा पर अत्याचार करना प्रारंभ कर देता है। वह नैतिकता और सुधार के नाम पर जिस 'परमिट राज' की स्थापना करता है वह 'परमिट राज' नागरिकों के जीवन में हस्तक्षेप का माध्यम बन जाता है। उसके इस 'परमिट राज' के कारण जनता के मानवीय औचित्यपूर्ण कार्य पर भी अंकुश लगता है। जिससे जनता बहुत परेशान हो जाती है। उदाहरण के लिए समाज में वेश्यावृति, जाति छिपाना, औरतों की दलाली करना, बात–चीत, गाली देना परायी स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार करना आदि कार्यों को दंडनीय अपराध मानने का नियम तो न्याय संगत है ,परन्तु प्रसव–पीड़ा से छटपटाती पत्नी के लिए दाई को लेने जाने हेतु रात के समय घर से बाहर निकलना, पिता के शव को बिना परमिट जलाने वालों को जेल में बंद कर देना, चोरी करने के वाले अपराधियों को आग में लाल तप्त लोहे के गोले को हाथ में लेकर अग्नि परीक्षा देना आदि से उसके अन्याय व अत्याचार शासन–प्रणाली का बोध होता है। "अपनी बीबी और अपने शौहर को छोड़कर अगर कोई दीगर मर्द औरतों के साथ रंग खेलता हुआ दिखाई दे तो फ़ौरन हिरासत में ले लो। नैतिकता की रक्षा करनी होगी, हर सूरत

नें करनी होगी। बोली बोलते वक्त जो अश्लील शब्द इस्तेमाल करे, उसे बाँधकर मेरे सामने हाजिर करो–चाहे बाम्हन होय। सिर्फ बोली बोल सकते है, गाली नहीं दे सकते। कान खोल के सुनना, परमिट जांचना। समझ गए?"[5]

पूना नगरी के विभिन्न लोगों के दयनीय कथन भी शासक वर्ग के अत्याचारों की पुष्टि करते है–

"गजब हो गया सिरकार, हमारी रच्छा करें। हमारे आदमी को ओर देवर को कोतवाल के सिपाई पकड़ के ले गिए है। मेरे ससुर अन्तै सिधारे हजूर, उनकी अर्थी को चिता पै नई धरने दे रये हैं। बारने का परमिट बनवाया है सिरकार, असली है, उसको जाली कैते हैं। हम क्या करै माई–बाप सुबु से लहास मसान में डली है, कुत्ते जमा हो गिए है– अनदाता, इंसाफ होय।"[6]

जब शासक वर्ग राज्य कानूनों के नाम पर नागरिकों की निजी स्वतन्त्रता का हनन करने लगे तो तानाशाही अपने चरम पर पहुंच जाती है। घासीराम द्वारा चोरी के आरोप में सवा सौ ब्राह्मणों को एक छोटी–सी कोठरी में कैद कर देता है जिसमे बाईस ब्रह्मणों की मृत्यु हो जाती है जिसके कारण उसको मृत्युदंड दे दिया जाता है।

पुरे नाटक में नाना का आचरण उस सामंती व्यवस्था का प्रतीक है जिसमें अपने निजी जीवन का अधिक महत्व है और जहाँ स्त्रियाँ 'वस्तु' से अधिक का अस्तित्व नही रखती। इस लिए नाना हो या घासीराम एक ही सत्ता के प्रतिनिधि है। घासीराम भी अपने व्यक्तिगत प्रतिशोध के लिए अपनी पुत्री को नाना के हवस का शिकार बना कर पूना की कोतवाली हासिल कर लेता है। जब नाना का उसकी पुत्री से मन भर जाता है तो वह उसकी हत्या करवा देता है और घासीराम के समक्ष इसको एक हादसे का रूप देना का स्वांग करते हुए सांत्वना देता हुआ कहता है कि और "हाँ– जो हादसा हो चुका है, उसे दबा जाना, अपने तई रखना। आखिर तुम्हरी आबरू है। दाब तुम्हारा, तभी तो रौब हमारा। पेशवा के कोतवाल के बारे में कोई उल्टी–सीधी जड़ेगा, हमें अच्छा नहीं लगेगा। बात जाहिर न होगी, पोशिदा रखने की जिम्मेदारी हमारी होगी। फिर कोई नामाकूल अगर बकता है ऊल–जलूल तो चुप न रहना, सिर उड़ा के दम लेना। यह बात हम लोगों के बीच रहेगी। पेशवा तक बिल्कुल न पहुँचेगी– ये वादा ले जाओ। अपने काम पर हाजिर हो जाओ जोओ।"[7]

मगर घासीराम के जाते ही छिपाकर रखी हुई ललिता गौरी की लाश को ठिकाने लगाने का आदेश देता है ।

"गौरी की लाश को यहाँ से फौरन हटाओ। नदी में बहा दो समझे? अगर उसकी एक भी हड्डी मिलेगी तो याद रखना। तुम्हारी हड्डियाँ चकनाचूर होंगी।"[8]

इस नाटक में नाना फड़नवीस को एक व्यभिचार शासक के रूप में दर्शाया गया है। वह उस दलदल में इतना फंस गया है कि वह अपने राज्य में हो रही गतिविधियों से भी अनजान बना रहता है। उसे न तो पूना की जनता और न ही समाज से कुछ लेन देना है। उसको तो सिर्फ स्त्री के शरीर की भूख है। इस बात की पुष्टि इस बात से होती है नाटक में उसके सात विवाह की चर्चा हुयी है। "दूसरी और नाना और नयी वधू का प्रवेश। जैसे शय्यागृह में आए हों। नाना की

वधू एक किनारे कापती हुई खड़ी है। नाना सदरी उतारता है। कुरते की बांह मोड़ता है। कामातुर है। वधू के पास जाकर छेड़छाड़ करता है। वह बहुत डर जाती है।.....आओ प्यारी आओ। हमारे पास आओ। हमारे पहलू में समा जाओ। (वह नजदीक नहीं आती) कितना इंतजार कराओगी? (वह डर जाती है) ओहो तुम जो बेवजह शरमाती हो, यकीनन हम पै विजलियाँ गिरता हो (वह मुहं फेर लेती है।) नाजुक बदन हो, लाज क्यों ओढे फिरो? हटाओ भी उतारकर अलग कर दो।"[9]

जिस देश या राज्य का शासक ही अत्याचारी, अन्यायप्रिय, शोषक हो, पतित हो उस देश का नागरिक व समाज की स्थिति भी दयनीय होती है। नाटक के आरंभ में ही ब्रह्मणों का चोरी–छिपे बावनखनी में नर्तकी का नृत्य देखने जाते है। पूछने पर गाली–गलौच व झूठ बोलते है। अंग्रेज अधिकारियों की चाटुकारिता करना, एक–दुसरे से ईर्ष्या रखना और एक–दुसरे पर झूठे आरोप लगाकर फंसाना ये सारे कार्य समाज की पतितावस्था को सिद्ध करता है। इस संदर्भ में नाटककार विजय तेंदुलकर का कथन है कि– "मेरी निगाह में 'घासीराम कोतवाल' एक विशिष्ट समाज स्थिति की ओर संकेत करता है। वह समाज–स्थिति न पुरानी है और न नयी। न वह कोई भौगोलिक सीमा–रेखा में बंधी है, न समय से ही। वह स्थल कालातीत है, इसलिए 'घासीराम' और 'नाना फड़नवीस' भी स्थल–कालातीत है।"

"बावनखनी में बाम्हन रसलिल्ला करै; अरू बाम्हनी घरे, बाम्हन रमी रहयो भजन कीर्तन मैं, जहानम मसान मैं। बाम्हन चितचाव सों दरसन–परसन करै, तहां बाम्हनी बाकी एकांत–सेवन करै"[10]

असमानता, आर्थिक, सामाजिक या सम्मान, पद–प्रतिष्ठा के कारण भी व्यक्ति अपने आपको भ्रष्ट बना लेता है। हरिशंकर परसाई जी अपनी रचनाओं में सामाजिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार एवम् शोषण पर करारा व्यंग्य करते हुए वह लिखते है "इस राजनैतिक पुरुषों की शारीरिक बनावट ही अलग होती है। इन लोगों में कुछ तो अपनी आत्मा को शरीर में या शरीर के बाहर कही भी रख सकते है। कुछ नेताओं का हृदय पेट में होता है, किसी–किसी का टांग में। एक नेता को मैं जनता हूँ जो अपना हृदय नाबदान में रखता है। एक और नेता है जिसकी आत्मा तलुए में रहती है। जब चलता है, आत्मा को कुचलता जाता है।"[11]

इस नाटक में भ्रष्टाचार की समस्या भी हमे देखने को मिलती है। नाना का बिना सोचे समझे अपने स्वार्थ के लिए कोतवाली जैसा पद घासीराम को दे देता है। बिना योग्यता के उसको यह पद दे दिया जाता है। इसका दुष्प्रभाव हमे नाटक में देखने को मिलता है।

"घसियारे, कल छोकरे, तुझे बना दिया हमने कोतवाल! जा, नंगा होके नाच, बजा गाल, मगर इस नाना की चल तू नहीं जनता। अरे मरदूद। .....तू बाहरी परदेशी, हमें तुझे बक्शी है यां की सबसे ऊँची कुर्सी। जानता है क्यों? ताकि तमाम साजिशें खुद–ब–खुद कट जाएँ। बलवाइयों की धज्जियां उड़ जाएँ।"[12]

नाना के रूप में नाटककार ने राजनीतिज्ञों का असली रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। किस प्रकार अवसरवादी राजनीतिज्ञ अपनी कूटनीति और धूर्तता से

घासीराम जैसे व्यक्तियों को पनपने के लिए जमीन तैयार करते है, और जब खुद का पैदा किया राक्षस जब अपने ही ऊपर हावी होने लगता है तो वह उसको खत्म करने का भी सामर्थ्य रखता है। और स्वयं जनता के समक्ष खुद को एक देशप्रेमी और कुशल प्रशासक की तरह प्रस्तुत करता है। जब पूना नगरी के निवासी घासीराम के लिए मृत्युदंड की मांग करने आते है तो नाना कहता है– "धत्तेरे की। इत्ती सी बात। ल कलम ल जल्दी से और कागज–यह लो, दे दो ब्राह्मणों को यह घसिए के वध का हुक्मनामा। कहना संतुष्ट हो और यह भी कह दें कि पहले भरपूर बेइज्जत करें, जाओ।"[13]

इस प्रकार नाना प्रजा के समाने अपनी एक अच्छी छवि रखने में सफल हो जाता है। और घासीराम के द्वारा नाटककार हमें यह भी सन्देश देना चाहते है कि सत्ता की चाहत सभी व्यक्तियों में होती है जो की स्वाभाविक भी है, किन्तु राजनीतिज्ञ इस सत्ता को हथियाने के लिए मासूम व बेगुनाह प्रजा को प्रयोग करते है और स्वयं का स्वार्थ साधने के पश्चात् खुद को उसी प्रजा से सामने निष्पक्ष और निष्ठावान देखने का प्रयास करते है।

राजनीतिक–परिपेक्ष्य में 'घासीराम कोतवाल' आज भी प्रासंगिक है। इस नाटक में तत्कालीन राजनीतिक दाँव–पेंच की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इस रचना के द्वारा नाटककार ने अपने अदम्य साहस, निर्भय और अपने अनुभव को सच्ची ईमानदारी से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस नाटक की रचना उन्होंनें पाठक वर्ग के मनोरंजन हेतु नहीं बल्कि सोचने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से लिखा है। इसमें समकालीन राजनीतिक समस्याओं सत्ताधारी वर्ग व जनसाधारण की स्थिति, सत्तावर्ग द्वारा अपने पद को बनाये रखने के अपनाये जाने वाले घिनौने हथकंडे, सामाजिक विसंगतियों, जनता के नैतिक का पतन आदि को भली–भांति अभिव्यक्त किया गया है।

**संदर्भ सूची** :–

1. घासीराम कोतवाल, अनुवादक वसंत देव, विद्या प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या 41–42,
2. वही, पृष्ठ संख्या 35
3. वही, पृष्ठ संख्या 44–45
4. वही, पृष्ठ संख्या 76
5. वही, पृष्ठ संख्या 53
6. वही, पृष्ठ संख्या 54
7. वही, पृष्ठ संख्या 58
8. वही, पृष्ठ संख्या 69
9. वही, पृष्ठ संख्या 64–65
10. वही, पृष्ठ संख्या 27
11. रानी नागफनी की कहानी, हरिशंकर परसाई, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 70
12. घासीराम कोतवाल, पृष्ट संख्या 54–55
13. वही, पृष्ठ संख्या 76

# 'विषवृक्ष' उपन्यास में सामाजिक विघटन

सुमित*

बंकिमचन्द्र चटर्जी की पहचान बांग्ला कवि, उपन्यासकार, लेखक और पत्रकार के रूप में है। उनकी रचनाओं में समाज की विविधता झलकती है। बंकिमचन्द्र के उपन्यासों का भारत की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद किया गया है। वह अपने समय के महान उपन्यासकार और प्रतिभा सम्पन्न चिंतक भी थे। बांग्ला साहित्य में अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने विशेष योगदान दिया। देश का ऐसा कोई ही व्यक्ति होगा जिसने 'वन्देमातरम' का राष्ट्रीय गीत न सुना हो बंकिम ही तो है इसके रचयिता। यह गीत उनके उपन्यास आनंदमठ में है। सारा भारत देश रेडियो तथा दूरदर्शन पर वन्देमातरम का श्रवण कर उनका अभिनंदन करता है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी का विषवृक्ष उपन्यास 1873 ई. में बांग्ला में प्रकाशित हुआ। ममता बिस्वास ने मूल नाम से ही हिंदी में अनुवाद किया। विषवृक्ष का अर्थ होता है जहर का वृक्ष। स्वार्थ विष ही तो है यह प्रत्येक व्यक्ति के मन में उगता है अगर मन साफ हो तो यह नहीं उग सकता। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि पाठक पात्रों में खो नहीं जाता। वह स्वयं से प्रश्न करने लगता है कि कौन सही है और कौन गलत? यह उपन्यास लोगों में मनोरंजन शक्ति के साथ विचार शक्ति को भी जागृत करने का प्रयास करता है।

यह उपन्यास एक सामाजिक कहानी पर केन्द्रित है गोविंदपुर एक छोटा सा गाँव है। नगेन्द्रनाथ इस गाँव का धनी जमींदार है। सूर्यमुखी उसकी पत्नी है। कुंदनंदिनी नामक युवती से अचानक उसकी भेंट होती है। वह युवती बेसहारा है। नगेन्द्र उसे आश्रय देता है। कुछ दिनों बाद ताराचरण के साथ उसका विवाह हो जाता है। विवाह के बाद ताराचरण की मृत्यु हो जाती है। नगेन्द्रनाथ पुनः उसे आश्रय देता है इसी समय हीरा नाम की स्त्री ऐसा कपट नाटक करती है कि नगेन्द्र, सूर्यमुखी और कुंदनंदनी का जीवन ठीक नहीं रहता है।

इस उपन्यास में सामाजिक विघटन की समस्या को चित्रित किया गया है। "समाज में सामाजिक संगठन का अभाव ही सामाजिक विघटन है। संगठित समाज में परस्पर सहयोग, सद्भावना और सहकारिता से कार्य होता है।

उसके समस्त सदस्य परम्पराओं और सांस्कृतिक बन्धनों द्वारा परस्पर बंधे होते हैं परन्तु जब समाज का यह स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और असहयोग, परम्परा विरोध तथा अराजकता का बोल–बाला प्रारंभ हो जाता है तो सामाजिक विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है"[1]

अहम् की चरम सीमा दुःख, कुंठा, विषाद, बोझ, पलायन को जन्म देती है यह पलायन पराजय और निराशा को जन्म देता है। विसंगतियों से भरे समाज और क्रूरता से भरे वर्तमान

*शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

शासन ने मनुष्यों को कुंठाओं से भर दिया। वह न जी सकता है, न मर सकता है। कहीं नैतिक पतन, सामाजिक विडम्बनाओं का चित्रण है तो कहीं सौन्दर्य के बदलते आयाम है, कहीं विन्रमता है तो कहीं विद्रोह, असंतोष, संबंधों का बिखराव, मानसिक वेदनाओं की तड़प भी दिखाई देती है। मानव के इसी ह्रास और विघटन को वाणी देने का प्रयास किया गया है।

"विघटन" संगठन की विपरीत दशा है। 'विघटन' शब्द का अर्थ प्रामाणिक हिंदी कोश में इस प्रकार दिया है 1. घटित करने वाले या संयोजक अंगों को अलग–अलग करना। 2. बिगाड़ना 3. नष्ट करना 4. तोड़ना–फोड़ना"[2]

धीरेन्द्र वर्मा का मानना है कि, "विघटन उस समय आरम्भ होता है जब संकटापन्न समाज संकट के सामने घुटने टेक देता है।"[3]

"विषवृक्ष सभी के घर के आँगन में लगा हुआ है। रिपु इसका प्राबल्य बीज है, घटना के अधीन होकर वह सभी जगह उग जाता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसका चित्त काम–क्रोध–राग–द्वेष आदि से अछूता है। ज्ञानी व्यक्ति भी घटना के आने पर इन रिपुओं से विचलित होते हैं। परन्तु मनुष्य से उसका भेद यह है कि कोई अपनी उच्छ्वासित मनोवृत्तियों को संयत कर सकते हैं और करते भी हैं, उनको महात्मा कहते हैं। कोई अपने चित्त को संयत नहीं कर सकते, उन्हीं के कारण विषवृक्ष का बीज उगता है"।[4]

पारिवारिक विघटन भी एक गंभीर समस्या है। आर्थिक जीवन में अब स्थिरता नहीं रह गयी है। मानव समाज के मूल्यों और आदर्शों में परिवर्तन हो गया है। पुरुष–स्त्री में सामंजस्य नहीं रहा। विषवृक्ष उपन्यास में दिखाया गया है कि किस तरह से नगेन्द्रनाथ और सूर्यमुखी के जीवन में विघटन उत्पन्न होता है। नगेन्द्रनाथ कुंदनंदिनी से विवाह कर लेता है।

'वैयक्तिक विघटन' भी सामाजिक विघटन का ही प्रकार है। वैयक्तिक विघटन में व्यक्ति विशेष का विघटन होता है। इसमें पागलपन, मद्यपान, अपराध, आत्महत्या आदि समस्याओं को शामिल किया जाता है। विषवृक्ष उपन्यास में नगेन्द्रनाथ का वैयक्तिक विघटन होता है। 'कुंद, रोती क्यों हो?' कुंद अब रो पड़ी। तब नगेन्द्र कहने लगे–'सुनो कुंद मैंने इतने दिनों तक बहुत कष्ट सहे, अब सहा नहीं जाता। नहीं कह सकता कि किस कष्ट से जी रहा हूँ। अपने साथ युद्ध कर मैं आप ही क्षत–विक्षत हो रहा हूँ नीच हो गया हूँ। शराब पीता हूँ। अब सहा नहीं जाता। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। सुनो कुंद! आजकल विधवा विवाह चल रहा है–मैं तुमसे विवाह करूँगा। तुम्हारे कहने से ही विवाह करुँगा'[5]

सामाजिक विघटन का सबसे प्रमुख कारण सामाजिक परिवर्तन है। जब सामाजिक संबंधों में शीघ्र परिवर्तन होता है तो सामाजिक विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इलियट और मैरिल के अनुसार "सामाजिक संगठन का स्वभाव गतिशील है। इसकी रूढ़ियाँ, विधियाँ, संस्थायें तथा समितियाँ आदि परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि अनेक लोग परिवर्तित परिस्थितियों में सामंजस्य नहीं कर पाते। अगर परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्र है तो भी अधिकांश लोगों के लिये इससे तालमेल रखना कठिन हो जाता है।"[6]

हीरा नामक स्त्री ने सूर्यमुखी को कुंदनंदिनी के खिलाफ जहर पैदा कर दिया। जैसे देवेन्द्र ने कहा था कि उसका कुंदनंदिनी के साथ तीन साल से प्रेम प्रसंग चल रहा है और कुंदनंदिनी के उपपति की हैसियत से देवेन्द्र वैष्णवी बनकर आता जाता है। सारी गलत कहानी सूर्यमुखी को सुना दी सूर्यमुखी ने कुंद को बुलाया और कहा–

"कुंद हरिदासी वैष्णवी कौन है, हम पहचान गए हैं। हमको मालूम हो चुका है कि वह तेरा उपपति है। तू जो कुछ है, वह समझ में आ गया। हम ऐसी स्त्री को घर में जगह नहीं दे सकते। तू घर से अभी निकल जा! नहीं तो हीरा झाड़ू मार कर निकालेगी।"[7]

कुंदनंदिनी घर से निकल जाती है। बिजली की रोशनी से राह किनारे एक घर दिखा। कुंदनंदिनी उसी दरवाजे के पास बैठी। दरवाजा खुला गृहस्थ जाग रहा था। दरवाजा खोलकर देखा, एक आश्रयहीन स्त्री है। गृहस्थ कुंद को घर के भीतर ले गई। उसने आग से रोशनी जलायी तब कुंद ने देखा–हीरा है। हीरा कुंदनंदिनी को अपने घर रख लेती है। हीरा सुबह अपने काम पर जाती है तो वहां पता चलता है कि कुंदनंदिनी मिल नहीं रही है।

नगेन्द्र ने सुना कि कुंद घर छोड़ गई है। उन्होंने सूर्यमुखी से बोलना बंद कर दिया। यह सब हीरा का किया हुआ था। नगेन्द्र कुंदनंदिनी को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े "नहीं, यह नहीं सूर्यमुखी! और भी सुनना है। जबकि बात उठाई है, मैं मन की बात खोलकर कहता हूँ। क्योंकि बहुत दिनों से कहूँ–कहूँ कर रहा हूँ। मैं यह संसार छोडूँगा। जान नहीं दूँगा, परंतु दूसरे देश चला जाउँगा। मुझको अब संसार में सुख नहीं। तुमसे अब सुख नहीं। मैं तुम्हारे अयोग्य पति हूँ। मैं पास रहकर तुमको क्लेश नहीं देना चाहता। कुंदनंदिनी को खोजने के लिए में देश–देशांतर फिरूँगा। तुम इस गृह की गृहिणी रहो। मन में सोचना, तुम विधवा हो जिसका पति ऐसा पामर है? वह विधवा नहीं तो और क्या है? परंतु मैं पामर हूँ या कुछ भी, तुमसे प्रवंचना नहीं करूँगा। मेरे प्राण अन्यागत हैं। क्या यह खुलकर तुमसे न कहूँ? अब मैं गाँव छोड़कर चला। यदि कुंदनंदिनी को भूल सका तो फिर आऊँगा। नहीं तो तुमसे यहीं तक भेंट है।"[8]

उधर कुंद नगेन्द्र के घर की ओर चली। कुंद ने रास्ते पर निगाह डालकर देखा, नगेन्द्र कहीं नहीं। कुंद ने सोचा, वो अब तक नहीं उठे। कुंद वहीं बैठ गई। सुबह हुई, कोई देख न ले इसलिए उठकर उद्यान की और चली गई। लतामंडल के भीतर का व्यक्ति बाहर निकला। कुंद ने देखा, वह नगेन्द्र नहीं, सूर्यमुखी है। सूर्यमुखी ने कुंद का हाथ पकड़ा। कहा, कुंद आओ, बहन आओ। अब मैं तुमसे कुछ नहीं कहूंगी।

कमल सूर्यमुखी की खोज में उसके शयनगृह गई। समझ गई, सूर्यमुखी भागी। शोक का पहला वेग कमलमणि ने पत्र खोलकर पढ़ा। "जिस दिन स्वामी के मुँह से सुना कि मुझसे अब उन्हें कोई सुख नहीं, वह कुंदनंदिनी के लिए पागल होंगे अथवा प्राण–त्याग करेंगे उसी दिन मैंने मन–ही–मन संकल्प किया उन्हें सुखी करुँगी। कुंदनंदिनी अब कहीं मिले, तो उसे अपने हाथ से स्वामी को समर्पण कर उन्हें सुखी करूँगी। कुंदनंदिनी स्वामी को दानकर स्वयं घर छोड़कर चली जाउँगी क्योंकि इस बात को मैं अपनी आँखों से न देख सकूँगी कि मेरे स्वामी कुंदनंदिनी के हो

गये। जब कुंदनंदिनी को फिर पाकर उसे पति के हवाले किया, तब स्वयं तो घर छोड़कर चली हूँ।"[9]

घर में सूर्यमुखी के भागने का समाचार फैलते ही उनकी खोज में आदमी भेजने के लिए बहुत हलचल मच गई। नगेन्द्र ने चारों ओर आदमी भेजे, श्रीशचंद ने आदमी भेजे। लेकिन सूर्यमुखी उन्हें कहीं न मिली। श्रीशचंद अब रह न सके। उन्होंने कलकते जाकर ढूँढ़ना आरम्भ किया। कमलमणि गोविंदपुर में जाकर ढूँढ़ने लगी। नगेन्द्र और कुंदनंदिनी दोनों नीरव थे। सुख होने पर ऐसा घटित नहीं होता।

नगेन्द्र कुंदनंदिनी को दोष देने लगे। "एक महीना हुआ, मेरी सूर्यमुखी मुझे छोड़कर चली गई है, उनका कोई समाचार न मिला। वह जिस राह से गई है, व मैंने भी उसी राह से जाने का निश्चय किया है। मैं भी गृह–त्याग करूँगा। देश–विदेश में उन्हें ढूँढ़ता फिरूँगा। उनको पाउँगा, तो लेकर घर आऊँगा; नहीं तो अब न आऊँगा। कुंदनंदिनी को लेकर अब घर में नहीं रह सकता। वह आँखों का काँटा हो गई है। उसका दोष नहीं–दोष मेरा ही है; किन्तु मैं उसका मुँह देखना पसंद नहीं करता।"[10]

हीरा चित के संयम में बड़ी शक्तिशाली थी। नगेन्द्र जब कुंदनंदिनी को गोविंदपुर में छोड़कर पर्यटन को निकले तब हीरा ने फिर से दासीत्व की प्रार्थना की। नगेन्द्र हीरा को कुंदनंदिनी की परिचर्या में छोड़ गये। हीरा का मन विष–तुल्य जान पड़ता था। वह कुंदनंदिनी के प्रति देवेन्द्र का अनुराग न सह सकी। हरिदासी वैष्णवी को याद करके हीरा को भय हुआ, वह कुंदनंदिनी का पहरा देने आई। हीरा कुंद से ईर्ष्या करती थी,उस पर इतना क्रोध करती थी कि उसकी मरने की बात सोचकर परम आह्लादित होती थी।

"कुंद ने देखा, हीरा का वह यत्न ममता था, प्रियवादित्व नहीं। देखा, हीरा दासी होकर भी उसके प्रति अश्रद्धा प्रकाश करती है, तिरस्कार और अपमान करती है। कुंद बड़े शांत स्वभाव की थी । हीरा के आचरण से अत्यंत पीड़ित होकर भी कभी उसको कुछ न कहती थी। कुंद शीतल प्रकृति की थी, हीरा उग्र प्रकृति की।"[11]

नगेन्द्र और सूर्यमुखी के छोड़ने के समय से वे सब लतामंडल हीरा के अधिकार में आए। हीरा ने पुष्पमूर्ति देखी, वे देवन्द्र थे। आज देवन्द्र छद्मवेशी नहीं, अपने वेश में आए हैं। हीरा ने कहा, जिससे मिलने आए हो उससे मुलाकात न होगी। उसने कहा, हम तो तुमसे मिलने आए हैं। लब्ध चाटुकार के, कपाट–आलाप से प्तारित न होकर हीरा हँसी। हीरा देवेन्द्र को बैठाकर चली गई कि कुंदनंदिनी से तुम्हारी मुलाकात करवाती हूँ। बाहर जाकर द्वार–रक्षकों से कहा, तुम जल्दी जाओ! चोर आया है। सभी लाठी लिए हुए अंतःपुर की और दौड़े। देवेन्द्र ने संकल्प लिया कि हीरा को इसका प्रतिफल देंगें।

आगे का दृश्य इस प्रकार है, बरसात का दिन था। एक ब्रह्मचारी अँधेरी रात में बरसात में भीगे चले जा रहे हैं। अँधकार में जाते–जाते उन्हें एक स्त्री बेहोश हालत में मिली। बेहोश स्त्री को दोनों हाथों में उठा लिया और दुर्गम राह को लाँघते हुए गाँव के प्रांत में पहुँचे। कुटी के दरवाजे पर आवाज दी– बच्चा हर तुम घर में हो? भीतर से स्त्री ने कहा 'यह तो महाराज की आवाज है।

महाराज कब आए?' हरमणि ने दरवाजा खोला। ब्रह्मचारी ने स्त्री को जमीन पर लिटा दिया। ब्रह्मचारी ने कहा, इसकी मृत्यु समीप दिखाई देती है शायद सेंक करने से बच जाए। हरमणि दूध गरम कर स्त्री को पिलाने लगी। थोड़ी देर में स्त्री ने आँखें खोली। होश में आयी स्त्री ने कहा, 'मेरा नाम सूर्यमुखी है'। गाँव के वैद्य को बुलाया गया। उन्होंने कहा, 'इनको कास रोग है पर बच तो सकती है'। यह सब बातें सूर्यमुखी के सामने नहीं हुई।

सूर्यमुखी–'बचने से मेरा उपकार नहीं'। मेरा मरना मंगल है। कल रात जब राह पर पड़ी थी, तब आशा बंध चुकी थी कि मरुँगी। आपने क्यों बचाया?'

ब्रह्मचारी–'तुमको इतना कौन– दुःख है, यह हमको नहीं मालूम। दुःख कितना भी हो आत्महत्या महापाप है। कभी आत्महत्या न करना। आत्महत्या पर–हत्या जैसा पाप है'।[12]

ब्रह्मचारी ने कहा तुम किसी विशिष्ट परिवार की लगती हो तुम्हें मानसिक क्लेश है, यह समझ में आ रहा है। 'सूर्यमुखी ने कहा, अब मरने बैठी हूँ तो लाज इस समय क्या करूं? मुझको मानसिक क्लेश कुछ नहीं, केवल यह है कि मरने के समय पति का मुँह नहीं देखने को मिला। मृत्यु से ही मुझको सुख है, किंतु यदि उनको न देखकर मरी तो मृत्यु से भी दुःख है। यदि इस समय उनको देख लूँ तो मरण में ही मेरा सुख है।'[13]

ब्रह्मचारी ने कहा, तुम्हारे पति कहाँ है? मैं पत्र द्वारा उन्हें तुम्हारा संवाद भेजता हूँ। नगेन्द्र नाथ के नाम सिरनामा लिखकर ब्रह्मचारी ने पत्र डाकखाने में छोड़ा। पत्र नगेन्द्र नाथ के हाथ नहीं पड़ा। पत्र के गोविंदपुर पहुँचने से पहले ही वे देश–पर्यटन को निकल चुके थे। पत्र नगेन्द्र को काशी तक पहुँचा दिया गया। वे रानीगंज को रवाना हुए। जिस दिन पांडे–दल ने देवेन्द्र को भगा दिया था हीरा बहुत खुश हुई। किन्तु उसके बाद हीरा को पश्चाताप करना पड़ा। देवेन्द्र भी हीरा को दंडित करने के लिए योजना बनाने लगे। उन्होंने मालती के द्वारा हीरा को बुलाया और मधुर वचनों द्वारा उसे अपने जाल में फंसाने की कोशिश करने लगे।

नगेन्द्रनाथ रानीगंज पहुंचे और वहां किसी व्यक्ति के घर गए। गृह के स्वामी रामकृष्ण राय थे। नगेन्द्र ने ब्रह्मचारी के बारे में पूछा, उन्होंने कहा की वे यहाँ नहीं है। कहाँ गए किसी को नहीं पता । हरमणि का मकान रास्ते किनारे ही था। वह जल गया। नगेन्द्र वहीं गिर गए, सिर पर चोट आ गई। "कौन जीना चाहता है? यह संसार विषमय है। विषवृक्ष सबके आँगन में है। कौन प्यार चाहता है? वह अपना हृतिपन्द छिन्न करके दग्ध करे। हे विधाता, इस संसार को तुमने सुखमय क्यों नहीं बनाया? तुम इच्छामय हो। इच्छा करने पर सुख का संसार रच सकते थे। इस संसार में इतना दुःख क्यों?"[14]

नगेन्द्र ने कहा कि आज सब समाप्त हो गया। वे गोविन्दपुर की ओर चले गए। गृहस्थ धर्म से विदाई ली। सारी सम्पति कमलमणि को लिख दी जाएगी। वे अपने आप को ही दोषी मानने लगे की, मैंने ही सूर्यमुखी का वध किया है। वे सोचने लगे "सूर्यमुखी मेरी सब कुछ थी–सम्बन्ध में स्त्री, सौहार्द्र में भाई, आदर में बहन, संतोष देने में कुटुंबिनी, स्नेह में माता भक्ति में कन्या, प्रमोद में मित्र, परामर्श में शिक्षक, परिचर्या में दासी थी।"[15]

उन्होंने मन में सोचा सूर्यमुखी घर छोड़कर जिन सुखों से वंचित हुई थी। मैं उन सभी का त्याग करूँगा। रात बीत गई। श्रीशचंद नगेन्द्र के पास बैठे थे। श्रीशचंद ने पूछा, 'ब्रह्मचारी से तुम्हारी मुलाकात नहीं हुई' वे तुम्हें ढूँढने के लिए यहाँ आए थे। सूर्यमुखी की याद में बहुत विचलित हो गए। वे जानते थे, कि दोष उन्हीं का है उन्होंने विषवृक्ष का बीज अपने हृदय से निकालकर क्यों नहीं फेंका।

हीरा की मुलाकात देवेन्द्र से हुई, हीरा देवन्द्र का तिरस्कार करने लगी।'इससे देवेन्द्र का धैर्य भी छुट गया। उन्होंने हीरा को लात मारकर प्रमोद उद्यान से बाहर निकल दिया। हीरा पापिष्ठा है और देवन्द्र पापिष्ठा तथा पशु'।[16] हीरा एक डोम से जहर ले आयी। मन में कहने लगी इसे मैं नहीं खाऊँगी जिसने मेरी ये हालत की इसे उसे दूंगी या उसकी प्रेमिका कुंदनंदिनी खाएगी। गोविंदपुर का छः मंजिला मकान नगेन्द्र और सूर्यमुखी के बिना वहाँ अन्धकार छा गया। वैसे घर में अकेली कुंदनंदिनी निवास करती है। कुंद सोचने लगी सूर्यमुखी की मेरी वजह से यह दशा हुई। मैंने उसे भिखारिन बनाया। मेरी जैसी अभागिन कौन होगी। मैं क्यों न मरी। कुंद को सूर्यमुखी की मृत्यु का समाचार नहीं मिला था। इसीलिए वह सोचती है कि जब सूर्यमुखी लौट आए तब मरूँगी।

नगेन्द्र को घर में सूर्यमुखी की याद आयी। वह उसके विचारों को याद कर रोने लगे। नगेन्द्र एक समय बेहोश होकर जमीन पर गिर गए। नगेन्द्र ने आँखे खोलकर देखा। चौंककर उठ बैठे। "इस बार रमणी ने उनके दोनों पैर पकड़े। उनके युगल पदों को मुखाधृत करके आँसुओं से अभिषिक्त किया। कहा, उठो,उठो, मेरे जीवन–सर्वस्व मिटटी छोड़कर बैठो। मैंने इतना दुःख उठाया है, आज मेरे तमाम दुखों का अंत हुआ। उठो, उठो, मैं मरी नहीं। फिर तुम्हारी पद–सेवा करने के लिए आई हूँ।"[17] मैं मरी नहीं हूँ जो मेरे मरने की बात थी वह झूठी थी।

**संदर्भ सूची :**


1. सिंह, रतन, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, दिल्ली, साहित्य केन्द्र प्रकाशन, संस्करण 2009, पृष्ठ 191
2. वर्मा, रामचन्द्र (संपा.), प्रामाणिक हिंदी कोश, बनारस : हिन्दी साहित्य कुटीर, 1950 पृष्ठ 755
3. वर्मा, धीरेन्द्र, हिंदी साहित्य कोश (भाग–1), बनारस : ज्ञानमंडल लिमिटेड, 2014 पृष्ठ 117
4. बिस्वास, ममता (अनुवादक), विषवृक्ष, दिल्ली, नार्थ इंडिया पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2009, पृष्ठ 91
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ 53–54
6. सिंह, रतन, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, दिल्ली, साहित्य केन्द्र प्रकाशन, संस्करण 2009, पृष्ठ 192
7. बिस्वास, ममता (अनुवादक ), विषवृक्ष, दिल्ली, नार्थ इंडिया पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2009, पृष्ठ 59–60
8. पूर्वोक्त, पृष्ठ 72–73

9. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 89
10. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 98–99
11. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 101
12. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 106
13. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 107
14. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 113
15. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 115
16. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 122
17. पूर्वोक्त ,पृष्ठ 134

# श्रीमद्भागवत पुराण में रसोत्पादन

अमनदीप सिंह*

भारतीय वाङ्मय में अष्टादश पुराणों का अपना विशेष स्थान रहा है किंतु श्रीमद्भागवत का विशिष्ट एवं अप्रतिम स्थान है। श्रीमद्भागवत धार्मिक, आध्यात्मिक वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ तथा समुज्ज्वल ग्रन्थ है। इसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की आनन्दायिनी त्रिवेणी माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत पुराण केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं अपितु कई विषयों को अपने में संजोए हुए हैं।

श्रीमद्भागवत में संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन तथा नृत्य का विवरण अनेक संदर्भों में प्राप्त होता है। इसमें रास का विशेष रूप से विवरण मिलता है। रास का मूल अर्थ नृत्य किया जाता है। आरम्भ से ही रासनृत्य और लीला का संबंध श्रीकृष्ण से रहा है। अतः भागवत स्वरूप श्रीकृष्ण के उपासकों के मध्य रासलीला की अनेक दर्शनपरक व्याख्याएँ भी होती रही है।

'रास' शब्द का 'रस' शब्द से सीधा संबंध है। 'रस' स्वयं श्रीकृष्ण स्वरूप है, ऐसा गीता में कहा गया है। उपनिषदों में 'रसो वै सः' द्वारा जिस ब्रह्म का अभिधान किया गया है, वह परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है। 'रसानां समूहों रासः' में रास की सर्वरसमयता को स्पष्ट किया गया है। जितने भी रस हैं, उन सबका समूह रास है।

किंतु भागवत और रस के संबंध में चर्चा करने से पूर्व आवश्यक है रस के वास्तविक अर्थ एवं उसके सौंदर्य स्वरूप को जानना। इसलिए पहले हम रस के विषय पर प्रकाश डालेंगे।

**रस का अर्थः**

रस शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। कला के क्षेत्र का विशेष महत्त्वपूर्ण पक्ष है रस। भारतीय कलाओं का विशेषकर काव्य की अनुभूति का संबंध रस सिद्धांत से है। रस द्वारा प्राप्त अनुभूति का संबंध भाव तथा आनंद से है। आनंद रस का मूर्त रूप है।

साहित्य के क्षेत्र में रस शब्द के प्रयुक्त होने के पहले रस शब्द का प्रयोग वैदिक इतिहास में प्रचुर मात्रा में किया गया है। वेद, उपनिषदों तथा महाकाव्यों में इस पर अनेक रूपों में विचार किया गया है। सामवेद तथा अथर्ववेद में इसका प्रयोग गौ–दुग्ध, मधु, सोम आदि के लिए हुआ है। उपनिषदों में इसे परम आनंद के लिए प्रयुक्त किया गया है।

**रस संख्या**

भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में प्रधान रस चार बताए हैं– श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत, उद्भव और भयानक रस की उत्पत्ति होती है। यद्यपि भरत ने नौवें रस का संकेत नाट्यशास्त्र में दिया किंतु प्रयोग में विवरण देते हुए केवल

*शोधार्थी, संगीत–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

आठ ही रसों का प्रयोग किया है। सर्वप्रथम अभिनव गुप्त ने शांत रस को स्थान देकर नवरस कल्पना की।

**भागवत एवं रस में परस्पर संबंध**

प्रत्येक ग्रन्थ की अभिव्यक्ति लिखित रूप में शब्दों द्वारा होती है। इन्हीं शब्दों के मेल से भाषा बनती है। भागवत के स्वरूप तथा विषयवस्तु की अभिव्यक्ति जिन शब्दों द्वारा हुई है, उनमें निहित भिन्न–भिन्न अलंकार तथा रसों के प्रयोग में काव्य के लक्षण स्पष्टतः दिखते हैं। व्यास ने स्वयं भी भागवत को रसात्मक काव्य की संज्ञा प्रदान की है।

**रस एवं भावगत वैशिष्ट्य**

भागवत पुराण में अन्य पुराणों की भांति केवल कथा ही नहीं कही गयी है अपितु वस्तुवर्णन तथा भाववर्णन द्वारा उत्तम रससृष्टि भी की गयी है। भागवत में ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं जिनमें पाठकों एवं श्रोताओं को आनन्दविभोर कर उत्तम रसानुभूति कराने की पूरी क्षमता विद्यमान है। ये स्थल इतने मार्मिक एवं भावपूर्ण हैं कि इनके प्रति भावुक कवियों एवं सहृदयों का हृदय सदा आकृष्ट होता रहा है। इनमें भ्रमरगीत, युगलगीत, गोपीगीत, वेणुगीत, रासपंचाध्यायी, अक्रुरशरणागीत, ब्रजभूमि में उद्धव की प्रेमोत्तर की दशा आदि प्रसंगों को उदाहरणार्थ देखा जा सकता है। व्यास का यह कथन–'यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु पदे–पदे' भागवत में सर्वत्र चरितार्थ होता है।

**भागवत में रस निरूपण**

रस संख्या के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। आठ से लेकर सोलह तक रसों की संख्या मानी गयी है। उनमें श्रृंगार, हास्य, करूण, भयानक, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, शान्त तथा वात्सल्य मुख्य हैं।

नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ (तीसरी शताब्दी से 17वीं–18वीं शताब्दी) तक किसी भी काव्याचार्य ने भक्ति को रस की मान्यता नहीं दी। आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि मुनि मान्य (नव) रसों के अतिरिक्त 'वात्सल्य' को उनके समकक्ष विवेचित कर सांगोपांग उसकी स्थापना की किंतु भक्ति को उन्होंने भी रस रूप में स्वीकार नहीं किया। आचार्य भरत के रस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने शान्त रस को नवाँ रस तो सिद्ध किया किन्तु किसी अन्य रस की स्वतन्त्र स्थिति को उन्होंने स्वीकृति प्रदान नहीं की। वे नौ रसों में से किसी–न–किसी रस में सबका अन्तर्भाव मानते हुए 'एवं भक्तावपि वाच्यामिति' लिखकर वही बात भक्ति पर भी लागू कर देते हैं।

आचार्य मम्मट भक्ति को न तो स्वतन्त्र रस स्वीकार करते हैं और न शान्त रस में उसका अन्तर्भाव मानते हैं। उन्होंने उसे भाव विशेष ही स्वीकार किया है। उनको आदर्श मानकर चलने वाले परवर्ती साहित्याचार्यों ने भी उसे भक्ति का भाव ही स्वीकार किया। पण्डिराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में पहले तो यह पूर्व पक्ष उठाया कि 'भक्ति को स्वतन्त्र रस क्यों नहीं माना जाए।' किंतु इसके उत्तर पक्ष में उन्होंने यह कह दिया कि भक्ति को स्वतन्त्र रस स्वीकार करने पर 'मुनि वचन' का उल्लंघन होता है क्योंकि भरत मुनि द्वारा नियत रस एवं भावों की संख्या भंग

होती है। यहाँ यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि साहित्याचार्यों ने साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढ़िग्रस्त होकर ही 'भक्ति' को रस न मानकर भाव स्वीकार किया है। रूढ़िमुक्त होकर विचार करने पर श्रृंगारादि नव रसों के अतिरिक्त 'भक्ति' स्वतन्त्र रस है। श्री कन्हैया लाल पौद्दार ने 'भक्ति' को सर्वोपरि प्रधान रस स्वीकार किया है।

भक्ति शास्त्रियों ने भक्ति को स्वतन्त्र रस मानकर उसे सभी रसों में श्रेष्ठ स्वीकार किया है। श्रीमद्भगवतगीता, श्रीमद्भागवत महापुराण, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्ति सूत्र, भक्ति रसायन तथा हरिभक्ति रसामृत सिन्धु आदि ग्रन्थ भक्ति रस के वास्तविक स्त्रोत हैं। इनमें भक्ति को रसरूपा कहा गया है। अन्तिम दो ग्रन्थों में भक्ति रस के भेदों का विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'आचार्य मधुसूदन' सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'भक्ति रसायन' में भक्ति को दसवाँ रस सिद्ध करते हुए उसे सब रसों में श्रेष्ठ माना है। उन्होंने तीन शुद्ध भक्ति रस तथा सात मिश्रित रस स्वीकार किये हैं। आचार्य रूप गोस्वामी ने हरिभक्ति रसामृत सिंधु में शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति रस का व्यवस्थित निरूपण करते हुए उसके मुख्य एवं गौण दो भेद बतलाकर मुख्य के पाँच तथा गौण के सात उपभेद भी किये हैं। शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल एवं मधुर मुख्य भक्ति रस के अन्तर्गत आते हैं।

**भागवत का मुख्य रस (भक्ति रस)**

निर्विवाद रूप से भक्ति ही भागवत का मुख्य रस सिद्ध होता है। आद्योपान्त वह भक्ति से परिपूरित है। उसके उपक्रम में ही अलौकिक भक्ति रस एवं उसके रसिकों का उल्लेख किया गया है तथा उसकी अनल्प महिमा एवं उत्तमोत्तम आस्वाद्यता को भी ख्यापित किया गया है। लौकिक श्रृंगार रस तो उसका मुख्य रस नहीं हो सकता है। उसके दशम स्कन्ध वर्णित रासलीलादि प्रसंगों में किसी को लौकिक श्रृंगार की प्रतीति हो सकती है किन्तु, वस्तु स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः वह लौकिक श्रृंगार रस न होकर माधुर्य रस है, जो भक्ति रस या उज्ज्वल रस का पर्याय है। यहाँ भी ध्यान देने योग्य है कि गोपियों को प्रियतम श्री कृष्ण के ईश्वर होने की विस्मृति कभी भी नहीं होती है। इसी प्रकार शान्तरस को उसका मुख्य रस कहा है। भक्ति–जन्य आनन्द को अमृताम्भोधि तथा अन्य (लौकिक) आनन्द को क्षुद्र खातोदक (क्षुद्र गड्ढों का जल) कहते हैं। भागवत में अनेकत्र भक्ति रस को ब्रह्मानन्द से बढ़कर बताया गया है।

**भागवत में अन्य रसों का विवेचन**

भागवत में अन्य रसों का भी उत्तम परिपाक हुआ है किन्तु ये सब रस अंग रूप में हैं, उसका प्रधान रस तो भक्ति ही है।

**1. श्रृंगार रस**

भरत मुनि कहते हैं कि लोक में जो कुछ भी पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल, दर्शनीय है, वह श्रृंगार रस कहलाता है। श्रृंग का अर्थ है कम या आविर्भाव। इस रस का आलंबन प्रायः उत्तम प्रकृति के पात्र रहते हैं। जैसे–चंद्र, चंदन, अनुलेपन आदि। श्रृंगार रस दो प्रकार के होते हैं–1. संभोग श्रृंगार, 2. विप्रलम्भ श्रृंगार। भागवत के अनेक स्थलों पर इस रस के दोनों पक्षों का उत्तम विवेचन हुआ।

संभोग श्रृंगार–परस्पर प्रेम, नायक–नायिका का एक दूसरे के अनुकूल होकर विलासपूर्वक दर्शन, स्पर्श आदि की अनुभूति प्रदान करने वाले रस को संभोग श्रृंगार कहते हैं।

'पूर्वचित्ति' अप्सरा तथा मोहिनी के रूप, हाव–भाव तथा गति विलास वर्णन में संभोग श्रृंगार रस की सुंदर निष्पत्ति हुई। श्रीकृष्ण जन्मोत्सव में सम्मिलित होने हेतु शीघ्रगति से जाती हुई गोपियों का स्वाभाविक श्रृंगार मय चित्रण द्रष्टव्य है–

'नवकुंकुम किंजल्क मुखपंकज भूतयः।
बालिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रीण्यश्चलत्कुचाः।।
गोप्यः सुमृष्टमणि कुण्डलनिष्क कण्ठ्यश्चित्राम्बराः
पथि शिखाच्युतमाल्य वर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजतीविरेजुर्व्या लोलकुण्डल
पयोधरहार शोभा।।'

अर्थात् गोपियों के मुखकमल बड़े ही सुन्दर जान पड़ते थे। उन पर लगी हुई कुंकुम ऐसी लगती मानो कमल की केशर हो। उनके नितम्ब बड़े–बड़े थे। वे भेंट की सामग्री ले–लेकर जल्दी–जल्दी यशोदाजी के पास चलीं। उस समय उनके पयोधर हिल रहे थे। गोपियों के कानों में चमकती हुई मणियों के कुण्डल झिलमिला रहे थे। गले में सोने के हार जगमगा रहे थे। वे बड़े सुन्दर–सुन्दर रंग बिरंगे वस्त्र पहने हुए थीं। मार्ग में उनकी चोटियों में गुँथे हुए फूल बरसते जा रहे थे। हाथों में जड़ाऊ कंगन अलग ही चमक रहे थे। उनके कानों के कुण्डल, पयोधर और हार हिलते जाते थे। इस प्रकार नन्दबाबा के घर जाते समय उनकी शोभा बड़ी अनूठी जान पड़ती थी।

विप्रलम्भ श्रृंगार –इसे वियोग श्रृंगार भी कहते हैं। वियोग श्रृंगार वह होता है जिसमें नायक–नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ रहता है किंतु उनका मिलन नहीं हो पाता।

भागवत में श्रृंगार के दूसरे पक्ष विप्रलम्भ का भी व्यापक एवं सुन्दर चित्रण हुआ है। गोपियों का विरह तो सर्वप्रथित है ही, भ्रमरगीत तथा अन्यत्र भी विप्रलम्भ श्रृंगार का तलस्पर्शी वर्णन हुआ है। रासोत्सव के मध्य श्रीकृष्ण के अन्तर्ध्यान हो जाने पर विरहिणी गोपियों की दशाओं का जो मार्मिक चित्रण भागवत में हुआ है, वह सर्वथा बेजोड़ है। विरहिणी गोपियाँ प्रियतम की खोज में इधर–उधर भटकती हुई यमुना–पुलिन पर स्थित वृक्षों से, तुलसी एवं मालती आदि पुष्पों से, हरिणियों तथा वृक्षालिंगित लताओं से उनका पता पूछती हैं। वे अपनी विरह ज्वाला शान्त करने के लिए अपने प्रियतम की लीलाओं का अनुकरण तथा अभिनय भी करने लगती हैं।

**2. करुण रस**

करुण रस हृदय पर सीधा प्रभाव करता है। करुण रस वह है जिसमें 'शोक' नामक भाव की अभिव्यंजना होती है। इसका आविर्भाव इष्टनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से होता है। भागवत में कई स्थलों पर बड़ी प्रभावात्मकता के साथ करुण रस की निष्पत्ति हुई है। सपन्नियों द्वारा विष दिये जाने के कारण मृत शिशु पुत्र को देखकर राजा चित्रकेतु की पत्नी कृतद्युति के विलाप का चित्रण बहुत करुण एवं हृदयद्रावक है।

सोये हुए के समान मृत पुत्र को देखकर माँ को उसकी मृत्यु पर विश्वास ही नहीं हो रहा है। उसे जगाती हुई वह कहती है–

'उतिष्ठ तात ते इमे शिशवो वयस्या
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम्।
सुप्तश्चिरं ह्मशनया च भवान् परीतो।
भुंक्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानम।।'

अर्थात् ''मेरे प्यारे बेटे। ओ राजकुमार।। उठो, देखो, तुम्हारे साथी बालक तुम्हें खेलने के लिए बुला रहे हैं। तुम्हें सोते–सोते बहुत देर हो गयी अब भूख लगी होगी, उठो कुछ खा लो, नहीं तो दुग्ध पान ही कर लो और अपने स्वजन संबंधी हम लोगों का शोक दूर करो।''

राजा–रानी के विलाप के साथ उनके अनुगामी जन भी दुखी होकर रोने लगे। सारा नगर शोक में निमग्न हो गया। इस स्थल के पठन अथवा श्रवण से इतनी शोकसंवेदना उमड़ती है कि नेत्रों से अश्रुपात हुए बिना नहीं रहता। करुण रस के पाँच भेदों–करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरण एवं सुखकरुण में से भागवत में उक्त प्रसंग महाकरुण रस के अन्तर्गत आता है। उक्त प्रसंग के अतिरिक्त भागवत के एक अन्य स्थल पर भी महाकरुण रस की चरम अभिव्यक्ति हुई है।

**3. हास्य रस**

जिन्हें लोग देख–देखकर हंसा करते हैं, ऐसे हास्यापद व्यक्ति की जो चेष्टाएँ होती है, वे ही हास्य रस को उजागर करती हैं। भागवत में हास्य रस का चित्रण बहुत विरल है। इसके कतिपय कारण भी हैं, प्रथम परमहंस–संहिता है और तदनुरूप इसके वक्ता भी हैं–परमविरक्त महामुनि शुकदेव जी, दूसरे श्रोता राजा परीक्षित् की जीवनावधि सप्ताह मात्र–शेष है। अतः हास्य रस का स्वल्पतम वर्णन होना औचित्यपूर्ण है, फिर भी कृष्ण की बाल–लीलाओं के प्रसंग में हास्य रस का स्वाभाविक एवं सुन्दर चित्रण हुआ है।

**4. वीर–रस**

वीर रस उत्तम प्रकृति के पुरूषों में अवस्थित तथा 'उत्साह' भाव वाला होता है। यह बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप आदि भावों से भी युक्त होता है। भागवत में वीररस के युद्ध, दान, दया एवं धर्म सभी रूप मिल जाते हैं। युद्ध वर्णनों में युद्धवीर रस का चित्रण सजीव एवं प्रभावशाली ढंग से हुआ है। परशुराम, बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, वाणासुर, जरासंध आदि की वीरता का वर्णन भागवत में किया गया है। परशुराम की ओजस्वी वीर वेष की झाँकी द्रष्टव्य है–

'तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा, धनुर्धर बाणपरशवधायुध।
ऐणेयचर्माम्बिरकमर्कधामभिर्युत जटाभिर्ददृशे पुरी विशन्।।'

अर्थात् अपने नगर में प्रवेश करते हुए सहस्त्रबाहु अर्जुन ने देखा कि परशुराम बड़े वेग से उसकी ओर झपटे आ रहे हैं। वे हाथ में धनुषबाण तथा फरसा लिए हुए थे, शरीर पर काला मृगचर्म धारण किए हुए थे और उनकी जटाएँ सूर्य के समान चमक रही थीं। युद्धवीर के अतिरिक्त दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर का सुन्दर चित्रण भागवत के कई स्थलों पर हुआ है।

**5. रौद्र रस**

रौद्र रस में 'क्रोध' का भाव होता है। क्रोधावेग की दशा का चित्रण करने में इस रस की निष्पत्ति होती है। यह वीररस का सहायक भी है। भागवत के कई स्थलों पर रौद्र रस का प्रभावकारी चित्रण मिलता है। आश्रम से सहस्त्रबाहु अर्जुन द्वारा कामधेनु के छीन ले जाने पर समाचार पाकर परशुराम जी क्रोध से तिलमिला उठे। प्रस्तुत स्थल पर क्रोध का रसात्मक चित्रण किया गया है। दक्ष यज्ञ में अपमानित देवी सती, क्रोध युक्त होकर ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो सम्पूर्ण लोकों को भस्म कर देंगी–

'अनादृता यज्ञ सदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव भक्ष्यती रूषा।'

**6. भयानक रस**

भयानक रस 'भय' नामक भाव से उत्पन्न माना गया है। भागवत में भयानक रस का चित्रण अनेकत्र हुआ है। युद्ध वर्णन तथा हिंसक वन्य पशुओं के चित्रणों में इसमें विशेष सजीवता आ गयी है। भगवान नृसिंह की भयानकता का चित्रण भागवत में बड़ी उदात्तता के साथ हुआ है। तप्तसुर्वणवत् पीली–पीली भयानक आँखें बड़ी विकराल दाढ़ें अशिवत् लप–लपाती क्षुरधारवज्जिहा, टेड़ी भौंहों से युक्त भयंकर मुख, गिरिकन्दरावत् नासिका एवं विवृत मुख, कुछ नाटी–मोटी गरदन, चौड़ी छाती तथा विशाल नखयुक्त सैकड़ों भुजाएँ–यह था भगवान नृसिंह का रूप। उनके इस रौद्रमय विकराल रूप के समक्ष अन्य देव–देवियों की कौन कहे, स्वयं ब्रह्मा तथा लक्ष्मी को भी जाने का साहस न हुआ। इसी प्रकार भागवत में महाकाली के विकराल रूप के वर्णन में भयानक रस का परिपाक हुआ है।

**7. अद्भुत रस**

इस रस का आविर्भाव 'विस्मय' नामक भाव से होता है। भागवत वर्णित भगवान की सभी अलौकिक लीलाएँ अद्भुत रस से परिपूर्ण है। भागवत में ऐस अनेक स्थल हैं जहाँ अद्भुत रस का उत्तम परिपाक हुआ है। कश्यप–अदिति के देखते–देखते भगवान श्रीहरि का वामन रूप में हो जाना एक विस्मयोत्पादक आश्चर्यमयी घटना है। ब्रह्मा–मोह तथा मार्कण्डेय–माया–दर्शन– प्रसंगों में भी अद्भुत रस की सुन्दर निष्पत्ति हुई है।

**8. वीभत्स रस**

भरत ने इसकी व्याख्या 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में 'वीभत्स रस–प्रकटणम्' के अंतर्गत करते हुए 'जुगुप्सा' को इसका मूल भाव बताया है। उनके अनुसार असुंदर एवं अप्रिय पदार्थों के अवलोकन, अनिष्ट वस्तु के दर्शन एवं कथन आदि क्रियाओं से यह रस उत्पन्न होता है। भागवत में इस रस का चित्रण युद्ध– वर्णन प्रसंगों में हुआ है। जरासन्ध–युद्ध–प्रसंग में वर्णित रक्त–नदी–रूपक में वीभत्स रस की सुन्दर निष्पत्ति हुई है। भागवत के एक अन्य स्थल पर जहाँ गणों सहित महाकाली के जड़भरत को बलि देने के लिए उद्यत दस्युओं का सिर काट कर उनका गरम–गरम खून पीने, उन्मत्त हो उच्च स्वर से गाने एवं नृत्य करते हुए उनके सिरों से गेंद खेलने का वर्णन किया गया है, वीभत्स रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

**9. शान्त रस**

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। भक्ति का सहायक होकर यह भाव भागवत में सर्वत्र व्याप्त है। यहाँ संसार एवं शरीर की क्षणभंगुरता का बहुशः निरूपण कर हरिपद–प्रीति प्राप्त करने की बात पदे–पदे कही गयी है। प्रस्तुत रस से सम्बन्धित एक उदाहरण प्रस्तुत है–

'भक्ति मुहुः प्रवहतां त्वति में प्रसङ्गों भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञजसोल्बणमुरूव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुण कथामृत पानमत्तः।।'

अर्थात् अनन्त परमात्मन्! मुझे तो आप उन विशुद्धहृदय महात्मा भक्तों का संग दीजिये, जिनका आप में अविच्छिन्न भक्तिभाव है। उनके संग में मैं आपके गुणों और लीलाओं की कथा–सुधार को पी–पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही इस अनेक प्रकार के दुःखों से पूर्ण भयंकर संसार सागर के उस पार पहुँच जाऊँगा।

**10. वात्सल्य रस**

वात्सल्य भाव को स्वतन्त्र रस की मान्यता प्रदान करने का श्रेय आचार्य विश्वनाथ को है। यद्यपि उन्होंने इसे अपेक्षाकृत महत्त्व नहीं दिया है। आचार्य रूप गोस्वामी ने वात्सल्य रस को प्रधान पाँच भक्ति रसों के अन्तर्गत माना है। भागवत में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का अत्यन्त लालित्य के साथ चित्रण मिलता है। प्रस्तुत महाग्रन्थ ही कृष्ण–भक्त कवियों द्वारा वर्णित वात्सल्य–वर्णन का मूलाधार है। भागवत में बाललीला प्रसंग में वात्सल्य रस की निष्पत्ति हुई है। यहाँ यशोदा के साथ अन्य गोपियों में भी कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव मिलता है। यद्यपि कृष्ण भाव कवियों ने यशोदा के अतिरिक्त अन्य गोपियों में सामान्यतया मधुर दाम्पत्यभाव ही स्वीकार किया है। विस्तार–भय से यहाँ वात्सल्य रस संबंधी मात्र एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

'तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पंकांगरागरूचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशन ययतुः प्रमोदम्।।'

अर्थात् माताओं के स्तनों से दूध की धारा बहने लगती थी। जब उनके दोनों नन्हें–नन्हें से शिशु अपने शरीर में कीचड़ का अंगराग लगाकर लौटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथों से गोद में लेकर हृदय से लगा लेतीं और स्तनपान कराने लगतीं। जब वे दूध पीने लगते और बीच–बीच में मुस्करा–मुस्करा कर अपनी माताओं की ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द–मन्द मुस्कान, छोटी–छोटी दँतुलियाँ और भोला–भाला मुँह देखकर आनन्द के समुद्र में डूबने–उतरने लगतीं।

उक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भागवत की सभी कथाओं एवं काव्यों में रस एक ऐसा अभिन्न अंग (तत्व) है जिसके अभाव में आनंद की अनुभूति हो पाना असंभव प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवत महापुराण अठारह पुराणों में से एक पुराण है। किंतु इसमें विद्यमान रस तत्व के कारण इसका महत्त्व सभी पुराणों से अधिक है क्योंकि वर्णनों का आधिक्य काव्य को नीरस एवं बोझिल बनाता है। किंतु भागवत वर्णन सरल एवं उच्चकोटि की काव्यात्मकता की रसानुभूति से युक्त है।

यही कारण है कि श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मय का मुकुट मणि है। वैष्णवों का तो यह सर्वस्व ही है। भारत वर्ष में जितने भी वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उन सभी में श्रीमद्भागवत का वेदों के समान आदर है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान का विग्रह माना जाता है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :–**


1. श्रीमद्भागवत और तुलसी साहित्यः, डॉ. हरिशंकर मिश्र, प्रकाशक के.के. पब्लिकेशन्स, 109, 4855/24, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
2. श्रीमद्भागवत महापुराणः, महर्षि वेदव्यास एवं मुद्रक गीताप्रेस गोरखपुर–2730005 सं. 2072
3. रस सिद्धांत, डॉ. नागेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 2/34, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ. 227
4. नाट्यशास्त्र, भरत मुनि, हिन्दी अनुवाद, बाबू लाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1985
5. कथक नृत्य शिक्षा, पुरू दाधीच, डॉ. सुधा सिंह, इंदौर, प्रथम संस्करण, 1987
6. सौन्दर्य विमर्श, पूरनचंद टंडन, संजय प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
7. हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में वाद्यात्मक रस–भावाभिव्यक्ति, ललित कुमार कौशल, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 68

8- https%@@en-m-wikipedia-org@wiki@bhagvata&purana

9- ww-swarsindhu-pratibha&spandan-com

# रामायण से हिन्दी में अनूदित कतिपय भाव एवं आधुनिक युग

डॉ देवी सिंह*

भारतीय साहित्य में वाल्मीकीय रामायण एक ऐसा आदि महाकाव्य है जिसका परवर्ती काल में अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इसमें निहित जीवन दर्शन मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित है। आज के इस आधुनिक युग में हिन्दी भाषा एक ऐसी गीर्वाण वाणी है जिसमें अधिकतर सुधी जन पठन–पाठन, अध्ययन–अध्यापन करना पसन्द करते हैं। रामायण में सर्वोत्कृष्ट माने जाने वाली कतिपय भावनाओं का आज के इस भौतिकवाद के युग में भी अत्यन्त महत्त्व है। हिन्दी भाषा में अनुवाद हो जाने पर सामान्यजन के लिये भी इनका अधिगमन सुगम हो गया है। एतदर्थ प्रकृत शोध–पत्र का प्रयोजन भी रामायण से हिन्दी भाषा में अनूदित जीवनोपयोगी इन भावों से पाठकवृन्द को अवगत कराना है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है। इसमें आस्तिकता, धार्मिकता, प्रभुभक्ति, उदात्त एवं दिव्य भावनाओं तथा उच्च नैतिक आदर्शों का वर्णन मिलता है। कवि ने मानव के स्वभावों, भावनाओं और संघर्षों का मार्मिक एवं हृदयहारी चित्रण किया है। माता–पिता का आज्ञापालन, सत्यवादिता, प्रतिज्ञा–पालन, दीन–दुर्बल एवं आश्रित–संरक्षण, न्यायानुकूलाचरण, भातृप्रेम, त्याग, उदारता, सन्ध्या, यज्ञ इत्यादि गुणों के चित्रण से रामायण संसार के लिए एक परम–उपकारी ग्रन्थ सिद्ध हुआ है।

**पिता–पुत्र स्नेह–भाव :** रामायण में यह दर्शाया गया है कि पिता का पुत्र के प्रति और पुत्र का अपने पिता के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? महाराजा दशरथ को जब बहुत दिनों तक कोई पुत्र–प्राप्ति नहीं हुई तो वे ऋष्यशृंग से बोले–हे सुव्रत! आप मेरे कुल की वृद्धि के लिए कोई उपाय कीजिए।[1] तदनन्तर जब राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ तो अयोध्या में दशरथ ने उत्सव में खुश होकर बन्दीगणों को पारितोषिक तथा ब्राह्मणों को धन और गाय प्रदान की।[2] रामायण में एक पिता अपने पुत्र से कितना स्नेह करता है? इसका ज्ञान हमें रामायण के एक सन्दर्भ से होता है कि जब विश्वामित्र राक्षसों का विनाश करने के लिये दशरथ से उनके पुत्र राम को अपने साथ ले जाना चाहते हैं तो दशरथ पुत्र–स्नेह के कारण ऋषि–वचनों को सुनकर कुछ समय के लिए बेहोश हो गए तदनन्तर सचेत होने पर बोले हे महर्षि! राम तो अभी पन्द्रह ही वर्ष का है। मैं उसे किसी भी प्रकार राक्षसों से युद्ध करने योग्य नहीं समझता। मेरे पास जो अक्षौहिणी सेना है, उसे साथ ले जाकर मैं उन राक्षसों से युद्ध करूँगा।[3] हे विश्वामित्र! साठ वर्ष की अवस्था में बड़े कष्ट उठाकर मैंने राम को प्राप्त किया है। अतः आप इसे न ले जाइए, क्योंकि चारों राजकुमारों में मेरा परम स्नेह राम के ही ऊपर है, वह धर्मप्रधान और ज्येष्ठ हैं इसलिए आप श्रीराम को न ले जाइए।[4] हे ब्रह्मन् ! आप मुझ पर और मेरे बच्चे पर कृपा करें। मैं अपने बाल–पुत्र को

*संस्कृत प्रवक्ता, सनातन धर्म महाविद्यालय, सैक्टर 32, चण्डीगढ़।

कदापि नहीं दूँगा।[5] रामायण में एक और स्थल पर जब कैकेयी दशरथ से राम के लिए वन–गमन का वर माँगती है तो राजा दशरथ पुत्र–स्नेह के कारण उसे नृशंस, दुष्ट चरित्रवाली, कुल का सत्यानाश करने वाली कहते हुए विलाप करते हैं कि सूर्य के बिना संसार स्थिर रह सकता है, जल के बिना अन्न जीवित रह सकता, परन्तु श्रीराम के बिना मेरे शरीर में प्राण नहीं रह सकते।[6] इस प्रकार रामायण में पिता का पुत्र के प्रति प्रगाढ़–प्रेम चित्रण हमें मिलता है।

इस प्रकार पुत्र की अपने पिता के प्रति प्रेम–भावना का परिचय भी हमें रामायण में देखने को मिलता है। राम कहते हैं कि पिता का कहना न मानकर, उनको असन्तुष्ट एवं कुपित कर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहता।[7] पिता की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए मैं जटा और वल्कल को धारणकर नगर को छोड़कर अभी वन को जाऊँगा।[8] यदि मैं अपने प्राण देकर भी पूज्य पिता जी का अभीष्ट कार्य कर सकूं तो उस कार्य को किया हुआ ही समझो, क्योंकि पिता की सेवा और उनकी आज्ञा–पालन करने से बढ़कर संसार में कोई धर्माचरण है ही नहीं।[9] वनवास काल में भी राम सुमन्त्र से कहते हैं कि मेरी ओर से पिता जी के चरणों में प्रणाम करना।[10] अतः वाल्मीकि ने पिता–पुत्र की परस्पर स्नेह–भावना को रामायण में विभिन्न स्थलों पर दर्शाया है।

**माता–पुत्र स्नेह–भाव :** माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य का रामायण में समय–समय पर स्वतः ही दिग्दर्शन होता है। राज्याभिषेक की घोषणा को सुनकर माता कौशल्या पुत्र राम को आशीर्वाद देती हुई कहती है कि हे पुत्र! तू धर्मशील, वृद्ध महात्माओं, राजर्षियों की आयु और कीर्ति को प्राप्त कर तथा कुलोचित धर्म के पालन में सदा निरत रहे।[11] वनवास के वृतान्त को सुनकर वे कुल्हाडे से काटी हुई शाल वृक्ष की डाली की भाँति सहसा भूमि पर गिर पड़ी–मानो आकाश से कोई तारा गिर पड़ा हो।[12] वे कहती हैं कि पुत्र तेरे वियोग में न तो मुझे सुख है और न जीने की अभिलाषा है। तेरे साथ रह कर मेरे लिए तिनके खाने में भी भलाई है। यदि तू मुझे शोक–सनतप्ता को छोड़कर वन में चला गया तो मैं अनशन करके बैठ जाऊंगी और अपने प्राण त्याग दूँगी।[13] इसी प्रकार रामायण में पुत्र की माता के प्रति स्नेह–भावना का भी पल्लवन किया गया है। राम अपने राज्याभिषेक की सूचना सर्वप्रथम माता कौशल्या को ही देते हुए कहते हैं–हे माता ! पिता जी ने मुझे प्रजा पालन की आज्ञा दी है। अतः मुझे कल ही पिता जी की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा।[14] वनगमन के समय वे अयोध्या लौटते हुए सुमन्त्र के द्वारा भरत के लिये यह सन्देश भेजते हैं कि जैसे तुम्हारे लिए कैकेयी और सुमित्रा में भेद नहीं है, विशेष रूप से मेरी माँ कौशल्या को भी वैसा ही मानना। कैकेयी को भी राम कहते हैं कि पूज्य पिता के न कहने पर भी मैं आपके ही आदेश से चौदह वर्ष तक निर्जन वन में निवास करूँगा, क्योंकि मेरे लिए आप पिता से भी अधिक पूज्य है।[15] अतः आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे ठीक प्रकार से राज्य का पालन करें और पिता जी की शुश्रूषा करें, क्योंकि पुत्र के लिये यही सनातन धर्म है।[16] इस प्रकार के वचनों से हमें रामायण में माता–पुत्र स्नेह–भावना के दर्शन होते हैं।

**पति–पत्नी स्नेह–भाव :** वाल्मीकि ने रामायण में पति–पत्नी की परस्पर स्नेह–भावना का भी यथासमय चित्रण किया है। कैकेयी के रुष्ट हो जाने पर उसे मनाने के लिए दशरथ कहते हैं–हे प्राणप्रिये! तुम व्याधिग्रस्त मनुष्य की भाँति भूमि पर क्यों लेट रही हो। हे भामिनि! मुझे यह तो

बताओ कि तुम्हें क्या रोग है? यदि तुम्हें कोई रोग नहीं है तो क्या किसी का प्रिय करना चाहती हो अथवा किसी ने तुम्हारा अप्रिय किया है। हे प्रिय! तुम रोओ मत और अपने शरीर का परिशोषण मत करो।[17] दशरथ अपनी तीनों पत्नियों से स्नेह करते थे। वे कौशल्या को कहते हैं कि हे कौशल्या! मैं हाथ जोड़कर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ, क्यों तुम तो दयालु हो और विरोधियों से भी स्नेह करती हो फिर अपनों के साथ तो कहना ही क्या?[18] इसी प्रकार राम भी पत्नी सीता को स्नेह के कारण वन–गमन से रोकने के लिए वन के कष्टों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की दहाड़ तथा पर्वतीय झरनों के गिरने से होने वाले भयंकर शब्द सुनने में बड़े दुःखप्रद होते हैं। इसी कारण वन बड़े दुःखदायी हैं। सिंहादि वन्य जन्तु मनुष्य को देखते हुए उन पर टूट पड़ते हैं। मार्ग में जल नहीं मिलता और मार्ग भयंकर होते हैं। वन में सायं–प्रातः वृक्षों से स्वयं गिरे हुए फल खाकर यही सन्तोष करना पड़ता है। वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है। वहाँ कीट–पतंग, बिच्छू, पिस्सु तथा मच्छर नित्य सताया करते हैं। इसलिये वन दुःखदायी हैं।[19] इसी प्रकार एक पत्नी की अपने पति के प्रति स्नेह–भावना भी यहाँ दर्शायी गई है वनगमन की याचना करती हुई सीता श्रीराम से कहते है कि हे आर्यपुत्र! पिता, माता, भ्राता, पुत्र तथा पुत्रवधु ये सब अपने–अपने पुण्यों का भोग करते हुए कृतकर्मानुकूल सुख–दुःख प्राप्त करते हैं, परन्तु पति के भाग्य को एक स्त्री ही भोगती है। इसलिए आपके वन जाने के आदेश के साथ मुझे भी वन जाने की आज्ञा मिल गई,[20] क्योंकि स्त्रियों के साथ लोक–परलोक में न पिता, न पुत्र, न भाई–बन्धु, न माता और न सखि–सहेलियाँ ही साथी होती है। स्त्रियों के लिए तो एक पति ही सर्वदा उनका सर्वस्व होता है। हे राम! यदि आप आज ही दुर्गम वन को प्रस्थान करेंगे तो मैं कुश–कण्टकों को रौंदती हुई तुम्हारे आगे–आगे चलूँगी।[21] आप के साथ वन में रहते हुए मैं आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं दूँगी, क्योंकि आपके साथ रहने के सुख के समक्ष मैं स्वर्ग सुख को भी कुछ नहीं समझती। आपके बिना यदि मुझे स्वर्ग में रहना पड़े तो मुझे पसन्द नहीं है।[22] इस प्रकार रामायण में पति–पत्नी की परस्पर स्नेह भावना का सौहार्दपूर्ण वर्णन किया गया है।

**गुरु–शिष्य स्नेह–भाव :** रामायण में 'गुरु' का दायित्व 'ऋषि' निभाते थे। इसमें अनेक ऋषियों का उल्लेख मिलता है, जैसे–वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, अगस्त्य, भृगु, भारद्वाज, सुतीक्ष्ण, विश्रवा, दुर्वासा इत्यादि अगस्त्य और विश्वामित्र शस्त्र और शास्त्र दोनों ही प्रकार की शिक्षा देते थे। स्वयं वाल्मीकि भी महान् गुरु हैं, भारद्वाज उनके शिष्य हैं। गुरु शिष्य के लिए 'आप्त' पुरुष हैं। विश्वामित्र जी जब राम–लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते हैं तो वे उनको अनेक विद्याओं में पारंगत करते हैं और कहते हैं कि पुरुषोत्तम राम! इन विद्याओं के पढ़ लेने से तुम्हारा यश सम्पूर्ण जगत् में फैल जाएगा।[23] गुरु विश्वामित्र की स्नेह–भावना का परिचय हमें इस तथ्य से मिलता है कि विश्वामित्र कहते हैं–हे राम! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ और प्रसन्नतापूर्वक सब अस्त्र तुम्हें देता हूँ।[24] सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाकर राम ने विनम्रता से निवेदन करते हुए कहा भगवान मेरा नाम राम है, मैं आपके दर्शन करने आया हूँ।[25] इसी प्रकार ऋषि अगस्त्य के आश्रम में प्रविष्ट होकर राम ने ऋषिचरणों को छूकर प्रणाम किया।[26] राम गुरु की आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करते। मिथिला

में जनक–सभा में शिव–धनुष का स्पर्श करने के लिए वे गुरु से आज्ञा मांगते हैं। गुरु उनके लिए पूज्य हैं। वे चित्रकूट में भरत से भी पूछते हैं कि क्या तुम धर्म में तत्पर रहने वाले विद्वान्, ब्राह्मण और तेजस्वी गुरुओं की यथावत् पूजा करते हो। अतः रामायण में गुरु दूर–द्रष्टा, आचारवान् और तपस्वी है, जो अपने शिष्य को मानो अपने गर्भ में धारण करके उसकी सर्वांगीण सुरक्षा का दायित्व लेता है तथा शिष्य की विद्यापूर्ण होने पर उसे अपने विद्यागर्भ से पुनः जन्म देकर 'द्विज' बनाता है।

**भ्रातृ–स्नेह–भाव :** भाइयों की परस्पर स्नेह–भावना का जितना वर्णन रामायण में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। सीता–विवाहोत्सव पर राजा जनक पुरोहित शतानन्द से कहते हैं कि अत्यन्त धार्मिक, तेजस्वी एवं बलवान् मेरा छोटा भाई 'कुशध्वज' सुन्दरपुरी में रहता है। मैं उसे देखना चाहता हूँ।[27] इसी प्रकार राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन चारों भाइयों में परस्पर घनिष्ठ स्नेह–भावना है। राम का अपने भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेह है। उनके राज्याभिषेक की उद्घोषणा हो जाने पर वे लक्ष्मण से कहते हैं–हे लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वी का शासन करो। तुम मेरी दूसरी आत्मा हो, अतः यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। मेरा जीवन और राज्य सब कुछ तुम्हारे लिए है।[28] वन–गमन के समय कैकेयी से श्रीराम कहते हैं कि हे माता! महाराज की तो बात ही क्या मैं तो तेरे कहने से ही प्रसन्नतापूर्वक भाई भरत के लिए राज्य ही नहीं अपितु सीता, अपने प्राण, इष्ट और धन सब कुछ वार सकता हूँ वनवास में लक्ष्मण के द्वारा भरत के प्रति क्रोधित हो जाने पर राम लक्ष्मण से कहते हैं–हे लक्ष्मण! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी को मैं अपने भाइयों के लिए ही चाहता हूँ। मैं राज्य कामना भी भाईयों के पालन एवं सुख के लिए ही करता हूँ। तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता हो, अग्नि उसे भस्म कर डाले।[29] भाई की स्नेह–भावना के कारण हो विभीषण भाई को विनाश से बचाने के लिए कहते हैं–हे भ्राता! जब से सीता आपकी इस लंकापुरी में आई है तब से हम सबको नित्य अशुभ शकुन दिखलाई दे रहे हैं।[30] अतः भ्रातृ–स्नेह–भावना के अनेक उद्धरण रामायण में देखे जा सकते हैं।

**मैत्री–स्नेह–भाव :** मैत्री–स्नेह–भावना को समझने के लिए रामायण में राम–सुग्रीव को मित्रता सर्वविदित है। राम सुग्रीव से कहते हैं कि आज से हम दोनों परम्–मित्र हैं और हमारे सुख और दुःख दोनों के समान हैं।[31] अतः मैं तुम्हारी सहायता अवश्य करूँगा। हे सुग्रीव! आपत्ति के समय स्नेही और हितैषी मित्र को जो करना चाहिए वह सब तुमने किया है। अतः मैं तुमसे आश्वस्त हूँ। तुम्हारे जैसे मित्र का इन कठिन परिस्थिति में मिलना दुर्लभ है। मैं तुम्हारे कार्य के पूर्ण करने की शपथ खाता हूँ।[32] इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण में परस्पर मैत्री–स्नेह–भावना का भी वर्णन मिलता है।

**निष्कर्षत :** यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण में वर्णित भावों का यदि हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करें तो यह वर्तमान में उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं के समाधान में किसी रोगनाशक औषधि के समान कार्य कर सकती है। हम देखते हैं कि आज भौतिकवाद की चकाचौंध में अधिकांशतः पिता–पुत्र में भी कलह हो जाता है। दोनों अपनी–अपनी कर्त्तव्यपरायणता

को भूल चुके हैं। आज हम समाचार–पत्रों, दूरदर्शन और अपने आस–पास के परिवेश में यह देखते हैं कि जो माता–पिता जीवन में परिश्रम करके अपनी जिस सन्तति की उन्नति करते हैं, वही सन्तति उनको दुःखी करती है। जो सन्तान माता–पिता द्वारा प्रदत्त संस्कारों का जीवन में सम्यक् रूपेण निर्वहण नहीं कर सकीं। इसका एक कारण परस्पर स्नेह–भावना का अभाव भी हो सकता। आज बहुत से परिवारों में सम्भवतः यह देखा जाता है कि यदि घर में छः सदस्य हैं तो उनका भी परस्पर तालमेल नहीं रहता। वे कभी भी एक साथ एकत्रित होकर घरेलू समस्याओं के विषय में मन्त्रणा नहीं करते और यदि मन्त्रणा करते भी हैं तो किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंचते। यहां मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की समस्याओं के समाधानार्थ आज रामायण की शरण में जाने की आवश्यकता हैं दशरथ जैसे पिता का क्या कर्त्तव्य था? कौशल्या जैसी माता का वात्सल्यपूर्ण स्वभाव कैसा था? राम जैसे पुत्र द्वारा आज्ञापालन, मातृभक्ति, पितृभक्ति इत्यादि कर्तव्यों का किस प्रकार से पालन किया गया है? अतः इन सभी विचारों को जीवन को धारण करने की आवश्यकता है। आज पति–पत्नी का परस्पर विश्वासपूर्ण जीवन व्यतीत करना कठिन हो गया है। दोनों छोटी–छोटी बातों पर एक–दूसरे से अलग होने को तैयार हो जाते हैं। आज हम रामायण में वर्णित राम–सीता के उस प्रगाढ़ सम्बन्ध को विस्मृत कर चुके हैं जिसमें सीता ने कहा है–

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गति सदा।।

(अयोध्याकाण्ड, 23.5)

इसका भाव यह है कि स्त्रियों के साथ लोक–परलोक में न पिता, न माता, न भाई–बन्धु और न सखी ही साथी होती हैं। स्त्रियों के लिए तो एक पति ही उनका सर्वस्व होता है। आज भाई भी भाई का सबसे बड़ा शत्रु बन गया है, लेकिन रामायण में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न इन भाइयों की स्नेह–भावना को देखिए, जिसमें राम कहते हैं–

धर्ममर्थं च काम च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते।।

(अयोध्याकाण्ड, 68.5)

अर्थात् हे लक्ष्मण! मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी को मैं अपने भाइयों के लिए ही चाहता हूँ। वनवास में भरत को सेना सहित देखकर लक्ष्मण के क्रोधित हो जाने पर राम उसे शान्त रहने के लिए कहते हैं। हम राजनीति की यदि बात करें तो आज कोई भी किसी के लिए कोई पद त्यागने के लिए उद्यत नहीं होता और रामायण में रामचन्द्र ने भ्रातृस्नेह–भावना, मातृस्नेह–भावना और पितृस्नेह–भावना के लिए राज्याभिषेक छोड़कर वन को चले गए थे। इस प्रकार संक्षेपण यह कहा जा सकता है कि आज मानव–जीवन में बढ़ती हुई समस्याओं का समाधान खोजने की आवश्यकता है और इसके लिए रामायण में वर्णित परस्पर स्नेह–भावनाओं का अनुसरण अत्यावश्यक है।

## सन्दर्भ सूची


1. ततोऽब्रवीदृष्यश्रृंग राजा दशरथस्तदा। कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत।। वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 8, श्लोक 2
2. प्रदेशाँश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम्। ब्राह्मणेभ्या ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः।। वही, सर्ग 9, श्लोक10
3. तच्छुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम्। मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत्।।
   ऊनषाडशवर्षो में रामो राजीवलोचनः। न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः।।
   इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः। अनया सहितो गत्वा योद्धाऽहं तैर्निशाचरैः।। वही, सर्ग 11, श्लोक 10–12
4. वही, श्लोक 19–20
5. स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके। बालं मे तनयं ब्रह्मन्नैव दास्यामि पुत्रकम्।। वही, श्लोक 25
6. तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना। न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्।। वही, सर्ग 11, श्लोक 7
7. असन्तोषमयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः। मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कपिते नृपे।।वही,सर्ग 15, श्लोक 10
8. एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः। जटाजिसधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्।। वही, सर्ग 16, श्लोक 2
9. वही, श्लोक 14–15
10. वही, सर्ग 40, श्लोक 15
11. वृद्धानां धर्मशलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचित कुले।। वही, सर्ग 17, श्लोक 5
12. सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने। पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता।। वही, श्लोक 12
13. त्वद्वियागान्न में कार्यं जीवितेन सुखेन वा। त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम्।।
   यदि त्वं यास्यसि वनं त्वक्त्वा मां शोकलालसाम्। अहं प्रायमिहासिष्य न हि राक्ष्यामि जीवितुम्।। वही, सर्ग 18, श्लोक 21–22
14. अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि। भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा में शासनं पितुः।। वही, सर्ग 4. श्लोक 25
15. वही, सर्ग 16, श्लोक 16
16. वही, श्लोक 19
17. वही, सर्ग 9, श्लोक 9–11
18. प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः। वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि।। वही, सर्ग 47, श्लोक 12

19. वही, सर्ग 24, श्लोक 5–14
20. आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषां स्वानि पुण्यानि भुजानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते।। भर्तुर्भाग्यं त भार्यै का प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि।।वही,सर्ग 23,श्लोक 3–4
21. वही, श्लोक 5–6
22. वही, श्लोक 8–13
23. बलामतिबलां चैव पठतस्ता राघव। विद्याद्वयमधीयाने यशस्चाथ भवेद्भुवि।। वही, सर्ग 13, श्लोक 11
24. परितुष्टोऽस्मि भद्र ते राजपुत्र महायशः। प्रीत्या परमयायुक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।। वही, सर्ग 17,श्लोक 2
25. अरण्य का., सर्ग 6, श्लोक 2
26. वही, सर्ग 9, श्लोक 10
27. बालकाण्ड, सर्ग 29, श्लोक 2–4
28. लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्। द्वितीयं मऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरूपस्थिता।। सौमित्रे भुक्ष्च भागास्त्वमिष्टानं राज्यफलानि च। जीवित च हि राज्य च त्वदर्थमभिकामये।। अयो. का., सर्ग 4, श्लोक 29–30
29. अयोध्याकाण्ड, सर्ग 68, श्लोक 5–8
30. यदा प्रभति वैदेही सम्प्राप्तेमां पुरीं तव। तदा प्रभृति दृश्यन्ते निमित्तान्यशुभानि नः।। युद्धकाण्ड, सर्ग 8, श्लोक 5
31. किष्किन्धा काण्ड, सर्ग 4, श्लोक 13
32. वही, सर्ग 6, श्लोक 14–15, 17–19

# भक्त नामदेव की वाणी का सामाजिक महत्त्व

रतिन्द्रजीत कौर*

12वीं शताब्दी में समाज में जात–पात अथवा धर्म कट्टरता शिखर पर थी। समाज में कई धार्मिक कुरीतियों ने स्थान ले लिया था, जिससे सामाजिक जीवन अस्त व्यस्त हो रखा था। दूसरी ओर देश में मुगलों का शासन था तथा वह भी अहंकार में साधारण जनता पर अत्याचार करने में संकोच नहीं करते थे। इसी समय संघर्ष तथा आंदोलन भी अपनी चरम सीमा पर थे तथा जनता को प्रोत्साहन तथा मार्ग दर्शन का दायित्व परम पिता परमेश्वर द्वारा भेजे भक्त नामदेव ने किया। भारत वर्ष में भक्ति की जो लहर चली उसमें भक्त नामदेव का नाम श्रेष्ठ था, जो मध्य युगीन नव जागरण के प्रणेता थे।

भक्त नामदेव जी का जन्म 1270ई. में महाराष्ट्र के गांव नरसी ब्राह्मणी जिला सितारा में हुआ। इनकी माता का नाम गोना बाई तथा पिता का नाम 'गमसेनी' था। कुछ विद्वान इनके पिता को गमसेती तथा दामेश जी भी लिखते हैं। इनके पिता जी एक श्रद्धावान भक्त थे। घर में आध्यात्मिक वातावरण होने के कारण भक्त नामदेव भी धार्मिक स्वभाव के थे। इनका विवाह 'राजाबाई' से हुआ। भक्ति में लीन रहने के कारण इनका व्यापार में मन नहीं लगा और वह असफल रहे। नामदेव जी ने अपने जीवन का अत्याधिक समय 'पंढरपुर' में महात्मा विशोभा जी की संगति में व्यतीत किया तथा संत ज्ञानेश्वर जी के साथ कई तीर्थ यात्राएं की तथा इनकी प्रेरणा द्वारा ही भक्त जी ने नाथपंथी विशोभा खेचर से दीक्षा ली। नामदेव जन्म से विट्ठल भक्त थे तथा दिन रात विट्ठल भक्ति में लीन रहते थे।

नामदेव जी ऐसे भक्त हुए हैं जिनकी वाणी सिक्ख तथा हिन्दु दोनों धर्मों द्वारा गाई तथा उच्चारण की जाती है। दोनों धर्मों के लोग इनकी वाणी का गुणगान करते हैं तथा यह गुरू ग्रंथ साहिब में भी दर्ज है। गुरू ग्रंथ साहिब में 15 भक्तों में भक्त नामदेव जी का नाम भी वर्णित है जिनकी वाणी में 18 रागों में 61 शब्द दर्ज हैं। इसके अतिरिक्त इनकी वाणी दक्षिण तथा महाराष्ट्र में गाई जाती है। नामदेव जी की मराठी रचना को 'अभंग' कहा जाता है जो 'श्री नामदेव गाथा' में संग्रहित है। इनके अभंगों की कुल संख्या 2656 मिलती है। हिन्दी काव्य मंष इनके पद भी मिलते हैं जिनकी संख्या 230 मिलती है। आपकी वाणी उच्चारण तथा गायन करने से मन को शांति मिलती है तथा भक्ति भावना संचारित होती है। अन्य भाषाओं में वाणी रचने का उद्देश्य एक ही था कि प्रत्येक व्यक्ति आडम्बर, अंधविश्वास, जात–पात आदि से निर्वित हो सत्य की खोज कर ईश्वर प्राप्ति करे ताकि ईश्वर द्वारा दिया गया अमूल्य जीवन व्यर्थ न जाए।

* शोधार्थी, संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ ।

अभंग– भक्त नामदेव द्वारा रचित मराठी भाषा पद 'अभंग' कहलाते हैं अथवा विट्ठल की स्तुति में गाए जाने वाले छंदों को अभंग कहा जाता है। यह छंद क्षेत्रीय भाषा में गाए जाते हैं। नामदेव जी का जन्म महाराष्ट्र में हुआ। इनकी मातृ भाषा मराठी होने के कारण इनकी अभंग रचनाएं सबसे अधिक मिलती हैं। इनकी लम्बाई की कोई सीमा नहीं होती इसलिए इनको अभंग (अटूट) कहा जाता है। एक अभंग में दो से लेकर दो सौ चौक आ सकते हैं। अभंग के चार चरण होते हैं तथा साढ़े तीन या चार चरणों का एक चौक होता है। हिंदी पदों की तरह इसमें भी अधिक नियम लागू नहीं होते हैं।

महाराष्ट्र में निम्न अभंग का बहुत महत्व है। यह अभंग प्रार्थना के रूप में गाया जाता है। यदि इस अभंग का उच्चारण न किया जाए तो भजन संकीर्तन अथवा नित्य प्रतिदिन की पूजा–पाठ धर्मिक विधि सम्पन्न नहीं मानी जाती है।

आकल्प आयुण्य व्हावें तयां कुला। माझिया सकला हरिच्या दासां।।1।।
कल्पनेची बाध न हो कोणे कालीं। ही संत मंडली सुखी असो।।2।।
अहंकाराचा बारा न बारा न लागो राजसा। माइआ विष्णुदासां भविकांसी।।3।।
नामा म्हणे तथा आसवें कल्याण। ज्या मुखीं निधान पांडुरंग।।4।।

अर्थात उस कुल की आयु कल्पपर्यन्त रहे जो मेरे श्रीहरि विट्ठल का दास है। मेरे समस्त हरिदासों को किसी समय भी दुख न हो, समस्त मंडली प्रसन्न रहे। मेरे प्रिय और भक्त, समस्त विष्णु के दासों को अहंकार का स्पर्श तक न हो। भक्त नामदेव कहते हैं जिसके मुख में पांडुरंग के नाम का वास है, उसका कल्याण हो।

'श्री नामदेव गाथा' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि भक्त नामदेव ने 100 करोड़ पदों की रचना करने की प्रतिज्ञा की थी। मराठी भाषा में उपलब्ध् अभंगों के संकलन नामदेव गाथा नाम से बारकारी पंथ के महात्माओं तथा अन्य महानुभावों ने प्रकाशित किए हैं। भक्त जी की मातृ भाषा मराठी हाने के कारण उनकी अन्य पद रचनाओं में मराठी का प्रभाव है। महाराष्ट्र में वह ईश्वर को विट्ठल, बापू बीठला के नाम से पुकारते हैं।

पद–मराठी अभंग तथा गुरबाणी शब्द की तरह भक्त नामदेव रचित हिन्दी पद रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। भक्त जी की पद वाणी रसपूर्ण तथा ह्रदय को स्पर्श करने का गुण भी रखती है। नामदेव की हिन्दी पदावली परमात्मा के सगुण तथा निर्गुण रूप को दर्शाती है। भक्त नामदेव ने पदावली में अपने विचारों द्वारा समाज को एक नई दिशा प्रदान की। इसमें कोई संदेह नहीं कि नामदेव की वाणी हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित तथा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। नामदेव जी ने राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, काशी आदि प्रदेशों में अपने विचार साधारण जनता को समझाने के लिए हिन्दी भाषा को अपनाया। भक्त नामदेव को महाराष्ट्र के बारकारी मत के प्रथम प्रचारक निर्गुण भक्ति मत तथा हिन्दी पदावली के प्रथम गायक भी कहा जा सकता है। इनको कबीर आदि हिन्दी संतों के पथ प्रदर्शक भी मानते हैं। इनके हिन्दी के पद बहुत अधिक प्राप्त नहीं होते हैं। नामदेव जी के काव्य संबंध में महत्वपूर्ण तथा प्रमाणिक ग्रंथ 'संत नामदेव की हिन्दी पदावली' को

माना जाता है जो पूना विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित की गई है। इसमें नामदेव जी की 13 साखियों तथा 230 पदों का वर्णन मिलता है।

भक्ति संगीत में पद गायन शैली भावना प्रधान होती है। यह शैली गायन में लचीली तथा नियमों में न बंधी होने के कारण अधिक लोकप्रिय है। गायक अपनी इच्छानुसार पदों के आकार को घटा बढ़ा कर या कभी कभी मनोनुकूल राग, ताल, लय मे नियोजित पदों का गायन भी करते हैं। नामदेव की हिन्दी पदावली में कुछ दोहे राग आधरित तथा कुछ बिना राग के भी प्राप्त होते हैं। जैसेः–

**ध्नाश्री राग में**

'कपटे नही मिलयो रे। गुण गोबिंदौ गुण सागर गोपाल।।'

**राग कल्याण में**

'नाच रे मन राम के आगे। जान बिचार जोग बैरागे। टेक।।'

**राग सारंग में**

'भैया कोई तू लैरे राम नाम। जोग जगि तप होम नियत व्रत। ये सब कोने काम। टेक।।'

**राग मल्हार में**

'गोबिंद राख्यो चरनन नीर। जैसे तरवर पात परै झूर बिनसे सकल सरीर।। टेक।।'

**राग ललित में**

'जानौ न जानौ बंद पुराना। छाडौ पाना पोथी बिन। मोघा मुकता हल बरखै। श्रवन निरंतर मोती।। टेक।।'

**राग बसंत में**

'माधो माली एक सयाना। अंतर गत रहे लुकाना।। टेक।।'

भक्त नामदेव रचित कई पद ऐसे हैं जिनकी कुछ पंक्तियां छोटी हैं तथा कुछ पक्तियां लम्बी हैं। ऐसी अवस्था में लघु या दीर्घ आलाप द्वारा लय मिला ली जाती है तथा गायक के स्वर में ढल जाने तथा भक्ति भावना द्वारा पद गायन शैली का जो आनंद प्राप्त होता है, वह मनुष्य को विस्माद की ओर ले जाता है। गाथा परम्परा के अन्तर्गत नामदेव की हिन्दी रचनाओं से सम्बन्धित चार प्रतियाँ[1] मिलती हैं, परंतु इनमें से केवल श्री तुकाराम तात्या द्वारा संकलित 'नामदेव अणि त्याचे कुटम्बाची व समकालीन साधूचे ईभंगाची गाथा' में ही 'हिन्दुस्तानी भाषोंत अभंग' शीर्षक में नामदेव के 103 हिन्दी पद प्राप्त होते हैं, जिनमें 15 रागों का उल्लेख है। शेष प्रतियों में रागोल्लेख प्राप्त नहीं है।[2]

**शबद**– सिक्ख धर्म के आदि ग्रंथ, गुरू ग्रंथ साहिब जी का संपादन पांचवें सिक्ख गुरू अर्जुन देव जी द्वारा किया गया। यह ग्रंथ गुरमुखी लिपि में संकलित किया गया है। आदि ग्रंथ में छः सिक्ख गुरूओं के अतिरिक्त 15 भक्त, नामदेव, जयदेव, त्रिलोचन, परमानंद, कबीर, रैदास, वेनी, पीपा आदि की वाणी का उल्लेख मिलता है जिसमें नामदेव का नाम भी वर्णित है। आदि ग्रंथ में ईश्वर स्तुति रचना को शब्द कहा गया है तथा इसमें भक्त जी के 18 रागों में 61 शबद मिलते हैं। इन 18 रागों में 17 राग तथा एक राग प्रकार है। इनकी सारी वाणी राग आधारित है अथवा प्रत्येक शबद के

ऊपर राग लिखा गया है तथा इनको निर्धारित रागों में ही गायन का आदेश दिया गया है। गुरमति संगीत में पूर्ण मर्यादा तथा अनुशासन से वाणी का गायन किया जाता है। गुरूमति संगीत में भक्त नामदेव जी की वाणी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्त जी द्वारा रचित राग शबद की जानकारी इस प्रकार है।

राग गऊड़ी चेती राग प्रकार (1 शबद), राग आसा (5 शबद), राग गुजरी (2 शबद), सोरठि (3 शबद), राग ध्नाश्री (5 शबद), राग टोडी (3 शबद), राग तिलंग (2 शबद), राग बिलावल (1 शबद), राग गोंड (7 शबद), राग रामकली (4 शबद), राग माली गाऊड़ा (3 शबद), राग मारू (1 शबद), राग भैरव (12 शबद), राग बसंत (3 शबद), राग सारंग (3 शबद), राग मल्हार (2 शबद), राग कान्हड़ा (1 शबद), राग प्रभाती (3 शबद)

गुरमति संगीत में भक्त जी की वाणी घर, अंक, रहाओ आदि तकनीकी शब्दावली अथवा संकेतों में बंधी हुई है। वाणी गायन करते समय इन संकेतो का पूर्णतः ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरण स्वरूपः–

**घर 4 सोरठि**

पाड़ पड़ोसन पूछ ले नामा का पहि छानि छवाई हो।।
तो पहि दुगणी मजूरी देहउ मो कउ बेढी देहु बताई।।
री बाई बेढी देन न जाई देख बेढी रहिओ समाई।।
हमारै बेढी प्रान अधारा।।1।। रहाउ।।

इसमें घर से भाव ताल से है अर्थात यह शबद 4 मात्रा की ताल में उच्चारण करने का आदेश है। रहाओ शब्द से भाव शबद के केंद्रीय भाव या सार से है। शबद का केंद्रीय भाव रहाउ की पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त शबद मे अंतरो के संकेत के लिए 1, 2, 3, 4 अंक आदि का प्रयोग किया गया है। आदि ग्रंथ में दर्ज भक्त जी की वाणी का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि भक्त जी राग के प्रभाव में रहते हुए ईश्वर की प्रशंसा तथा गुणगान करते थे तथा उनकी वाणी का गायन किस प्रकार करना है इसका मार्ग दर्शन भी वह स्वयं ही करते हैं।

इसके अतिरिक्त नामदेव जी की वाणी में मराठी, गुरमुखी, ब्रजभाषा, उर्दू, गुजराती आदि भाषाओं का मिश्रित रूप भी प्राप्त होता है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भाषा का यह रूप भले ही संवर्धनीय न हो परंतु संगीत के लिए यह लचीलापन वरदान है। यदि देखा जाए तो प्रत्येक भाषा की अपनी एक विधि मान्य होती है अथवा भाषाओं को बोलने के ढंग में अंतर के अतिरिक्त उच्चारण, शब्द भंडार तथा वाक्य विन्यास में भी भिन्नता पाई जाती है जो प्रत्येक भाषा को एक अलग पहचान देती है। परंतु नामदेव जी की वाणी में शब्दों का माधुर्य, कोमलता, शब्दों की ध्वनि शक्ति आदि तत्व संगीत से ओत–प्रोत हो कर प्रत्येक सुनने वाले प्रत्येक श्रद्धवान व्यक्ति को प्रभावित करते है।

भक्त नामदेव की वाणी का आध्यात्मिक महत्व के साथ साथ धार्मिक कुरीतियों पर भी प्रहार था। भक्त नामदेव, जिनके प्रति लोग जात–पात का भेद भाव रखते थे, उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उन्हें गले लगाया। स्पष्टतः सर्वव्यापक परमात्मा ने जाति के भेद भाव को

कोई स्थान नहीं दिया। जात–पात के सम्बंध में भक्त नामदेव जी का मत था कि जिस संसारिक जाति में आपका जन्म हुआ उसे अपनी असल जाति मानना मूर्खता या अज्ञानता है। उन्होंने अपनी वाणी द्वारा मूर्ति पूजन प्रथा से आगे बढ़कर ईश्वर से मिलन की ओर सही मार्ग दर्शन करने के लिए संगीत को माध्यम बनाया। भक्त जी ने अपनी सांगीतिक प्रतिभा दृष्टि से पद, अभंग तथा शबद को रागबद्व कर गायन किया, जिससे भक्त नामदेव की वाणी का सामाजिक महत्व और बढ़ गया। भक्त जी की शब्द रचना राग आसा, राग मारू, राग सोरठि, राग चेती आदि की उत्पति लोक धुनों से मानी गई है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस समय की प्रचलित लोक धुनें एक समय के बाद नियमों में बंधने से राग में परिवर्तित हो गई। प्रत्येक धर्म में इनकी वाणी पूर्ण मर्यादा तथा श्रद्धा से गाई जाती है। अतः नामदेव जी द्वारा संगीत जगत में किया गया कार्य प्रेरणा का स्त्रोत है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. नामदेवाची आणि त्याचे कुटुम्बाची व समकालीन साधूचे अभंगाची गाथा– सं॰ तुकाराम तात्या (शके 1894)
2. नामदेवाचा गाथा– सं॰ श्री विष्णु नरसिंह जोग (1847)


## पुस्तकें


1. संत नामदेव की हिन्दी पदावली– डा. भागीरथ मिश्र, डा. राजनारायण मोर्य, पृष्ठ 41
2. डा. जौहरी पुष्पा, संत नामदेव का काव्य और संगीत तत्व, अभिव्यंजना 109/48 पंजाबी बाग दिल्ली 1985
3. वानखड़े कृ. गो., संत नामदेव तथा उनका हिंदी साहित्य, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय नई दिल्ली–1 सन् 1970
4. पदम वरिन्दर कौर, गुरमति संगीत का संगीत विज्ञान, अमरजीत सहित्य प्रकाशन 412/7 जट्टा वाला चौंतरा, पटियाला
5. डा. सिंह गुरनाम, गुरमति संगीत विभिन्न परिपेक्ष, प्रो. रणजीत सिंह रजिस्ट्रार, पंजाबी युनिवर्सिटी, एडविन प्रेस, पटियाला
6. डा. कौर गुरशरण, गुरू ग्रंथ साहिब में भगत नामदेव एंव संगीत, संजय प्रकाशन नई दिल्ली 11002 प्रथम संस्करण 2017

# 'मंजरी' उपन्यास में स्त्री संघर्ष

**बोबिजा***

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित बांग्ला की प्रसिद्ध साहित्यकार आशापूर्णा देवी ने बांग्ला भाषा को अमूल्य साहित्य निधि प्रदान की है। आशापूर्णा देवी ने एक सौ पचहत्तर से भी अधिक औपन्यासिक कृतियाँ लिखी हैं। इन कृतियों के माध्यम से इन्होनें समाज के विभिन्न पक्षों को उजागर किया है। इनके उपन्यास मूलतः नारी केन्द्रित है। इनके उपन्यासों में नारी मनोविज्ञान की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। 'मंजरी' इनका मूलतः बांग्ला में लिखा गया उपन्यास है, इसका हिंदी रुपान्तरण ममता खरे ने किया है। 'मंजरी' एक ऐसी स्त्री की कथा है, जो अपना सपना पूरा करने के लिए सिनेमा में कार्य करना चाहती है परन्तु उसके परिवार वालों एवं समाज को उसका सिनेमा में जाना लज्जाजनक कार्य लगता है। इस सपने को पूरा करने के लिए उसे पति, परिवार एवं समाज द्वारा तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।

सदियों से पुरुष तंत्र एवं परम्पराओं की बेड़ियों में जकड़ी नारी आज भी अपना व्यवसाय चुनने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। आज भी एक स्त्री का विशेषकर शादी–शुदा स्त्री का फ़िल्मी जगत में काम करना संकीर्ण मानसिकता एवं पिछड़ी सोच रखने वाले परिवारों एवं समाज को कुल की प्रतिष्ठानुकूल कार्य नहीं लगता। यदि कोई स्त्री इन संकीर्ण रूढ़ियों को तोड़ने के लिए परिवार एवं समाज के खिलाफ़ खड़ी होती है, तो उसकी निंदा की जाती है। आशापूर्णा देवी ने एक स्त्री होने के नाते स्त्री पात्रों की सूक्ष्म मानसिकता, नारी सुलभ स्वभाव उसके दर्प, दंभ, द्वंद्व और उसकी दासता का बखूबी चित्रण किया है– "उनका सदा यही प्रयास रहा है कि चारदीवारी में कैद, पर्दे में घुट–घुटकर जीने वाली बहू, बेटियाँ, माँ, पत्नी पुरुषों की बनायी हुई दीवारों को तोड़े और दासता से हटकर खुली हवा में सांस ले।"[1]

'मंजरी' उपन्यास का मूल स्वर नारी–स्वतंत्रता है। विवाह से पहले तथा विवाह के पश्चात् स्त्री अपने दोनों परिवारों से यही उम्मीद रखती है कि वे हमेशा उसे आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करें तथा हर परिस्थिति में उसके साथ खड़े रहें। वह चाहती है कि पुरुषों की तरह उसे भी अपना कार्य–क्षेत्र चुनने की स्वतंत्रता हो परन्तु समाज में अभी तक स्त्री–पुरुष समान रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। स्त्री को हमेशा हर बर्बरता, अश्लीलता, असभ्यता के साथ समझौता करना सिखाया जाता है। नारी–स्वतंत्रता पर तसलीमा नसरीन का कहना सही है– "नारी यह दुनिया तुम्हारी है। इस दुनिया में तुम अपनी इच्छा से जिओ। यह दुनिया यदि एक नदी है, तुम उस नदी में तैरती रहो। यह

* शोधार्थी, हिंदी विभाग. पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

दुनिया यदि एक आकाश है, तुम पूरे आकाश में विचरण करती रहो। जीवन यदि तुम्हारा है, जो दरअसल तुम्हारा ही है, तो वह जीवन तुम जैसी इच्छा हो– जिओ। नारी, तुम अपना हक खुद हासिल करो।"[2] यह एक औरत के औरतों के लिए निर्भीक विवेक चेतना संपन्न क्रांतिकारी विचार, जो उनकी ज़िन्दगी में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकतें हैं और ला भी रहे हैं, लेकिन इसके लिए उन्हें भारी कीमत भी चुकानी पड रही है।

इस उपन्यास की नायिका मंजरी अभिमन्यु नाम के लड़के से प्रेम विवाह करती है। मंजरी का सपना होता है कि वह फिल्मों में काम करें। स्वयं को पर्दे पर चलते–फिरते हुए देखें। लेखिका कहती है– "बचपन से इसी बात का शौक था मंजरी को। कम से कम एक बार, दूर से, दर्शकों के बीच बैठकर वह स्वयं को देखे। देखेगी कैसे लगती है पर्दे पर चलते फिरते हुए, बात करते हुए। बात करते समय चेहरे पर कैसे भाव उभरते हैं? लोग उसके हाव–भाव देखकर क्या कहते हैं।"[3] मंजरी के जीजाजी विजयभूषण मल्लिक उसको एक फ़िल्म में काम देते हैं। इस क्षेत्र में काम करने की वजह से मंजरी की सासू माँ, उसकी ननदें उसका जमकर विरोध करती है। इस दौरान उसका पति अभिमन्यु न तो उसका खुलकर विरोध करता है और न ही उसका साथ देता है। एक दिन शूटिंग के दौरान अचानक मंजरी को पेट दर्द हो जाता है। घर आकर वह एकदम बेहोश हो जाती है, तो उसका गर्भपात हो जाता है। परिवार से मिले मानसिक तनाव एवं अपने दिन–रात के अथक परिश्रम के कारण मंजरी को अपनी कोख से हाथ धोना पड़ता है। लेकिन मंजरी का दुर्भाग्य कि उसके गर्भपात के इस कारण को न उसके परिवार वाले समझते हैं और न ही उसका पति। वे सब लोग यही सोचते हैं कि मंजरी ने आने वाले बच्चे को अपने कार्य में बाधा मानकर जान–बूझकर ऐसा कृतघ्न कार्य किया है। मंजरी को जब उसके परिवार वाले खरी–खोटी सुनाते हैं, तो वह उतनी विचलित नहीं होती, जितनी उस समय होती है, जिस समय उसकी ज़िन्दगी का सबसे विश्वसनीय व्यक्ति उसका पति अभिमन्यु बड़ी निष्ठुरता से उस पर संदेह करता है– "इसके अलावा और क्या सोचा जा सकता है?' चमकती दृष्टि से देखा अभिमन्यु ने, 'यही तो स्वाभाविक है? जो जंजाल तुम्हारे लिए बेकार है, जिससे तुम मनमानी नहीं कर पाओगी, तुम्हारी आज़ादी पर अंकुश लगेगा, उस जंजाल से छुटकारा पाने के लिए भगवान से प्रार्थना करोगी इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यह स्वेच्छाकृत नहीं हैं, इस बात को कैसे मान लिया जाए?"[4] दरअसल हमारे समाज में आज भी अधिकतर लोगों की यह मानसिकता बनी हुई है कि स्त्री का यह कर्तव्य होता है कि वह पति एवं परिवार वालों की इच्छानुसार बच्चे पैदा करें। स्त्री को उत्पादक मशीन समझा जाता है। पति जब मर्ज़ी चाहे अपनी पत्नी रूपी मशीन को नियंत्रित कर सकता है। स्त्री अगर इस बात का विरोध करती है तो उसे पति तथा परिवार वालों से प्रताड़ना झेलनी पड़ती है।

आम तौर पर यह देखा जाता है कि अधिकतर परिवार लड़कियों के सिनेमा में कार्य करने के पक्ष में नहीं होते। उन्हें लगता है कि लड़कियाँ या स्त्रियाँ इस क्षेत्र में जाकर अधिक खुलेपन के माहौल में रहने के कारण घर की मर्यादाएं भूल जाती है। आज भी कई परिवार ऐसे हैं, जहाँ लड़कियों को छोटे कपड़े पहनने की स्वतंत्रता नहीं है। इसी कारण अनेक लड़कियाँ एवं स्त्रियाँ

अपने शौक पूरे नहीं कर पाती। विवाह के पश्चात् जो स्त्रियाँ परिवार वालों के खिलाफ़ कोई कार्य करती हैं, उन्हें परिवार, नाते–रिश्तेदार एवं समाज द्वारा प्रताड़ित होना पड़ता है। उनके ऊपर मानसिक दबाव बनाया जाता है, जिसके कारण वे घुट–घुटकर जीने के लिए मज़बूर हो जाती है। उपन्यास में हम देखते हैं कि जब उपन्यास की नायिका मंजरी सिनेमा में कार्य करने का निर्णय लेती है, तो उसके बाद से मंजरी का पूरा परिवार उसके विरोध में खड़ा हो जाता है। गर्भपात वाली घटना के बाद जब पति एवं परिवार वालों द्वारा मंजरी पर संदेह किया जाता है, तो उसके बाद से वह उस घर को छोड़ देने का निर्णय लेती है। उस समय कोई भी अकेली मंजरी को अपने घर में पनाह नहीं देता और न ही कोई उसका साथ देता है। उस समय हर कोई मंजरी को गलत साबित करने का प्रयास करता है। उसकी सास एवं ननदें उसे बात–बात पर ताने देती हैं। गर्भपात के बाद मंजरी की सासू माँ को लगता है कि अब इसके बाद मंजरी फिल्मों में काम नहीं करेगी। यह सोच वह बहुत खुश हो जाती है कि अब मंजरी अपना सपना पूरा नहीं कर पाएगी। उसे पौत्र के चले जाने के दुःख से अधिक मंजरी के सपने टूट जाने की खुशी होती है। लेखिका उसकी इस मंशा को स्पष्ट करती हुई कहती है– "भावी पौत्र का मुंह देखने की खुशी जितनी न हुई, मंजरी के पर टूटे सोचकर ज्यादा हुई। लो, अब करो जो मर्ज़ी सो। अब और नहीं चलेगा।"[5]

मंजरी की ननदें मायके आकर अपनी माँ पूर्णिमा देवी को बार–बार सुनाती है कि मंजरी के इस पेशे की वजह से उनके ससुराल वालें उन्हें प्रताड़ित कर रहे हैं। वह अपने भाई अभिमन्यु पर भी दबाव बनाती है कि वह मंजरी को अपनी मनमानी करने से रोके। अभिमन्यु की बड़ी दीदी उससे बातचीत करते वक्त कहती है– "किसे समझाना? तुझ जैसे उन्माद, पागल और बेहया को कुछ कहना ही बेकार है। लेकिन हमारे लिए तो ससुराल में मुंह दिखाना मुश्किल हो गया है। छोटे देवर ने जब अखबार खोलकर, घर सिर पर उठाकर चिल्लाते हुए कहा, "भाभी देखो, तुम्हारी छोटी भौजाई की अखबार में तस्वीर निकली है", तब मेरा तो सिर ही कट गया। छिः–छिः।"[6] हालाँकि मंजरी के परिवार को मंजरी का हूनर देखकर खुश होना चाहिए था परन्तु यहाँ सब कुछ उल्टा हो रहा था। परिवार वाले मंजरी के इस कार्य को कुल के लिए लज्जाजनक मानकर उसका नाम तक उस कुल से हमेशा के लिए दूर करना चाहते थे। उन्होंने मंजरी की निंदा में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन इन सभी परिस्थितियों के बावजूद भी मंजरी हार नहीं मानती। वह अपना सपना पूरा करने के लिए उस घर को छोड़ देती है और फ़िल्मी जगत में खूब नाम कमाती है।

मंजरी स्वतंत्रता से अपना जीवन जीने का चुनाव तो कर लेती है, लेकिन उसे इस स्वतंत्रता के बदले बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। उसका परिवार उससे दूर हो जाता है। उसका पति जिसके साथ उसने प्रेम–विवाह किया था, अपनी पत्नी का सपना पूरा करने एवं उसके साथ खड़े होने की बजाय उससे जीवन भर के लिए दूर हो जाता है। स्त्रियों के घर से बाहर निकलकर कार्य करने के पीछे अधिकतर परिवार वालों की यह सोच होती है कि ये स्त्रियाँ चरित्रहीन होती है। अलका प्रकाश अपनी पुस्तक 'नारी चेतना के आयाम' में लिखती है– "समाज

के एक बहुत बड़े जनभाग में महिलाओं के प्रति अस्वस्थ और रुग्ण सोच क्रियाशील थी, जो अब भी पारंपरिक और पिछड़े समाज में निरंतर क्रियाशील है कि महिला को बाहर नहीं निकलना चाहिए। इसके पीछे पुरुष का मानना है कि घर के बाहर काम करने वाली महिला चरित्रहीन होती है।"[7] इस प्रकार की मानसिकता से ग्रसित समाज की बेड़ियों में से जो स्त्रियाँ बाहर निकल जाती है, उन्हें फिर उनके परिवार वालों द्वारा अनेक प्रकार से सताया जाता है।

इस उपन्यास की नायिका मंजरी जब यह निश्चय करती है कि वह सिनेमा में काम करेगी, तो पूरा परिवार उसका तिरस्कार करता है। जब अभिमन्यु उसका गर्भपात होने पर उससे घटना के बारे में बिना पूछे ही उस पर यह आरोप लगाता है कि उसके गर्भपात का कारण स्वयं मंजरी है, तो मंजरी घर छोड़ने का निर्णय लेती है। इतना कुछ सुनने के बाद वह उस घर में नहीं रहना चाहती थी। ऐसे समय में वह अपनी बड़ी बहन सुनीति से सहायता माँगने जाती है पर सुनीति उसकी कोई मदद नहीं कर पाती, क्योंकि एक तो उसी दौरान अचानक सुनीति के पति विजयभूषण मल्लिक की मृत्यु हो जाती है और दूसरा यह कि सुनीति आरंभ से ही मंजरी के इस निर्णय के खिलाफ़ होती है। सुनीति कतई नहीं चाहती थी कि मंजरी फिल्मों में काम करें। जब सुनीति की बड़ी बेटी कमला मंजरी की अखबार में छपी फोटो सुनीति को दिखाने के लिए लाती है, तो वह उसे साफ़ कह देती है कि वह इन तस्वीरों को नहीं देखना चाहती। लेखिका मंजरी के प्रति सुनीति के रवैये को स्पष्ट करती हुई कहती है– "यह समझ में नहीं आता है कि मंजरी के लिए उनके दिल में ज़रा सी भी सहानुभूति है या नहीं। कौन जाने, शायद नहीं है । हो सकता है मंजरी अगर तकलीफें उठाती, भूखों मरती, अच्छा पहनने ओढ़ने को तरसती तब शायद सुनीति उसे अपने पास खींच लेती, सस्नेह गले से लगा लेती।"[8] लेखिका के इस कथन से स्पष्ट है कि रुढ़िग्रस्त पुरुष–तंत्र में जकड़ी सुनीति मंजरी का इस तरह अपनी मर्ज़ी से जीवन जीना स्वीकार नहीं कर पाती। सुनीति अधिक पढ़ी–लिखी नहीं होती इसीलिए वह अपने पति को परमेश्वर मानकर उसकी सेवा एवं उसके आदेश को ही सर्वोपरी मानती है। यदि मंजरी अच्छी हालत में नहीं होती, तो शायद वह बड़ी बहन होने के नाते उसे सहानुभूति अवश्य देती।

सिर्फ़ मंजरी की बहन ही नहीं उसके सारे रिश्तेदार भी उसका विरोध करते हैं। मंजरी सभी सम्बन्धियों के पास सहायता के लिए जाती है, लेकिन किसी में भी इतनी हिम्मत नहीं होती कि वे अपनी संकीर्ण सोच से ऊपर उठकर मंजरी की सहायता करें। उसका अपना पति घरवालों एवं रिश्तेदारों के बहकावे में आकर मंजरी को अकेले छोड़ देता है। पूर्णिमा देवी की क्रूर सर्पिल दृष्टि हमेशा मंजरी पर ही रहती है। रिश्तेदारों द्वारा मंजरी के तिरस्कार को लेखिका ने मार्मिक शब्दों में पिरोया है– "जहाँ जितने रिश्तेदार हैं मंजरी के, आज तक जिन्हें मंजरी जानती है, सब को याद करने की कोशिश की लेकिन कहीं रोशनी की किरण नज़र न आई। उसे लगा सभी उसके मुंह पर दरवाज़ा बंद करके ऊपर खड़े होकर व्यंग्य भरी हंसी हंस रहे हैं।"[9]

इसके बाद मंजरी अपनी सहेली रमला के पास सहायता के लिए जाती है। वह केवल कुछ दिनों के लिए उसके पास 'पेइंग गेस्ट' बनकर रहने के लिए प्रार्थना करती है। रमला मंजरी को अपने पास रखने का प्रस्ताव अस्वीकार कर देती है क्योंकि उसे लगता है कि मंजरी का फिल्मों में काम करने के कारण उसके घर में लोगों का आना–जाना लगा रहेगा, जिससे कि उसके घर की बदनामी हो जाएगी। मंजरी की बात सुनकर वह मन–ही–मन सोचती है– "हूं हूं, जब तुम फिल्मों में काम करने गयी थी, तभी मुझे शक हो गया था, तुम्हारा सुखी संसार आग की चपेट में आ गया । समझ रही हूं, मामला काफ़ी पेचीदा हो गया है । लेकिन अपनी पूंछ में आग लगाकर मेरे घर में क्यों आई हो बाबा? मैं नहीं तुम्हारे जाल में फंसने वाली।"[10] सभी लोगों द्वारा मंजरी के प्रति इस प्रकार के व्यवहार के कारण मंजरी तनावग्रस्त हो जाती है। अपने प्रति इस तरह की उपेक्षा और अपमान को वह कभी भी भूल नहीं पाती।

भले ही मंजरी परिवार से अलग होने के बाद फ़िल्मी जगत में अपनी अच्छी–ख़ासी पहचान बना लेती है परन्तु वह अपने अपमान के ज़हर को ज़हन से नहीं निकाल पाती। प्रसिद्धि मिलने के बाद भी उसकी ज़िन्दगी एक वीरान मरुस्थल सी बन जाती है। उसका पति अभिमन्यु लगभग उसका परित्याग कर देता है। मंजरी के प्रति अभिमन्यु का रवैया मंजरी को सारी उम्र सालता रहता है। वह हर पल अभिमन्यु की एक झलक देखने के लिए बेचैन रहती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बदले उसका परिवार उसे तिरस्कार की पीड़ा देता है। दिन के समय मंजरी को इस बात का कतई दुःख नहीं होता कि उसका कोई अपना नहीं है, लेकिन शाम होने पर अँधेरा होने के साथ–साथ उसका अकेलापन उसे तड़पाता रहता है। लेखिका मंजरी की इस मनोदशा पर कहती है– "किसी–किसी दिन–रात को, जब नींद नहीं आती है मंजरी को, तब बिस्तर पर लेटे रहना असंभव हो जाता है। वह जाकर बरामदे में बैठती है, तारों से भरे आकाश को, असहाय सूनेपन से, आँखों में उदासी लिए देखा करती और सोचा करती कि क्या सारी दुनिया छिन्न–भिन्न हो गयी है, उसकी चिर परिचित दुनिया क्या हमेशा के लिए निश्चिन्त हो गयी है। लेकिन ऐसा सोचना उसकी भूल थी। अपने परिचित जगत् के हर मन में वह जीवित थी।

जीवित थी 'जलन' के रूप में।

अपमान की जलन, अभिमान की जलन, विस्मय की जलन, ईर्ष्या की जलन।"[11]

इस उपन्यास में लेखिका ने उस नारी को चित्रित नहीं किया है, जो अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए पुरुष तंत्र की बेड़ियाँ तोड़कर आराम से अपना जीवन व्यतीत करती है। सारे निर्णय अपनी इच्छानुसार लेती है। एक बार जो निर्णय ले लिया उस पर फिर अडिग रहती है और कभी भी पीछे मुड़कर नहीं देखती; बल्कि एक ऐसी नारी को चित्रित किया है, जो अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का निर्णय लेने के बाद भी पूरे जीवन भर द्वंद्व की स्थिति में रहती है। एक तरफ उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, उसका सपना एवं उसका भविष्य होता है तथा दूसरी ओर उसका पूरा परिवार एवं उसका पति होता है, जिन्हें मंजरी एक–एक क्षण याद करती रहती है।

लेखिका ने इस कथानक को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। नारी स्वभाव से ही कोमल, सुहृदयी, ममता की मूर्ति एवं क्षमाशील होती है। दो–दो परिवारों को सँभालने वाली नारी अपने परिवार को किसी भी परिस्थिति में नहीं भूल सकती। मंजरी की स्थिति भी कुछ इसी तरह की होती है। वह अपने परिवार से बेशक दूर रहती है परन्तु उनको कभी भूल नहीं पाती। अपने पति के पास वापिस जाए या न जाए; इस दुविधा में जी रही मंजरी अपने अपमान एवं तिरस्कार का स्वयं को ही दंड देती है। वह जिंदगी का हर क्षण घुट–घुटकर जीती है। अंत में वह अभिमन्यु से मिलने भी जाती है और साथ रहने का प्रस्ताव भी रखती है परन्तु पुरुष के अहं के आगे हार जाती है। आज भी मंजरी जैसी अनेक स्त्रियाँ हमारे समाज में मौजूद है, जिन्हें या तो अपनी व्यक्तिगत इच्छा या स्वतंत्रता की बलि देनी पड़ती है या फिर इसके बदले में परिवार की भर्त्सना झेलनी पड़ती है।

**सन्दर्भ–सूची** :–


1. deshbandhu-co-in, 'बांग्ला साहित्य की सशक्त हस्ताक्षर आशापूर्णा देवी', देशबंधु, http%@@www-deshbandhu-co-in@vichar&23883–2
2. कुमार, राकेश, नारीवादी विमर्श, पंचकूला, आधार प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2004, पृष्ठ 31,32
3. खरे, ममता ( अनु. ), मंजरी, दिल्ली, सन्मार्ग प्रकाशन, संस्करण, 2001, पृष्ठ 11
4. यथावत्, पृष्ठ 59
5. यथावत्, पृष्ठ 34
6. यथावत्, पृष्ठ 23
7. प्रकाश, अलका, नारी चेतना के आयाम, इलाहाबाद, लोकभारती पुस्तक–विक्रेता तथा वितरक, प्रथम संस्करण, 2007, पृष्ठ 72
8. खरे, ममता ( अनु. ), मंजरी, दिल्ली, सन्मार्ग प्रकाशन, संस्करण, 2001, पृष्ठ 101 , 102
9. यथावत्, पृष्ठ 79
10. यथावत्, पृष्ठ 80
11. यथावत्, पृष्ठ 103

# 'मैं शिखंडी नहीं' : तृतीय लिंगी समाज की त्रासदी

दिनेश कुमार*

बदलते समय और बदलती वैचारिकता के साथ ही समकालीन साहित्य में हाशिए के समाज को भी जगह मिल रही है जिनमें दलित, आदिवासी, नारी, एवं तृतीय लिंगी समाज प्रमुख हैं। इन पर सभी विधाओं में खूब साहित्य लिखा जा रहा है। केवल हिंदी में ही नहीं अपितु अन्य सभी भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य एवं तृतीय लिंगी साहित्य लिखा जा रहा है। तृतीय लिंगी समाज के लोग जिन्हें हिजड़ा, खुस्सरा या किन्नर कह कर पुकारा जाता है। समकालीन साहित्य में तृतीय लिंगी समाज पर लिखे जाने वाला साहित्य बहुत चर्चित और अधिकतर पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

वैदिक और पौराणिक साहित्य में इस वर्ग को 'तृतीय प्रकृति' अथवा 'नपुंसक वर्ग' के रूप में संबोधित किया गया है अर्थात् इनकी उपस्थिति वैदिक काल से ही मानी जा सकती है। जैन और बौद्ध ग्रंथों में 'तृतीय लिंगी' संबंधी उल्लेख मिलते हैं।

साहित्य में महाभारत और रामायण से तृतीय लिंगी समाज के अस्तित्व को माना जाता है। शिखंडी कौन था? शिखंडी महाभारत का वह पात्र है जो स्त्री के रूप में जन्म लेता है और बाद में पुरुष रूप में परिवर्तित होता है यानि के किन्नर। शिखंडी ही भीष्म पितामाह की मृत्यु का कारण बनता है। इस से स्पष्ट होता है कि तृतीय लिंगी महाभारत के समय से ही युद्ध में काफी निपुण थे।

मध्यकाल में भी इनकी युद्ध निपुणता के प्रमाण मिलते हैं। मुग़ल सम्राज्य में तृतीय लिंगियों (हिजड़ों) को रानीगृह की पहरेदारी के लिए नियुक्त किया जाता था। कई सैनिक पदों पर थे, तो कुछ को सेनापति भी बना दिया जाता था। ऐसा ही खिलजी साम्राज्य के अलाऊद्दीन खिलजी का बहादुर और चर्चित सेनापति मलिक काफूर था। वह तृतीय लिंगी (हिजड़ा) था। इसी तरह तुर्की साम्राज्य में भी हिजड़े कार्यरत रहे।

डॉ. विजेंद्र प्रताप के लेख 'लैंगिक अस्मिता और हिजड़ा समुदाय' के अनुसार : परतंत्र भारत में 1871 से पहले तक भारत में किन्नरों को ट्रांसजेंडर का अधिकार मिला हुआ था। मगर 1871 में अंग्रेजों ने किन्नरों को क्रिमिनल ट्राइब्स यानि जरायमपेशा जनजाति कि श्रेणी में डाल दिया था। बाद में आजाद हिंदुस्तान का जब नया संविधान बना तो 1951 में किन्नरों को क्रिमिनल ट्राइब्स से निकाल दिया गया।[1]

सरकार ने तृतीय लिंगी समाज को क्रिमिनल ट्राइब्स से तो 1951 में बाहर निकाल दिया था। परन्तु मुख्य समाज अपनी मानसिकता में इस धारणा को समाप्त नहीं कर पाया है, तभी

* शोधार्थी, हिंदी विभाग. पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

तृतीय लिंगी समाज हाशिये का समाज बना हुआ है। हीन भाव से त्रस्त इस समाज के दुखांत यथार्थ को उपन्यास 'मैं शिखंडी नहीं' में चित्रित किया गया है।

राम स्वरूप रिखी द्वारा रचित उपन्यास 'मैं शिखंडी नहीं' मूलतः पंजाबी भाषा में है जिसका प्रताप सिंह कतीरा और प्रिंसिपल उर्मिल मोंगा ने हिंदी में अनुवाद किया है। जैसा की शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि यह उपन्यास मुख्यतः तृतीय लिंगी समाज को केंद्र में रखकर लिखा गया हैं। उपन्यास को पढने के पश्चात लगता है कि लेखक ने काफी खोज करके यह उपन्यास लिखा है। तृतीय लिंगी की एतिहासिकता को आधुनिकता के सन्दर्भ में दिखाने का एक प्रयास किया गया है। तृतीय लिंगी समाज को लेकर अवचेतन में बने मिथकों को तोड़ा है। यह उपन्यास प्रगतिशील सामजिक यथार्थ को चित्रित करता है। उपन्यास में मक्खन उर्फ़ गंधर्व शिखंडी, चंद कौर, मग्घर, पुष्पा, केशव गुरु तृतीय लिंगी पात्र मुख्य रूप से इनके बाद ताऊ, रिश्म, रमन, बल सिंह, किशनी, स्वर्णी आदि पात्र भी काफी प्रभाव शाली ढंग से उभर कर पाठकों के सामने चित्रित होते हैं। उपन्यास में जमींदार बालसिंह और उसका पोता रमन अपनी जाल साजी से दूसरों की जमीन हडपने के लिए किस हद तक जाते हैं। बल सिंह अपने मित्र माघी की जमीन हड़प लेता है उसका पोता रमन, माघी के पुत्र हरनन्द को पैसों की खातिर मरवा देता हैं और उसकी बेटी रिश्म का शारीरिक शोषण कर गर्भवती कर देता है और चाँद कौर (किन्नर) के साथ मिलकर इसका इल्जाम करतार दास के पुत्र मक्खन पर लेगा देता है। मक्खन को दवाइयाँ खिला के नपुंसक बना देते हैं और इस इल्जाम से बचाने के लिए मक्खन के समक्ष एक शर्त रखी जाती है कि उसे किन्नर बन कर उनके साथ रहना पड़ेगा और किन्नर पुष्पा से विवाह करना पड़ेगा और मक्खन पुलिस से बचने के लिए इस शर्त को मान लेता है और अपना यौन अंग कटवा कर किन्नर बन जाता है और पुष्पा से विवाह कर लेता है। पुष्पा (किन्नर) रमन की रिश्तेदार होती है रमन की नजर पुष्पा की जमीन पर होती है। रमन चंदकौर (किन्नर) को मार कर उसकी लाश को मग्घर (किन्नर) के इलाके के जोहड़ में फिकवा देता है जिसके कारण उसका इल्जाम मग्घर किन्नर पर आता है और उसे अपना डेरा छोड़ना पड़ता है चार साल के लिए और जुर्माना भरना पड़ता है।

भारतीय परिदृश्य में हाशिए के समाज में इस कदर सामाजिक हीनभावना का संचार किया गया है कि आज भी इन्हें उभरने के लिए और आत्मसात होने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। समाज में अधिकतर लोग मध्य की भूमिका निभाकर सुरक्षित रहना चाहते हैं परन्तु कुछ लोग स्थाई रूप से ही मध्य की भूमिका में आते हैं और हमेशा से असुरक्षित रहे हैं। जी हाँ वही जो दो जिस्मों के मध्य फंसे हुए हैं ; तृतीय लिंगी। तृतीय लिंगी तो दोहरी हीनभावना के शिकार हैं। एक जैविक विकृति और दूसरा समाजिक। समाज में ख़ास जगह न मिलने के कारण और समाज की हेय दृष्टि और उपेक्षा के कारण ही इनमें हीन भावना का संचार होता है और यह स्वयं को और अपने शरीर को जिम्मेवार ठहराने लगते हैं। इसी हीन भावना के चलते यह नशे और सेक्स जैसे बुरे कामों की तरफ अग्रसर हो जाते हैं। इस उपन्यास के लेखक ने इनके अवचेतन भाव और इनके रीति–रिवाजों, रस्मों, एवं कुरीतियों को उजागर किया है। तृतीय लिंगी समाज का सबसे

दुखांत भाव इनके अंतर्मन में बैठा, वह हीन भाव है जो इन्हें मुख्यधारा में शामिल होने से इन्हें रोकता है। जब भी समाज में जहाँ इनकी भागीदारिता होती है वहां कोई घटना घटती है तो ये स्वयं को ही दोषी मानने लगते हैं। बुर्ज कस्बे में लड़कियों के स्कूल के लिए बने कमरों की छत्त बनानी थी जिसमें रमन ने ठेकेदार के साथ मिलकर चिनाई वाला सीमेंट मिला दिया। जब लेंटर को देखने हरनन्द देखने गया तो लेंटर उसके ऊपर गिर गया और वह नीचे दब गया जिसके कारण उसे काफी चोटें आई जिसके कारण वह कोमा में चला गया और अपनी आवाज और याददास्त खो बैठा। इस स्कूल के कमरे बनने की शुरुआत 500 रूपये देकर मग्घर किन्नर ने की थी। हरनन्द को चोट लगने का कारण मग्घर किन्नर स्वयं को मानते हुए ताऊ को अपने हीनभाव प्रकट करते हुए कहता है : "हरनन्द को चोट मेरे कारण लगी। मैं निज जिम्मे ने स्कूल के कमरे शुरू करने के लिए पांच सौ देकर पहल की तो ही यह हादसा हुआ। मैं निक्कमे ने बोणी करने समें कुछ नहीं सोचा। किसे चंगे बन्दे ने यह पहल की होती तो यह हादसा न होता। मेरे कारण कमरे की छत गिरी ताऊ। हम तो रब्ब के घर से खाली आते हैं ताऊ हमारे द्वारा की हुई क्या पूरी होनी। ताऊ तू तो स्याना था, तू ही मुझे रोक देता व मेरे से पहले तू ही पैसे दे देता।"[2]

अगर किन्नर समाज मुख्य समाज से जुड़ने का प्रयास करता है और कोई अनहोनी हो जाती है तो समाज भी इन्हें दोषी कहकर इनकी उपेक्षा करता है और इन्हें अपराधबोध महसूस करवाता है। तारे साध के ऐसे शब्द जो मग्घर किन्नर और किन्नर समाज के लोगों को निराशा और हीनभावना से भर देते हैं। तारा साध कहता है, "किन्नरों की पहल तो क्या, इनका तो संग साथ घाटे का सौदा होता है और माड़े दिनों की निशानी।"[3]

मुख्य समाज की उपेक्षा के कारण ही इनमें अकेलापन और आत्मग्लानि और हीनभावना जैसे भाव उत्पन्न हो जाते हैं। उपन्यास में ओप्रेशन के दौरान जब हरनन्द को खून की जरूरत पड़ती है तो ताऊ, मग्घर किन्नर और तारे साध के साथ–साथ एक–दो और आदमियों का खून भी हरनन्द के खून के साथ मिल जाता है। खून देने के लिए जब मग्घर किन्नर आगे आता है तो डॉक्टर खून लेने की बजाय यह कह कर उसे मना कर देता है कि, "संकट के समय के लिए राखनां कर दिया"[4] इन शब्दों नें मग्घर किन्नर को आत्मग्लानि के समुद्र में गर्क कर दिया। वह नगर की भीड़ में भी स्वयं को अकेला महसूस करने लगा। सभी तरफ उसे स्त्री और पुरुष ही नजर आ रहे थे उनमें वह खुद को बिलकुल अलग और हीन समझ रहा था। अगर समाज इन्हें भी इस तरह के सामाजिक कार्यों या किसी की बुरे समय में इनकी मदद ले और इन्हें अपने से अलग न समझे और लिंग वाली धारणा से बाहर निकलकर इन्हें भी एक आम इंसान समझे तो ये भी मुख्य समाज का हिस्सा बन सकते हैं।

किसी घर में जन्में किन्नर को जबरन हिजड़ा समाज के लोग अपने साथ ले जाते हैं जिसे कोई भी कानून नहीं रोकता। जिसका कोई प्रावधान होना चाहिए। उपन्यास में पात्र रमन के साले की पुत्री किन्नर थी, जिसका नाम प्रभजोत कौर था, जब किन्नर उसे अपने डेरे ले गये तो उसका नाम बदल कर पुष्प लता रख दिया और नाचना, ताली बजाना, और तौर तरीके सिखाने

लगे जब वह नहीं मानी तो उसे नशा दिया जाने लगा ताकि वह अपने घरवालों को भूल सके। जब हिजड़ा समाज के लोग प्रभजोत को लेने आये तो उसके माता–पिता ने कानून व समाज सेवी संस्थाओं के आगे पूरा जोर लगाया पर किसी ने भी उनकी कोई सहायता के लिए हाथ नहीं बढाया वे निराश होकर रह गये।

हमारे समाज में कुछ लोग ताऊ जैसे भी हैं जो इन्हें स्वीकारते हुए इन्हें सुधार के लिए कुछ हिदायते देते हैं। उपन्यास में ताऊ के माध्यम से किन्नर समाज के लोगों को हिदायेतें भी दी गई हैं कि वे लोक भलाई के लिए काम शुरू करें ताकि आपका मेल जोल समाज के साथ बढ़े। इसका तुम्हें भी लाभ होगा और समाज में तुम्हारी जगह भी बढ़ेगी। ताऊ, बलसिंह के पूछने पर कहता है कि, "सोने वालों को तो सोना ही हुआ! मैंनें तो मग्घर को कहा है भई तुम भी समाज के अंग हो। सांझे कामों में हिस्सा डाला करो गाँव के कामों में लोगों के साथ मिलकर चलो। आपस में लड़कर नशे में धुत्त होकर रहने से क्या फायदा।"[5] मग्घर किन्नर अब हर वर्ष एक या दो लड़कियों का विवाह भी करने लग गया था।

मग्घर जब लोगों के साथ काम करने लगा तो उसे कुछ मुश्किलें आ रही थी। इन मुश्किलों को ताऊ के साथ सांझा करते हुए मग्घर कहता है,

"वाह वाह ताऊ जी, लड़के मुझे अपने में नहीं समझते।"

" क्यों क्या कह दिया लड़कों नें तुझे?"

"वाह वाह! ताऊ मैं मरजावां? कहा तो कुछ नहीं जब मैं बोलता हूँ तो हंस पड़ते हैं।" तालियां मारता महन्त बोला।

"तू बोलने से पहले तोला कर।"

"वाह वाह! ताऊ वो कैसे तोलूं, कौन से बात पाऊं?"

"एक तो ताली कम बजाया कर। दूसरा बोलता–बोलता भूला न कर तीसरा वह बात करा कर जो लोगों के फिट आती हो, समय के अनुसार बात आती हो।"[6]

यही कुछ बातें हैं जो इन्हें मुख्य समाज से अलग बनाती हैं बात करते करते खुलेआम अश्लील शब्दों का और गालियों का प्रयोग बहुत ज्यादा बोलना बार–बार तालियाँ मारना इत्यादि। यह सब तृतीय लिंगी समाज की परम्परा का हिस्सा हो सकती हैं लेकिन भारतीय समाज में इन्हें वर्जित माना जाता है। उपन्यास में भी इनकी मृत्यु संस्कार के बारे में भी बताया गया है। जंगीलाट ताऊ से पूछता है,

" ये मुर्दा श्मशान में फूंकते हैं या कब्रों में दबातें हैं?

"संस्कार का इनका बड़ा अनोखा ढंग है। सांझ के समय मुर्दे को टांगों से पकड़ कर घसीट कर ले जाते हैं और साथ ही जुते मारते हैं।"

"ये तो बड़ी मादी बात है इनकी?"

"माड़ी चंगी हो लोगों के लिए, इनका अपना विश्वास है कि यदि इस तरह दफनाया जाए तो दोबारा हिजड़े की जून में नहीं पड़ता है, या पड़ता भी है या नहीं या वैसे ही कहावत है।"[7]

तृतीय लिंगी समाज में मृत्यु संस्कार की रस्म कुछ ऐसी ही मानी जाती है। कुछ अन्य पुस्तकों में भी ऐसा ही लिखा गया है।

तृतीय लिंगी समाज में कोई धर्म, जात, नहीं होती एक ही जात होती इंसान की । जबकि भारतीय समाज विभिन्न जातियों और धर्मों में बंटा हुआ है।

उपन्यास में यह भी बताया गया है कि तृतीय लिंगी समाज की अपनी पंचायत और कोर्ट होती है जहां इनके ही लोग होते हैं बाहरी किसी पुरुष या स्त्री को प्रवेश नहीं हैं। न्याय हो अन्याय सब इन्ही के बीच होता है यदि किसी का क़त्ल होता है तो ये अपने बहुमत अनुसार फैसला सुनाते हैं और सज़ा के तौर पर उसे अपना डेरा छोड़ना पड़ता और जुर्माना भरना पड़ता है। उपन्यास में किन्नर पात्र चंद कौर का जब क़त्ल होता है तो उसे मग्घर किन्नर के इलाके के जोहड़ में गेर देते हैं जिस से क़त्ल का इल्जाम मग्घर किन्नर पर आता है लेकिन क़त्ल रमन नें किया होता है। इनके अपने लोगों की कोर्ट होने के कारण माना गया कि चंद कौर की लाश मग्घर के इलाके के जोहड़ में मिली है इसलिए क़त्ल मग्घर किन्नर ने किया है । यह सही न्यायप्रणाली न होने के कारण इसमें अधिकतर न्याय नहीं अन्याय ही होते हैं ऐसे ।

विजेंद्र प्रताप के लेख 'लैंगिक अस्मिता और हिजड़ा समुदाय' के अनुसार : "हिजड़ों की चार शाखाएं हैं–बुचरा, नीलिमा, मनसा और हंसा। बुचरा' पैदाइशी हिजड़े हैं, नीलिमा' स्वयं बने, मनसा' स्वेच्छा से शामिल तथा हंसा' शारीरिक कमी के कारण बने हिजड़ा हैं।"[8]

उपन्यास में एक पात्र मक्खन है जो बहुत ही अच्छा गायक है परन्तु गरीबी के कारण वह चंद कौर किन्नर की हवेली में 5000 रूपये में गाना गाने का काम करने लगा। चंद कौर की चेली पुष्पा (किन्नर) मक्खन को पसंद करती थी और मक्खन के साथ विवाह करना चाहती थी। लेकिन मक्खन रिश्म को प्यार करता था। रमन रिश्म का शारीरिक शोषण कर गर्भवती कर देता है और चाँद कौर(किन्नर) के साथ मिलकर इसका इल्जाम करतार दास के पुत्र मक्खन पर लेगा देता है। मक्खन को दवाइयाँ खिला के नपुंसक बना देते हैं और इस इल्ज़ाम से बचाने के लिए मक्खन के समक्ष एक शर्त रखी जाती है कि उसे किन्नर बन कर उनके साथ रहना पड़ेगा और किन्नर पुष्पा से विवाह करना पड़ेगा और मक्खन पुलिस से बचने के लिए इस शर्त को मान लेता है और अपना यौन अंग कटवा कर किन्नर बन जाता है और पुष्पा से विवाह कर लेता है।

"हिजड़ा समुदाय के लोगों को एक परम्परा से गुजरना पड़ता है, जो बहुत ही कष्टदायक होती है, जिसमें इनके लिंग का बधियाकरण (हटा देना) किया जाता है। यह दीक्षा संस्कार 'निर्वाण' कहलाता है।"[9]

उपन्यास में जैसा की मक्खन के साथ हुआ यह हिजड़ा समाज की सबसे बड़ी कुरीति है जो लोगो में एक भय पैदा करती है। ऐसी ही मिलती जुलती एक घटना 24 सितम्बर 2019 के दैनिक भास्कर के चंडीगढ़ भास्कर में देखने को मिलती है। घटना कुछ इस प्रकार थी, "2013 में अपने पास काम करने वाले राजेश कुमार नाम के युवक को कुछ नशीला पदार्थ देकर प्राइवेट पार्ट काटने वाले दो किन्नरों को कोर्ट ने सोमवार को दोषी करार दे दिया है।"[10] लेकिन किन्नर समाज में सभी लोग इसे हों ऐसा जरुरी नहीं है। इस से भी भयानक अपराध मुख्य समाज में भी आये दिन होते रहते हैं।

उपन्यास का अंत दुखांत का आभास करा जाता है। मर्द का अंग कटवा करा बना शिखंडी रिश्म का दुःख सहन नहीं कर सकता। पहले वाले मक्खन को याद कर उसकी नजरें रिश्म के चेहरे से अपनी मलकी को तलाश रही हैं।

"रिश्म की आँखों नें अआवाज दी, पकड़ बांह और बन कीमाँ।"

मक्खन की आँखों ने झुकते हुए इनकार करते हुए कहा, "गंधर्व शिखंडी कीमाँ नहीं बन सकता।"[11]

लेकिन मक्खन का अंतर्मन मलकी का कीमाँ ही है। वह अपने अंतर्मन से कभी स्वयं को शिखंडी नहीं मानता ।

अंततः प्रस्तुत लेख में तृतीय लिंगी समाज में उपेक्षा और हेय दृष्टि से उत्पन्न हीन भाव को दुखांत भाव माना है जो इन्हें मुख्य समाज की मुख्यधारा में आने से रोकती है। उपन्यास में तृतीय लिंगी समाज के रीति–रिवाजों, रस्मों, पंचायतों, नियमों के साथ–साथ उनकी कुरीतियों को भी उजागर किया है। उपन्यास के माध्यम से तृतीय लिंगी समाज को मुख्य समाज से जुड़ने की हिदायतें भी दी गए हैं। अंतिम यह की तृतीय लिंगी समाज को मुख्या धारा में लाने का एक प्रयास किया गया है।

**संदर्भ :–**


1. प्रताप, विजेंद्र, लैंगिक अस्मिता और हिजड़ा समुदाय (लेख), भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंगी विमर्श (पुस्तक), डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंङ (संपा ०), कानपुर : अमन प्रकाशन, 2016, पृष्ठ सं. 54
2. रिखी रामस्वरूप (मूल), कतीरा, प्रताप सिंह, प्रिंसीपल उर्मिल मोंगा (अनुवादक), मैं शिखंडी नहीं, तस्वीर प्रकाशन मंडी कालांवाली, जिला सिरसा, 2019, पृष्ठ सं. 95
3. वही, पृष्ठ सं. 96
4. वही, पृष्ठ सं. 94
5. वही, पृष्ठ सं. 128
6. वही, पृष्ठ सं. 129
7. वही, पृष्ठ सं. 132

8. सिंह, डॉ०विजेंद्र प्रताप, रवि कुमार गोंड़ (संपा०), भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, कानपुरः अमन प्रकाशन, 2016, पृष्ठ सं. 57
9. सिंह, डॉ०विजेंद्र प्रताप, रवि कुमार गोंड़ (संपा०), भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, कानपुरः अमन प्रकाशन, 2016, पृष्ठ सं. 58
10. दैनिक भास्कर, चंडीगढ़ भास्कर, युवक का प्राइवेट पार्ट काटने वाले दो किन्नरों को कैद, 24 सितम्बर 2019
11. सिंह डॉ. कर्मजीत, भूमिका, मैं शिखंडी नहीं, रिखी रामस्वरूप (मूल), कतीरा, प्रताप सिंह, प्रिंसीपल उर्मिल मोंगा (अनुवादक), तस्वीर प्रकाशन मंडी कालांवाली, जिला सिरसा, 2019, पृष्ठ सं. 9

# 'आक्रोश' उपन्यास में आदिवासी संस्कृति

अलका कल्याण*

आदिवासी विमर्श की दुनिया बहुत व्यापक है। साहित्य में आदिवासी विमर्श का संबंध सांस्कृतिक अध्ययन से जुड़ा रहा है। भारत में आदिवासी लेखन की शुरुआत उपनिवेशिक शक्तियों द्वारा हुई। सबसे पहले पुरातत्त्ववेतायों ने आदिवासी भाषा, संस्कृति, लोक–कथाओं, लोक–गीतों और उनकी जीवन शैली की तरफ़ लोगों का ध्यान आकर्षित किया। "आदिवासी साहित्य सृजन को तीन रूपों में विभक्त किया जाता है– प्रथम, आदिवासियों का परम्परागत वाचिक साहित्य जिसको पुरखौती कहा जाता है, दूसरा, गैर–आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य, तीसरा, आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य।"[1]

"आधुनिक भारत में आदिवासी आन्दोलनों की मूल ज़मीन झारखंड तथा छतीसगढ़ रही है। लेकिन आदिवासी और दलित लेखन की ज़मीन महाराष्ट्र ही रही। यहाँ दलित–आदिवासी तबकों द्वारा डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के विचार, दर्शन और प्रेरणा के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका को जोड़ा गया है।"[2] प्रस्तुत अनुदित उपन्यास 'आक्रोश' (मूल मराठी– 'टाहो') बाबाराव मडावी की रचना है। उपन्यास को हिंदी में लाने का कार्य तुलनात्मक आदिवासी साहित्य पर शोधरत तोंडाकुर लक्ष्मण पोत्तन्ना, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने किया है। आदिवासियों की दरिद्रता, भूख, गरीबी, गैर–कानूनी तरीके से पेड़ काटना, प्रकृति प्रेम, धार्मिक विश्वासों का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। भीम्या इस उपन्यास का नायक है। वो शहर से पढ़कर अपने गाँव वापिस आता है तो उसको जंगल में बहुत सी भयानक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इन परिस्थितियों का सामना करते हुए वह अपने गाँव वालों को जागृत करता है, पढ़ाता है। जिससे गाँव वालों के अंदर हक़ की चिंगारी फूट पड़ती है और 'आक्रोश' शुरू होता है। नंगे भूखे पेट लोग अपने बच्चों के साथ लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हो जाते है।

उपन्यास की शुरुआत में ही लेखक गाँव वालों की दिनचर्या, संस्कृति, खान–पान और शहर से आए साहूकार प्यारेलाल सेठ से परिचय करवा देते है। "औरतें एक हाथ से कचरा हटाते हुए घड़े में पानी भर रही थी। अपनी–अपनी माँ के साथ नंगे बच्चे पीतल के छोटे बर्तन लेकर टून टून भाग रहे थे। पूरा डोंगर गाँव इसी नहर पर कुल्ला करता था। डोंगर गाँव में मर्द, औरत, बच्चे सभी को महुए की शराब पीने की आदत थी। शराब पीना और शिकार करना इस गाँव की दिनचर्या थी।"[3]

* शोधार्थी, हिंदी विभाग. पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

साहूकार प्यारेलाल गांववालों की निरक्षरता का बहुत फायदा उठाता और हर तरह से शोषण करता। लेकिन फिर भी गाँव वाले अपनी ही दुनिया में मस्त थे। ढोल बजाना, ढोल की ताल पर नाच–गान करना, शराब पीना यही इनकी संस्कृति थी। "सदू चाचा शराब के नशे में लोगों से कहता है– "तुम लोग नाचो, हमारे जीवन में नाचने के सिवाय कुछ भी नहीं है। यह पहाड़, यह जंगल अपने नाचने से ही आन्दमय होंगे। हम जंगल के शेर है, हमें जीना है इस जंगल के साथ"[4]

आदिवासियों की समस्यायों में से एक समस्या अंधविश्वास भी है। जिसका कारण उनका भोलापन या निरक्षरता हो सकता है। जो भी व्यक्ति उनमें सुधर भावना पैदा करता है उसको ये लोग भगवान की तरह पूजने लगते है। बजाय इसके कि वो उसके विचारों को अपनाएं और उनका पालन करके अपने समाज में सुधार लाए। "आदिवासियों ने भिवसेन के नाम से पत्थर रखे थे और उन पत्थरों पर सिन्दूर लगाकर पूजा करना शुरू कर दिया था। कालांतर में इस पत्थर को पूजते पूजते अंधश्रद्धा घर कर बैठी।"[5]

भिवसेन एक समाज सुधारक था किन्तु इन आदिवासियों ने उनको देवता बना दिया। गाँव वाले जंगल को अपना घर मानते थे और पेड़ों से परिवार की तरह लगाव करते थे। प्रकृति ही इनकी देवता थी, इसी की यह पूजा करते थे। जंगल में अगर कोई एक पेड़ भी तोड़ता तो ये लोग उसके पास जाकर रो पड़ते थे। अगर उनको अपनी झोपड़ी बनाने के लिए लकड़ी की जरूरत पड़ती तो पहले सारा परिवार उससे जाकर माफ़ी मांगता फिर पश्चाताप करते और एक नया पेड़ लगाने का वादा करके ही पेड़ को काटते। एक दिन शहर से लोग पेड़ काटने आ जाते है तो पूरा गाँव इकट्ठा होकर उनसे लड़ने चल पड़ता है। कोंडी कहने लगती है:– "अरे फितरो! क्या किया है तुम्हारा इन पेड़ों ने? क्यों काट रहे हो इन पेड़ों को? हराम की लकड़ी चाहिए तुमको? अपने बीवी बच्चों को काटकर खा जाओ, हमारे जंगल के पीछे क्यों पड़े हो?"[6]

इस बीच एक आदिवासी को गोली भी लग जाती है और वो मर जाता है। प्रकृति के लिए इनके जितना जान देने वाला एवं इतना लगाव रखने वाला शायद ही कोई होगा। ऐसी कठिन परिस्थितिओं में आदिवासिओं को जोड़कर रखने वाला सेतु है इनकी संस्कृति तथा सामूहिकता। कोई भी काम या फैसला करेंगे तो सामूहिकता के साथ करेंगे। "सब औरतें, मर्द, छोटे–बड़े लड़का–लड़की खेत में काम करते थे। खेत में काम करते सामूहिक गायन होता था। खेत से जो भी फसल आती उसे नाचते गाते गाँव में लाया जाता। गाँव के बीच बड़ा 'बखार' होता था। बखार 'गोदाम' या 'खलिहान' को कहते है। उसमें सबकी फसल भरी जाती है। जिस परिवार को जितना अनाज लगता वे बखार से निकाल लेते थे। कोई किसी से कुछ नहीं पूछता था।"[7]

इनके शादी समारोह भी बड़े रोचक ढंग के होते है। लड़कों को सगाई के समय अपनी मर्दानगी साबित करके दिखानी होती है। "किसी खम्बे पर चढ़ना, पत्थर को उठाना तथा शिकार करके दिखाना आदि शूरता के कार्य करने पर सगाई की जाती थी।"[8]

इनके समाज में अनैतिक सम्बन्धों को स्थान नहीं दिया जाता है। अगर किसी का अनैतिक सम्बन्ध होता है तो उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है। गाँव की लड़की मैना को शहर के

एक लड़के किशोर से प्रेम हो जाता है जो बाद में उसको धोखा दे देता है। समाज मैना को बहिष्कृत कर देता है। इनकी 'अदालत' अपना समाज होता है। जिसमें मुखिया, नायक आदि पद होते है। शायद यही कारण है कि ये लोग शहर के लोगों को पसंद नहीं करते क्योंकि शहरी लोग ऐसे ही प्रेम दिखाकर इन लोगों को लुटते है। गाँव वालों के पास दो उदाहरण थे पहला साहूकर प्यारेलाल का, दूसरा किशोर का। पर जहाँ एक तरफ़ ये दोनों पात्र है वहीं उपन्यास में एक ऐसा पात्र भी है जो मुंबई में तहसीलदार है, उनका नाम मामलेदार साहब है। वह एक गाँव वासी राम्या के बेटे भीम्या को गोद ले लेते है और उसको एम. ए. एल. एल. बी. की पढ़ाई बिना किसी शर्त के करवाते है और वापिस गाँव छोड़ जाते है ताकि वो अपने गाँव वालों को भी शिक्षित और जागृत कर सके। गाँव वाले बहुत ही आदर के साथ भीम्या का स्वागत करते है। उनको भीम्या से बहुत आस थी क्योंकि ये लोग सिर्फ अपने जंगल के कानून जानते थे। उन्हें न अपने राज्य का पता न अपने देश का पता था। बच्चे बचपन से ही शिकार करने जाते थे।

"उन्होंने कभी पाटी पर अ. ब. क. द . नहीं लिखा था।"9

भीम्या गाँव वालों की ये हालत देखकर बहुत निराश होता है और गाँव में रात की पाठशाला शुरू करता है और गाँव वालों को रात को पढ़ाना शुरू कर देता है। "अपने गाँव में शिक्षा की ज्योति हम जलायेंगे। मैं आप लोगों को रात की पाठशाला पढ़ाऊँगा। जंगल में रहने की आदत ने तुम्हें वर्षों से शिक्षण से वंचित रखा है। मुझे मामलेदार साहब अगर मुंबई न ले गए होते तो मैं आप जैसा ही रहता। मैं आज शहर से शिक्षा लेकर आया हूँ इसलिए इस देश के लोकतंत्र को जनता हूँ।"[10] भीम्या की पत्नी भी इस काम में उसका साथ देती है।

"मैं पढ़ी–लिखी नहीं हूँ पर मेरे पति ने मुझे अनपढ़ नहीं समझा इस बात की मुझे खुशी है। मैं भी रात की पाठशाला में पढ़ने जाऊँगी, आप लोग भी पढ़ने आना।"[11]

भीम्या प्यारेलाल के साथ गाँव के सरपंच के चुनाव में खड़ा होता है और गाँव वालों के सहयोग से जीत भी जाता है। इसके बाद प्यारे लाल मन ही मन में खार खाने लग जाता है। बदला लेने के लिए एक दिन अपने गुंडों से मिलकर धोखे से सदू चाचा की लड़की पारु के साथ बलात्कार कर देता है। पारु ये सब सहन नहीं कर पाती और फांसी लगाकर आत्महत्या कर लेती है। भीम्या ये मामला अदालत में लेकर जाता है और केस खुद लड़ता है। भीम्या अदालत में कई सवाल उठाता हैः– "हमारे देश में स्त्रियों को मान–सम्मान दिया जाता है और उसी देश में उसे बेइज्जत करके बाज़ार में घुमाया जाता है।"

"इन काम करने वाले मजदूरों की ज़मीन एक कोरे कागज़ पर उनका अंगूठा लगवाकर उनसे छीन ली जाती है। यह गुनाह नहीं है?"

"शराब पिलाकर, मुर्गी खिलाकर चुनाव में सत्ता हासिल करना गुनाह नहीं क्या?"

"कानून में ऐसा कुछ लिखा हुआ है क्या– कि दिन–रात मजदूरी करे और सही–सही मजूरी भी न मिले?"[12]

ये सारे सवाल पात्र भीम्या के ही नहीं बल्कि पर ये तमाम सवाल आदिवासियों के है जो इस देश की सरकार तथा शोषण करने वाले साहूकारों, ठेकेदारों के लिए है। लेखक ने भीम्या के माध्यम से इन सब समस्याओं को सवालों के माध्यम से पेश किया है।

बाद में फैसला भीम्या के हक़ में आता है और प्यारेलाल और उसके साथियों को अदालत सजा सुनाती है। इसके आलावा उपन्यास में नक्सलवादी और विस्थापन की समस्या दिखाई देती है। "नक्सवादी बंदूकें लेकर जंगल में आये। आदिवासियों को उनका दर्शन बताने लगे। पुलिस और नक्सलवादियों में आदिवासी फंस गये। आदिवासी की कौन सुनने वाला है! आदिवासियों को कुछ समझ नहीं आ रहा था।"[13]

भीम्या अदालत में गाँव को न उजड़ने तथा वहाँ बाँध न बनाने के लिए केस लड़ता है क्योंकि इसके कारण उनको विस्थापित होना पड़ता। "भीम्या अदालत में अनेक सवाल प्रस्तुत करता है। लेकिन न्यायालय भीम्या के सवालों का जवाब दिए बगैर बाँध निर्माण का निर्णय दे देता है। भीम्या थक हारकर घर वापिस चला जाता है।"[14]

विस्थापन के बाद इन लोगों को रहने के लिए नई जगह दी जाती है। उस जगह का नाम ये लोग 'नया डोंगर' कहते है। वहाँ इनको संतुलित भोजन नहीं मिलता। बंजर ज़मीन दी जाती है। "इस नए डोंगर गाँव में भी कुपोषण शुरू हुआ था। छोटे–छोटे बच्चे मरने लगे थे। बंजर ज़मीन में गड्ढा भी जल्दी नहीं हो रहा था।"[15] भीम्या की पत्नी भी बच्चे को जन्म देने के थोड़े दिन बाद कुपोषण के कारण मर जाती है और भीम्या इस जंग में गाँव वालों के साथ भी अकेला रह जाता है।

आदिवासी अब विकास के लिए आक्रोश करने लगे थे। भीम्या के नेतृत्व में सभी गाँव वाले इकट्ठे होकर दिल्ली संसद के बाहर जाकर धरना करने का निर्णय लेते है। "भीम्या ने नियमानुसार संसद पर मोर्चा लाने का निवेदन दिया था। आदिवासियों ने मोर्चे के बड़े–बड़े बैनर बना लिए। मोर्चे के फलक, पोस्टर आदि तैयार कर लिए थे। 'हमारा गाँव हमारा राज, हमारी ज़मीन वापिस दो', 'जंगल की सम्पत्ति का हिस्सा दो', 'नहीं मरेगा नहीं मरेगा– आदिवासी का बच्चा कुपोषण से नहीं मरेगा', 'झूठी आज़ादी नहीं चाहिए', 'हमारे हाथ को काम दो'।"[16]

भीम्या और उसके गाँव वालों के इस मोर्चे को सफलता प्राप्त होती है और उपन्यास के अंत में सरकारी अधिकारी गाँव जा जायजा लेने अगले ही दिन आ जाते है। "डोंगर गाँव की परिस्थितियों की जाँच–पड़ताल करने हेतु राजधानी से सरकारी अफसर जीप में बैठकर धुल उड़ाते हुए आने लगे।"[17]

ये उपन्यास आदिवासी संस्कृति और संघर्ष को व्यापक फलक पर प्रस्तुत करता है। भीम्या जैसे नायक जहाँ आदिवासियों समाज को पढ़ने की सीख देते है वहीं रमी जो भीम्या की पत्नी है वो औरतों को आगे आने, पढ़ने और समाज को जागृत करने का काम करती है क्योंकि आदिवासी–दलित समाज का उत्थान सिर्फ और सिर्फ शिक्षा से ही हो सकता है।

**सन्दर्भ सूची–**


1. टेंटे, वंदना, आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016, पृ० 11
2. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी और हिंदी उपन्यास, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ०24
3. आक्रोश, पोतन्ना, तोंडाकुर लक्ष्मण(अनु.), अलख प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2013, पृ० 13
4. यथावत, पृ० 14
5. यथावत, पृ० 14
6. यथावत, पृ० 15
7. यथावत, पृ० 17
8. यथावत, पृ० 17
9. यथावत, पृ० 42
10. यथावत पृ० 42
11. यथावत पृ० 48
12. यथावत पृ० 49
13. यथावत पृ० 57
14. यथावत पृ० 71
15. यथावत पृ० 72
16. यथावत पृ० 74
17. यथावत पृ० 83
18. यथावत पृ० 87

# मातृभाषा विषयक गांधीवादी विचारों का विश्लेषण

डॉ भवनीत भट्टी*

## भाषा–एक सामाजिक संस्था

भाषा को प्रतीकों की एक प्रणाली के रूप मे समझा गया है जो किसी के विचारों और अभिव्यक्तियों को संप्रेषित करने में मदद करती है, लेकिन अगर एक गहरे स्तर पर देखा जाये तो भाषा मात्र प्रतीकों के प्रणाली से कही ज़्यादा है। यह एक ऐसी संस्था है जो हमारी संस्कृति और समाज को ढालने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रत्येक युग में, भाषा का समाज को आकार देने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भाषा ने शिक्षा के माध्यम के रूप में भी सामाजिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विशेष रूप से ब्रिटिश काल के दौरान, शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी भाषा के उपयोग पर कई विचारकों ने कड़ा विरोध किया था जो मानते थे कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा आवश्यक है। आज जब भारत अपनी राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मसौदा तैयार कर रहा है, तो शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा की प्रासंगिकता पर महान विद्वानों के विचारों को फिर से समझना महत्वपूर्ण हो जाता है। वर्तमान शोध पत्र शिक्षा के माध्यम और मातृभाषा पर महात्मा गांधी के विचारों का विश्लेषण करता है।

भाषा और शिक्षा पर गांधीवादी विचारों का विश्लेषण करने से पहले, भाषा को एक गहरे स्तर पर समझने की आवश्यकता है। ड्वाइट व्हिटनी के अनुसार ''भाषा मानव विचार की अभिव्यक्ति का एक साधन है।''[1] बलोच और ट्रगर भाषा को "सामाजिक समूह के माध्यम से मुखर प्रतीकों की एक प्रणाली" के रूप में परिभाषित करते हैं।"[2] दोनों परिभाषाएं रेखांकित करती हैं कि भाषा प्रतीकों की एक प्रणाली है, लेकिन वे विचारों की अभिव्यक्ति में भाषा के उपयोग पर भी ध्यान केंद्रित करती हैं। भाषा को सामाजिक समूहों में सहयोग प्राप्त करने के एक साधन के रूप मे भी देखा जा सकता है। विभिन्न सामाजिक समूह अलग–अलग भाषाएं बोलते हैं। यह संस्कृति का एक अनिवार्य पहलू बन जाता है और अक्सर भाषा सीखने में संस्कृति की समझ और संस्कृति का अनुभव भाषा सीखने के साथ सार्थक हो जाता है। जबकि व्याकरण उचित रूप से किसी भाषा का उपयोग करने का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है, यह भी उल्लेख करना उचित है कि भाषा के उपयोग के लिए अर्थ की अवधारणा अत्यंत आवश्यक है। संस्कृति और भाषा के बीच गहरा संबंध है। सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भाषा को अर्थ देती है जो अद्वितीय हैं। तकनीकी दृष्टिकोण से भाषा का अर्थ वर्णमाला, लिपि या व्याकरण से हो सकता है लेकिन समग्र अर्थों में, भाषा, संस्कृति का प्रतिबिंब है। रॉसी लैंडी (1973) के अनुसार, सभी बच्चे अपने समाजों से अपनी भाषा सीखते हैं, और भाषा सीखने की प्रक्रिया के दौरान अपनी संस्कृति भी सीखते हैं और अपनी संज्ञानात्मक क्षमताओं का विकास करते हैं। इस प्रकार, यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि एक शिक्षा

* सहायक प्रोफेसर, जनसंचार अध्ययन स्कूल, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

प्रणाली में बच्चों को उनकी मातृभाषा में पढ़ाया जाये। विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर, जहाँ बच्चों को बुनियादी अवधारणाओं से अवगत कराने की आवश्यकता होती है, यह महत्वपूर्ण है कि वे निर्देश के माध्यम से सहज हों, विदेशी भाषा को समझने पर जोर देने के बजाय वे अवधारणाओं पर ध्यान केंद्रित करें। यह तभी किया जा सकता है जब मातृभाषा का उपयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में किया जाए। भारत जैसे देश के लिए यह सब अधिक आवश्यक हो जाता है क्योंकि देश में कई क्षेत्रीय भाषाएं और बोलियाँ हैं।

**शिक्षा में भाषा के महत्व पर गांधीवादी विचार**

दुनिया की सबसे बड़ी युवा आबादी के साथ, भारत, दुनिया के सबसे शक्तिशाली देशों में से एक के रूप में उभर रहा है। इस युवा जनसंख्या की विविधता को ध्यान में रखते हुए यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि नई शिक्षा नीति, शिक्षण के माध्यम पर खास ध्यान दे। शिक्षा तभी सफल हो सकती है जब संचार प्रभावी हो और शिक्षा का माध्यम इस प्रभावशीलता को निर्धारित करने में सबसे महत्वपूर्ण कारक है। गांधी, शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग के सबसे बड़े समर्थकों में से एक थे। उन्होंने प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में मूल भाषा का उपयोग करने के पक्ष में जमकर बात की। गांधी ने यह भी कहा कि वे पश्चिमी ज्ञान के खिलाफ नहीं हैं, लेकिन अपने देश के साथ एक संबंध विकसित करने में सक्षम होने के लिए किसी की मूल संस्कृति, विचारों और भाषा को बनाए रखना महत्वपूर्ण है और इसलिए पश्चिमी शिक्षा मूल मूल्यों और भाषा को खोने की कीमत पर नहीं होनी चाहिए आज जब दुनिया महात्मा गांधी की 150 वीं जयंती मना रही है, तो यह शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा के महत्व पर उनके विचारों को पुनर्जीवित करने का एक उपयुक्त क्षण है। सदियों से दुनिया भर में कई राजनीतिक नेताओं, विचारकों, शिक्षाविदों ने भाषा, प्रभावी संचार और विचारों को आकार देने के बीच निर्विवाद सहसंबंध स्थापित किया है। एक व्यक्ति जो न केवल एक राजनीतिक नेता के रूप में, बल्कि एक विचारक, दार्शनिक, संत और मानवता के सामूहिक इतिहास में पूजनीय है वह महात्मा गांधी हैं। उनके संदेशों ने न केवल भौगोलिक सीमाओं, बल्कि उम्र, लिंग, सांस्कृतिक विविधता और विश्वास प्रणाली को भी पार किया। इस प्रकार, निर्देश के माध्यम के रूप में भाषा की उनकी अवधारणा प्रवचन के लिए प्रासंगिक हो जाती है।

**बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन पर महात्मा गांधी के भाषण का विश्लेषण**

महात्मा गांधी ने 1916 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन में शिक्षा नीति के मूल के रूप में 'शिक्षा के माध्यम' पर विशेष जोर दिया। भाषा के परिप्रेक्ष्य से भाषण के प्रवचन विश्लेषण करने से पहले, उस समय कि पृष्ठभूमि और सामाजिक एवं राजनीतिक कारकों को समझना आवश्यक है। पंडित मदन मोहन मालवीय ने महात्मा गांधी को बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर बोलने के लिए आमंत्रित किया था। वायसराय, लॉर्ड हार्डिंग, विशेष रूप से विश्वविद्यालय की आधारशिला रखने के लिए आए थे। पूरे भारत के प्रतिष्ठित व्यक्ति इस समारोह में भाग लेने आए थे। 4 फरवरी, 1916 को, दर्शकों को संबोधित करने के लिए गांधी की बारी थी, जिसमें ज्यादातर प्रभावशाली युवा शामिल थे। भाषण विश्लेषण की विधि गांधी के भाषण

के प्रासंगिक हिस्सों का विश्लेषण करने में मदद करती है जो शिक्षा में भाषा के महत्व पर जोर देते हैं। गांधी ने अपना भाषण देते समय पहला प्रमुख बिंदु यह बताया कि अपनी मातृभाषा पर गर्व करना आवश्यक है। भाषण के इस अंश में उसी पर जोर दिया गया है। महात्मा गाँधी अपने भाषण कि शुरुआत में ही अंग्रेजी मे भाषण देने की मज़बूरी पर नाराज़गी व्यक्त करते हैं। गांधी कहते हैं,

"मैं यह कहना चाहता था कि यह हमारे लिए गहरा अपमान और शर्म की बात है कि मैं इस शाम को इस महान कॉलेज की छाया में, इस पवित्र शहर में, अपने देशवासियों को एक ऐसी भाषा में संबोधित करने के लिए मजबूर हूं जो मेरे लिए विदेशी है। हमारी भाषाएं स्वयं का प्रतिबिंब हैं, और यदि आप मुझसे कहते हैं कि हमारी भाषाएं सबसे अच्छी सोच को व्यक्त करने के लिए बहुत खराब हैं, तो कहिए कि जितनी जल्दी हम मिट जाते हैं, उतना ही हमारे लिए बेहतर होगा।"[3]

उपर्युक्त अंश में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गांधी का मानना था कि अपनी मातृभाषा पर गर्व करना महत्वपूर्ण है। गांधी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि भाषाएं स्वयं का प्रतिबिंब हैं। वह इस तथ्य को उजागर करने के लिए एक बिंदु बताते है कि हमारे विचार और अभिव्यक्ति सबसे अच्छी तरह से व्यक्त किए जाते हैं जब हम अपनी मातृभाषा का उपयोग करते हैं। वह भाषा को अस्तित्व के साथ जोड़ते हैं और कहते है कि यदि हम अपनी मातृभाषा पर गर्व नहीं कर सकते हैं, तो शायद हमारे अस्तित्व को मिटा देने की आवश्यकता है।

**एक निर्देश के माध्यम के रूप में विदेशी भाषा का उपयोग करने के नुकसान**

जैसा कि गांधी ने निर्देश के माध्यम के रूप में वर्नाक्यूलर का उपयोग करने की आवश्यकता पर जोर दिया है, वे आगे बताते हैं कि यह महत्वपूर्ण क्यों है और शिक्षा के माध्यम के रूप में विदेशी भाषा का उपयोग करने के संभावित नुकसान क्या थे। ब्रिटिश शासित भारत में, अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा था और गांधी का मानना था कि विदेशी भाषा में सीखने के लिए भारतीय छात्रों के लिए महत्वपूर्ण वर्षों का नुकसान उठाना पड़ता है क्योंकि विचार और अभिव्यक्ति की भाषा के बीच एक अंतर था। अगले अंश वही बताते हैं

"भारतीय युवा, क्योंकि वह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अपने ज्ञान तक पहुँचता है, जीवन के कम से कम छह कीमती साल खो देता है । हमारे स्कूलों और कॉलेजों द्वारा निकले छात्रों की संख्या से गुणा करें, और अपने लिए यह पता करें कि राष्ट्र को कितने हज़ार साल का नुकसान हुआ है"[4]

गांधी ने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय युवाओं के लिए महत्वपूर्ण वर्ष खो गए क्योंकि पहले किसी विदेशी भाषा को समझने और फिर उस भाषा में ज्ञान प्राप्त करने में अधिक समय लगता था। यंग इंडिया में प्रकाशित एक पाठ में, गांधी बताते हैं कि विदेशी माध्यम का उपयोग करने का सबसे बड़ा नुकसान यह है कि यह छात्रों को 'क्रैमर' और 'इमीटेटर' बनाता है। गांधी इस कमी को सही नहीं बताते हैं। यह विचार वर्तमान युग में भी विशिष्ट प्रासंगिकता रखता है क्योंकि शिक्षा प्रणाली को 'क्रैमर' के बजाय विचारक और इनोवेटर बनाने की आवश्यकता है।

नवाचार केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब छात्रों को विदेशी माध्यम में शिक्षा प्राप्त करने का बोझ न हो।

"विदेशी माध्यम ब्रेन फॉग का कारण बना, हमारे बच्चों की नसों पर एक अनुचित दबाव डाला, उन्हें क्रैमर और इमीटेटर बना दिया, उन्हें मूल काम और विचार के लिए अनफिट कर दिया।"[5]

यंग इंडिया, 1 सितंबर 1921

**संदेश प्रसार में भाषा का महत्व**

भाषा न केवल शिक्षा के माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण है, बल्कि संदेश को रिकॉर्ड करने और प्रसारित करने का भी एक माध्यम है। विदेशी भाषा में शोध और अन्य लेखन की सीमित पहुंच है।

"प्रोफेसर बोस और प्रोफेसर रे के शानदार शोधों को देखें। क्या यह शर्म की बात नहीं है कि उनके शोध आम जनता की संपत्ति नहीं हैं?"[6]

जैसा कि गांधी ने अनुसंधान लेखन में शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग के बारे में बात की, उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अनुसंधान से संबंधित साहित्य को रिकॉर्ड करने के लिए विदेशी भाषा का उपयोग, उस साहित्य को केवल कुछ मुट्ठी भर दर्शकों तक सीमित कर देता है, जो विदेशी भाषा को समझने में सक्षम थे। उन्होंने यह भी कहा कि यह शर्मनाक है कि शानदार शोध जनता की संपत्ति नहीं हो पाती क्योंकि वह शोध अंग्रेजी भाषा मे की गई है और आम जनता उस विदेशी भाषा को समझ नहीं पाती। गांधी का हस्तक्षेप आज भी प्रासंगिकता रखता है। किसी भी शोध का वास्तविक लाभ आम जनता द्वारा अपनाई जाने वाली क्षमता में निहित है। इसे प्राप्त करने में सक्षम होने के लिए, वैज्ञानिक लेखन के दस्तावेजीकरण के लिए मातृभाषा का उपयोग करना और विकसित करना महत्वपूर्ण है।

गांधी अपने लेखन में यह भी बताते हैं कि मातृभाषा में वैज्ञानिक शब्दों को विकसित करने की आवश्यकता है ताकि भाषा की सीमा की कीमत पर शोध योग्यता और अभिव्यक्ति खो न जाए। जितना अधिक हम वैज्ञानिक लेखन को विकसित करने के लिए मातृभाषा का उपयोग करेंगे, उतना ही अधिक हम युवा छात्रों को एक शोध योग्यता विकसित करने के लिए प्रोत्साहित कर पाएंगे। इससे न केवल अनुसंधान की पहुंच बढ़ेगी बल्कि नवीन और वैज्ञानिक सोच की नींव भी पड़ेगी। इसलिए, अनुसंधान में मातृभाषा का उपयोग शिक्षा प्रणाली का एक अनिवार्य हिस्सा बन जाता है।

**संचार को प्रभावी बनाने में भाषा का महत्व**

जैसा कि बीएचयू में गांधी के भाषण के विश्लेषण से स्पष्ट है, उनके लिए संदेश के प्रभावी प्रसारण में भाषा का अत्यधिक महत्व था। संचार के दृष्टिकोण से इसका विश्लेषण करते हुए, यह कहा जा सकता है कि प्रभावी संचार प्रभावी शिक्षा प्रणाली की नींव है क्योंकि यदि संचार दोषपूर्ण है, तो संदेश प्रभावी ढंग से प्रसारित नहीं किया जा सकता है। संदेश को संप्रेषित करने में प्रयुक्त माध्यम या भाषा का चुनाव यहां महत्वपूर्ण हो जाता है। शिक्षा के माध्यम के रूप में

विदेशी भाषा का चयन संचार में विफलता का एक कारण है और यह छात्रों द्वारा पढ़ाई में रुचि खोने के पीछे प्रमुख कारण बन जाता है। प्रभावी संचार में भाषा के महत्व को समझने से पहले, प्रभावी संचार की अवधारणा को समझना महत्वपूर्ण है।

प्रभावी संचार तब होता है जब कोई श्रोता के लिए एक इच्छित अर्थ को संप्रेषित करने में सक्षम होता है। 'इच्छित अर्थ' का तत्व यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि, एक ही शब्द से कई अर्थ निकाले जा सकते हैं या व्याख्या की जा सकती है। संस्कृति से प्राप्त सामाजिक पृष्ठभूमि, विश्वास और मूल्य प्रणालियाँ अर्थों का आधार बन जाती हैं। उदाहरण के लिए रंग सफेद का अलग–अलग संस्कृतियों में अलग–अलग अर्थ हो सकता है, जबकि भारतीय संस्कृति में यह शोक के साथ जुड़ा हुआ है, पश्चिमी संस्कृति में यह शादियों और उत्सव से जुड़ा है। इस प्रकार, 'अर्थ' की अवधारणा संस्कृति के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है और दोनों के बीच सामान्य लिंक भाषा बन जाती है। यह प्राथमिक कारण है जिसकी वजह से मातृभाषा में विदेशी भाषा की तुलना में अभिप्राय अर्थ को व्यक्त करने की अधिक संभावना है।

प्रभावी संचार कई कारकों पर निर्भर है। सामग्री का विषय प्रभावी संचार में पहला और सबसे महत्वपूर्ण कारक है, स्पष्टता जिसके साथ इस सामग्री को व्यक्त किया जाता है वह अगला कारक बन जाता है। चैनल की पसंद, वह संदर्भ जिसमें संदेश दिया जाता है, दर्शकों की स्थिरता और क्षमता अन्य कारक हैं जो संचार की प्रभावशीलता को प्रभावित करते हैं। भाषा एक आवश्यक इकाई है जो सामग्री से लेकर दर्शकों की क्षमता तक सभी कारकों को प्रभावित करती है। वास्तव में, भाषा अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि सामग्री चाहे कितनी भी समृद्ध क्यों न हो, अगर यह दर्शकों को समझ में आने वाली भाषा में व्यक्त नहीं की जाती तो यह प्रभावी नहीं होगी।

शिक्षा के लिए प्रभावी संचार की अवधारणा को लागू करते हुए, शिक्षक को प्रेषक के रूप में देखा जा सकता है और छात्रों को संचार के श्रोता के रूप में देखा जा सकता है। शिक्षक और छात्र के बीच प्रभावी संचार के लिए, संचार में उपयोग किए जाने वाले शब्दों के 'अर्थ' में समानता होनी चाहिए। सामाजिक सांस्कृतिक अनुभवों में सामान्यता उन कारकों में से एक है जो रिसीवर को इच्छित अर्थ बताने की सुविधा प्रदान करती है। अर्थों में यह समानता समान सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आती है और इसे मातृभाषा में सर्वश्रेष्ठ रूप से व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, शिक्षक और छात्र के बीच एक वाचाल भाषा बहुत आवश्यक हो जाती है, क्योंकि यह प्रेषक और रिसीवर के बीच समानता की एक कड़ी बन जाती है। एक स्थानीय भाषा या मातृभाषा अक्सर सामाजिक सांस्कृतिक लोकाचार का प्रतीक बन जाती है। एक विदेशी भाषा अक्सर उन सामाजिक सांस्कृतिक संकेतों को व्यक्त करने में विफल रहती है जो मातृभाषा का एक मानवीय हिस्सा हैं। इस प्रकार, प्रभावी शिक्षा प्रणाली में शिक्षा का माध्यम तय करते समय भाषा का चुनाव एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता है।

**भाषा और सामाजिक विभाजन**

भाषा का प्रभाव केवल शिक्षा प्रणाली पर ही नहीं पड़ता बल्कि यह सामाजिक ताने–बाने को भी प्रभावित करती है। जहाँ भाषा समाज को एकीकृत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा

सकती है, वहीँ यह सामाजिक विभाजन बनाने में भी भूमिका निभा सकती है। गांधी के अनुसार, जब कोई विदेशी भाषा का आँख बंद करके अनुसरण करता है और अपनी मातृभाषा को अनदेखा करता है, तो यह सामाजिक ताने–बाने को प्रभावित करता है और समाज में एक विभाजन पैदा करता है।

"हमारी अपनी मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी भाषा के हमारे प्यार ने शिक्षित और राजनीतिक रूप से दिमाग वाले वर्गों और जनता के बीच गहरी खाई पैदा कर दी है। भारत की भाषाओं को दुर्बलता का सामना करना पड़ा है। जब हम विचार को मातृभाषा में व्यक्त करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं तो हम भड़क जाते हैं। वैज्ञानिक शब्दों के लिए कोई समकक्ष नहीं हैं। परिणाम विनाशकारी रहा है। जन आधुनिक मन से कटे हुए हैं।"[7]

गांधी ने इस तथ्य पर जोर दिया कि स्थानीय भाषाओं को अनदेखा करने से सामाजिक विभाजन हुआ। जहां एक तरफ शिक्षित वर्ग थे , वहीं दूसरी ओर ऐसे लोग भी थे जो आधुनिक ज्ञान से जुड़ने में असमर्थ हैं। गांधी ने आगे बताया कि इस भाषा के विभाजन के कारण, जनता 'स्वराज' के निर्माण में कोई योगदान नहीं दे पा रही थी। गांधी के स्वराज के विचार ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति ने स्वतंत्र आंदोलन में अपना योगदान दिया। गांधी ने कहा कि जब तक जनता स्वराज 'के निर्माण में हर कदम को नहीं समझती है, तब तक उनका योगदान असंभव था और यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक चरण को उनकी भाषा में समझाया जाए। इस प्रकार, गांधी ने महसूस किया कि स्थानीय भाषाओं को अनदेखा करने से सामाजिक विभाजन पैदा हुआ।

**एक सामान्य लिपि के लिए भाषा और आवश्यकता**

क्षेत्रीय भाषाओं के प्रचार के अलावा, गांधी ने एक राष्ट्रीय भाषा और एक सामान्य लिपि की आवश्यकता की भी वकालत की। एक राष्ट्र के सपने को साकार करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, गांधी ने महसूस किया कि एक सामान्य संस्कृति के साथ–साथ एक सामान्य भाषा और सामान्य लिपि की भी आवश्यकता थी। गांधी का विचार था कि एक सामान्य संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए पूरे देश के लिए एक सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत लिपि होने की आवश्यकता है, और उन्होंने देवनागरी 'को सबसे उपयुक्त लिपि पाया, जिसे भारत के लिए सामान्य लिपि के रूप में अपनाया जा सकता है। गांधी ने महसूस किया कि कई तरह की लिपियों ने कई तरीकों से एक बाधा के रूप में काम किया। इसने ज्ञान के अधिग्रहण में एक बाधा के रूप में काम किया और इस तरह एक सामान्य भाषा और एक सामान्य लिपि की आवश्यकता थी।

"वर्तमान समय में हमारे पास बंगाल में बंगाली लिपि, पंजाब में गुरुमुखी, सिंध में सिंधी, उत्कल में उड़िया, गुजरात में गुजराती, तमिलनाडु में तेलुगु, तेलुगु में तमिल, केरल में मलयालम, कर्नाटक में कन्नड़ यदि इन सभी लिपियों को सभी व्यावहारिक और राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए देवनागरी द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है, तो इसका मतलब होगा एक जबरदस्त कदम। यह हिंदू भारत को मजबूत बनाने और विभिन्न प्रांतों को निकट संपर्क में लाने में मदद करेगा।"[8]

गांधी के लिए, देवनागरी इस कारण से सबसे उपयुक्त सामान्य लिपि थी कि यह भारत के सबसे बड़े भाग के लिए जानी जाने वाली लिपि है। गांधी ने यह भी कहा कि जबकि उर्दू और

रोमन लिपि को भी प्रतिद्वंद्वी के रूप में दावा किया जा रहा था, लेकिन उनमें से किसी में भी देवनागरी की पूर्णता और ध्वन्यात्मक क्षमता नहीं थी।

गांधी ने एक राष्ट्रीय भाषा के महत्वपूर्ण मुद्दे को भी संबोधित किया और विभिन्न गुणों को सूचीबद्ध किया जो किसी भी भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अर्हता प्राप्त करने के लिए आवश्यक थे। एक राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी के विवाद पर विचार करते हुए, गांधी ने निष्कर्ष निकाला कि यह उन मानदंडों को पूरा नहीं करता है जो एक राष्ट्रीय भाषा होने के लिए आवश्यक थे। गांधी के अनुसार, राष्ट्रीय भाषा होने के लिए आवश्यक कारक यह थे कि सीखना आसान था, भारत के अधिकांश निवासियों की बोलचाल की भाषा होनी चाहिए, पूरे भारत में सभी धार्मिक, वाणिज्यिक और राजनीतिक गतिविधि उस भाषा में संभव होनी चाहिए। गांधी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का आह्वान किया क्योंकि यह एक भाषा से एक राष्ट्रीय भाषा होने के लिए आवश्यक योग्यता रखती है।

"मेरी राय में, यह सोचना भी असंगत है कि अंग्रेजी हमारी राष्ट्रीय भाषा बन सकती है। एस्पेरांतो का परिचय देने का प्रयास केवल अज्ञानता को धोखा देना है। फिर वह कौन सी भाषा है जो सभी पाँच स्थितियों को संतुष्ट करती है? हम यह मानने के लिए बाध्य होंगे कि हिंदी उन सभी शर्तों को पूरा करती है। मैं उस भाषा को हिंदी कहता हूं, जिसे उत्तर में हिंदू और मुसलमान बोलते हैं और लिखते हैं, या तो देवनागरी और उर्दू वर्ण में।"[9]

## निष्कर्ष

इस प्रकार बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय गांधी द्वारा दिए गए भाषण का गहन विश्लेषण स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि गांधी ने पूरे राष्ट्र के लिए शिक्षा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निर्देश के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग की वकालत की। उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को लिपि के रूप में रखने की वकालत की।

## संदर्भ सूची :–


1. डेविड मैकनील, भाषा और इशारे, भाषा संस्कृति और अनुभूति के खंड 2, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृष्ठ संख्या 47
2. बर्नार्ड बलोच और जॉर्ज एल, ट्रेजर, लिंग्विस्टिक एनालिसिस की रूपरेखा, एडवर्ड ब्रदर्स, 1950
3. दासा, रतन, द ग्लोबल विजन ऑफ महात्मा गांधी, सरूप एंड संस, 2005, पृष्ठ संख्या– 158.
4. मुस्लिम नियम के दौरान और बाद में गोपाल, राम, हिंदू संस्कृति, एमएड प्रकाशन, 1994, पृष्ठ संख्या – 92
5. महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2008, पृष्ठ संख्या –164
6. मुखर्जी रुद्रांशु, आधुनिक भारत के महान भाषण, रैंडम हाउस इंडिया 2011
7. महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारतः वाइब्रेंट और समृद्ध आधुनिक भारत के लिए गांधी के विचार, डायमंड पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, 2017
8. महात्मा गांधी के संग्रहित कार्य, वॉल्यूम 1 से 90. प्रकाशन विभाग, भारत सरकार
9. महात्मा गांधी, भाषण और महात्मा गांधी के लेखन, जी.ए. नैटसन, पीपी 395–99, 1933


Printed at: Panjab University Press, Chandigarh
P.U.P. (486) 100+4P/02-03-2020

तमसो मा ज्योतिर्गमय :
तमसो मा ज्योतिर्गमय :
तमसो मा ज्योतिर्गमय :
तमसो मा ज्योतिर्गमय :
पंजाब विश्वविद्यालय,
तेरी शान-औ-शौकत सदा रहे
मन में तेरा आदर मान और मोहब्बत सदा रहे
पंजाब विश्वविद्यालय,
तेरी शान-औ-शौकत सदा रहे
तू है अपना भविष्य विधाता,
पंख बिना परवाज सिखाता
जीवन पुस्तक रोज पढ़ा कर,
सही गलत की समझ बढ़ाता
जीवन पुस्तक रोज पढ़ा कर,
सही गलत की समझ बढ़ाता
तेरी जय का शंख बजाये,
रोशन तारे बन जाये
चखरी तेरी शौहरत,
तेरी शौहरत सदा सदा रहे
पंजाब विश्वविद्यालय,
तेरी शान-औ-शौकत सदा रहे
तमसो मा ज्योतिर्गमय :

श्री जतिंदर मोदगिल , प्रबंधक, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ द्वारा मुद्रित
एवं
डॉ. गुरमीत सिंह, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ द्वारा प्रकाशित

# महात्मा गांधी को समर्पित अंक

हरेक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा संपूर्ण रूप से आनी चाहिए और भारत के अन्य भारतीय भाषाओं के महान साहित्य को हिन्दी के माध्यम से जानना चाहिए और अपने अनुभव से मैं आपको बता सकता हूँ कि दूसरी भारतीय भाषाओं को सीखना जरा भी मुश्किल काम नहीं हैं।

मोहनदास करमचंद गांधी 1869–1948